आचार्य प्रभाचन्द्र विरचित प्रमेयकमलमार्तण्ड पर आधारित

प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन

लेखक

प्रो० उदयचन्द्र जैन एम० ए०

जैन-बौद्ध-सर्वदर्शनाचार्य

पूर्व अध्यक्ष, दर्शनविभाग

प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक

प्राच्य श्रमण भारती

मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

प्राच्य श्रमण भारती प्रकाशन

द्रव्य प्रदाता—श्रीमान् विनयकुमार अशोककुमार जैन
६-सी/९, कृष्णानगर, दिल्ली

प्रतियाँ-११००

प्रथम संस्करण

वीर निर्वाण संवत् २५२४
सन् १९९८ ईस्वी

मूल्य : पचास रुपये

प्राप्ति स्थान
प्राच्य श्रमण भारती
१२/१, प्रेमपुरी, निकट जैन मन्दिर, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)—२५१००१
फोन—(०१३१) ४३२२२८, ४०८९०१

मुद्रक—वर्द्धमान मुद्रणालय, जवाहरनगर कॉलोनी, वाराणसी-१०

दिगम्बर जैन मुनि शाकाहार प्रवर्तक
उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज

संक्षिप्त-परिचय

अनासक्त अपरिग्रही और सतत ज्ञानाराधक परम पूज्य उपध्यायश्री ज्ञानसागर जी मुनिराज भारत की गरिमामयी श्रमण-संस्कृति, संत-परंपरा और समाज सुधार के जीवन्त प्रतीक हैं । उपाध्यायश्री के सत्प्रयासों से शाकाहार के प्रचार को एक नयी चमक मिली है ।

सन् १९५८ की वैशाख शुक्ला द्वितीया को मुरैना (म० प्र०) में जनमे उमेशकुमार की जीवन यात्रा आत्मबोध के साथ प्रारम्भ होकर सन् १९७६ में क्षुल्लक श्री गुणसागर के रूप में प्रतिफलित हुई । फिर बारह वर्ष पश्चात् ३१ मार्च १९८८ को आचार्यश्री सुमतिसागरजी महाराज से जैन मुनि-दीक्षा प्राप्तकर श्रीज्ञानसागरजी महाराज के नाम से प्रख्यात हुए। समाज कल्याण के लिए उन्होंने सागर (म० प्र०) से बिहार कर मेरठ, दिल्ली, बड़ागाँव, बड़ौत, गाजियाबाद, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, शाहपुर (उ० प्र०) सहित उत्तर भारत के पश्चात् गया, रांची, पेटरवार, पुरुलिया, सराक क्षेत्र तड़ाई तथा तीर्थराज सम्मेदशिखरजी सहित पूर्वी भारत में बिहार, बंगाल और उड़ीसा में प्रवास किया तथा शाकाहार प्रचार-प्रसार के लिए अनेक सार्थक प्रयास किये। बिहार प्रान्त में सन् १९९१ से १९९४ तक लगातार चार वर्षों के प्रवास काल में आपकी प्रेरणा से सराक (सरावगी) जाति के उत्थान के लिए अनेक योजनाएँ बनीं और उनका सफलतापूर्वक क्रियान्वयन भी हुआ तथा बिहार, बंगाल और उड़ीसा के सराकों का सर्वेक्षण भी इसी काल में कराया गया । उपाध्यायश्री ने उत्तर तथा पूर्वी भारत के बाद तिजारा, अलवर, भरतपुर, मथुरा, बड़ौदामेव (राजस्थान) रेवाड़ी, गुडगाँव (हरियाणा) में शाकाहार को एक नयी दिशा प्रदान की।

उपाध्यायश्री की ज्ञानगंगा कभी भी पंथों, जातियों या संप्रदायों की परिधि में सिमटकर नहीं बहती। वह धारा तो बिना किसी भेदभाव के हर जाति, धर्म और आस्था वाले लोगों के बीच करुणाधारा के रूप में प्रवाहित होकर अहिंसा और विश्वशांति के अंकुर उगाती है।

समर्पण

जिनकी सत्प्रेरणा और मंगल आशीर्वाद से इस कृति का निर्माण सम्भव हुआ उन परम पूज्य आध्यात्मिक सन्त, विद्वदनुरागी, सराकोद्धारक, शाकाहारप्रवर्तक, प्रशममूर्ति उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज के कर कमलों में प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन नामक यह कृति लेखक द्वारा श्रद्धा और भक्ति के साथ सविनय समर्पित ।

अमृतफल

प्रस्तुत कृति परम पूज्य दिगम्बर जैन मुनि शाकाहारप्रवर्तक, सराकोद्धारक उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज के मंगल आशीर्वाद का अमृतफल है।
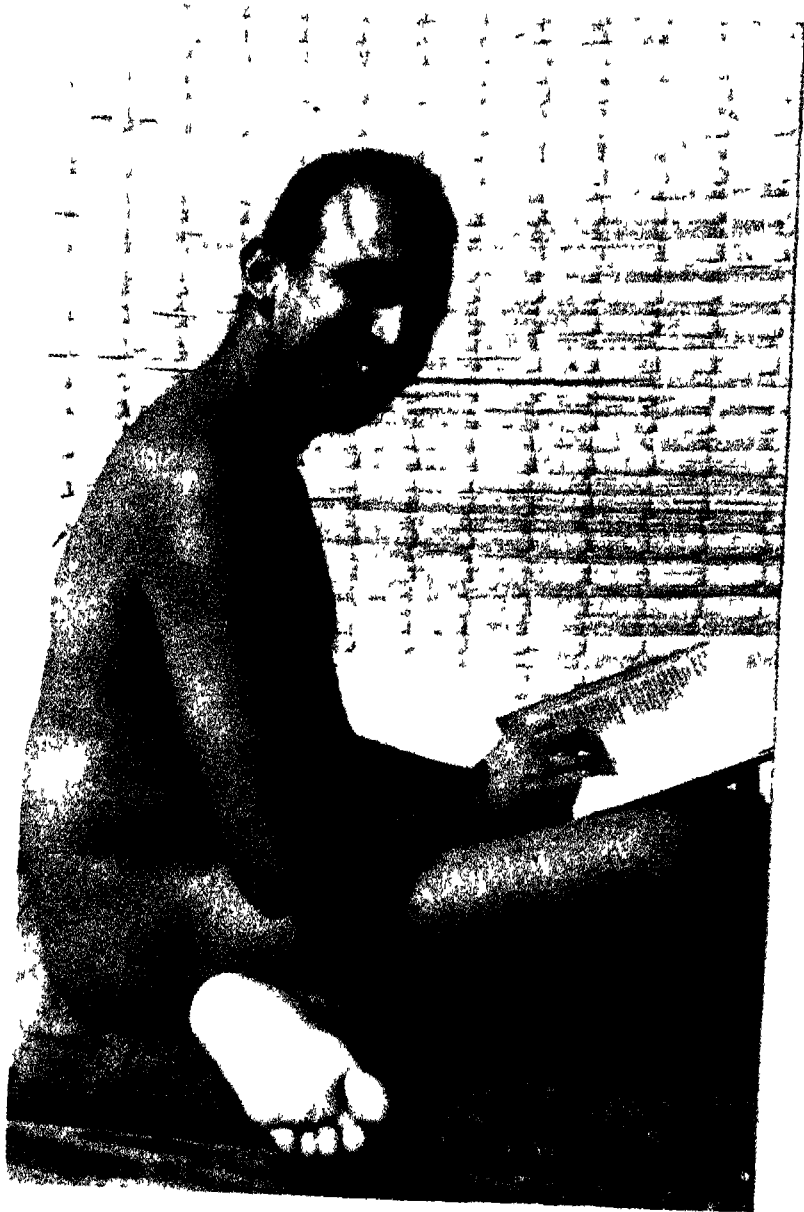
परमपूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराज

अन्तर्ध्वनि

जैनविद्या की विविध विधाओं में जैनन्याय का एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इसकी अप्रतिम चिन्तन प्रणाली और विशाल साहित्य ने सम्पूर्ण भारतीय मनीषा को न केवल प्रभावित किया है, अपितु गौरवान्वित भी किया है। किन्तु भारतीय दर्शनों के इतिहास विषयक ग्रन्थों में जैनदर्शन एवं जैनन्याय को यथार्थरूप से प्रस्तुत नहीं किया गया है, जिससे आज भी इस विषय में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। भारतीय दर्शनों का विभाजन करते समय जैनदर्शन को नास्तिक दर्शन की कोटि में रखा जाता है, जबकि तथ्य यह है कि जैनदर्शन आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि को स्वीकार करता है। अत: यह विशुद्ध रूप से आस्तिक दर्शन है। ऐसी स्थिति में हमारा यह नैतिक दायित्व है कि हम जैनदर्शन एवं जैनन्याय के सन्दर्भ में फैली हुई मिथ्या धारणाओं का निराकरण करें। साथ ही प्राचीन जैनाचार्यों द्वारा सृजित जैनदर्शन एवं न्यायविद्या के विशाल तथा महत्त्वपूर्ण साहित्य को सरल, सुबोध और आधुनिक शैली में प्रस्तुत करें। इससे उन लोगों की इस विद्या के प्रति रुचि जाग्रत होगी, जो इसे कठिन जानकर इसके अध्ययन एवं अध्यापन से दूर रहते हैं।

प्रस्तुत प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन नामक कृति इन महान् उद्देश्यों की पूर्ति में एक सार्थक और सराहनीय कदम है, जिसे साकार किया है जैन-बौद्ध दर्शन के साथ ही विविध भारतीय दर्शनों के अधिकारी विद्वान् प्रो० उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य ने।

जैन न्यायविद्या की एक विशाल परम्परा है, जिसके प्रतिष्ठापकों में आचार्य समन्तभद्र और आचार्य अकलङ्कदेव का नाम अग्रगण्य है। इन्हीं श्रेष्ठ तार्किकों की परम्परा में आचार्य प्रभाचन्द्र का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने आचार्य अकलङ्कदेव कृत लघीयस्त्रय की विस्तृत व्याख्या के रूप में न्यायकुमुदचन्द्र जैसी महनीय टीका और आचार्य माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुखसूत्र नामक लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण सूत्रग्रन्थ पर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण प्रमेयों से भरपूर विस्तृत टीका लिखकर बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित ये दोनों ग्रन्थ टीकाग्रन्थ अवश्य हैं, किन्तु विषय की

विविधता और मौलिक चिन्तन के कारण अपने आप में पूर्ण एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। संस्कृत भाषा में निबद्ध ये दोनों विशाल टीकाग्रन्थ न्यायविषयक होने से अत्यन्त दुरूह हैं, जिससे अनेक विद्वानों के लिए भी इनके हार्द को समझने में कठिनाई होती है। अत: आचार्य प्रभाचन्द्र की न्यायविद्या विषयक कृति प्रमेयकमलमार्तण्ड को सरल और सुबोध शैली में परिशीलन के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए श्री उदयचन्द्र जैन प्रशंसा के पात्र हैं।

ईसा की ग्यारह शताब्दी के विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, किन्तु पूर्वोक्त दोनों न्यायग्रन्थों के कारण ही इनकी विशेष ख्याति है। इन दोनों ग्रन्थों में आचार्य प्रभाचन्द्र ने सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों की प्राय: सभी शाखाओं की प्रमुख मान्यताओं को उनके मूल स्रोतों के आधार पर गहन अध्ययनपूर्वक पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। तदनन्तर प्रबल प्रमाणों के आधार पर पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए जैनदर्शन के पक्ष को अकाट्य युक्तियों और प्रमाणों द्वारा प्रस्तुत किया है। अत: प्रमेयकमलमार्तण्ड के अध्ययन से सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय दर्शनों को समझा जा सकता है। आचार्य प्रभाचन्द्र की न्याय तथा दर्शन विषयक रचनाओं से जैनदर्शन तथा जैनन्याय को जो गौरव प्राप्त हुआ है उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। परीक्षामुखसूत्र पर रचित इस कृति का 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नाम सार्थक है, क्योंकि जिस प्रकार सूर्य कमलों को विकसित करता है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ प्रमेयरूपी कमलों को विकसित (प्रकाशित) करने के लिए मार्तण्ड (सूर्य) के समान है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड की तरह न्यायकुमुदचन्द्र भी जैन न्याय तथा जैनदर्शन विषयक एक महत्त्वपूर्ण कृति है । आचार्य अकलंकदेव ने लघीयस्त्रय नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना ७८ कारिकाओं में की थी और इन कारिकाओं पर विवृति (टीका) भी लिखी थी । इसमें छोटे-छोटे तीन प्रकरणों-प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश का संग्रह है । और न्यायकुमुदचन्द्र एक स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर लघीयस्त्रय और उसकी विवृति का विशद व्याख्यान है । न्यायकुमुदचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड से बड़ा है और डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जी द्वारा सम्पादित होकर माणिकचन्द्र दि० जैन

प्रकाशित हो चुका है। प्रमेयकमलमार्तण्ड का तो बहुत पहले हिन्दी में अनुवाद हो चुका है, किन्तु वर्तमान में न्यायकुमुदचन्द्र का भी हिन्दी में अनुवाद आवश्यक है। यदि प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन की तरह इसका भी परिशीलन लिखा जाय तो भी इस ग्रन्थ के हार्द को समझने में पाठकों को बहुत ही सुविधा होगी ।

प्रसन्नता की बात है कि जैन-बौद्धदर्शन के साथ ही विविध भारतीय दर्शनों के अधिकारी विद्वान् श्री उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य ने परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन को राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखकर एक स्तुत्य कार्य किया है। मैं इनकी योग्यता तथा विद्वत्ता से सुपरिचित हूँ। आशा है विद्वान् लेखक की यह कृति सबके लिए उपयोगी सिद्ध होगी। दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र चौरासी-मथुरा में चातुर्मास के समय मेरे समक्ष कई विद्वानों की उपस्थिति में सात दिन तक प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन की वाचना हुई और सभी विद्वान् लेखक की लेखन शैली तथा विद्वत्ता से बहुत ही प्रभावित हुए। वाचना के मध्य हुए अनेक विचार-विमर्शों को भी विद्वान् लेखक ने इसमें समाहित कर लिया है।

श्री उदयचन्द्र जैन ने इससे पूर्व आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर आचार्य अकलंकदेव की अष्टशती और आचार्य विद्यानन्द की अष्टसहस्री के आलोक में आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका एवं आचार्य समन्तभद्र रचित स्वयम्भूस्तोत्र पर तत्त्वप्रदीपिका नामक व्याख्यायें लिखी हैं, जो इनके दर्शन विषयक गम्भीर ज्ञान को प्रकट करती हैं। ये दोनों ग्रन्थ श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान वाराणसी से प्रकाशित हुए हैं।

अन्त में हम उदयचन्द्र जैन के मांगलिक अभ्युदय की कामना करते हुए उन्हें अपना शुभाशीर्वाद देते हैं कि वे भविष्य में भी इसी प्रकार साहित्य सेवा करते रहें, जिससे समाज को उनके ज्ञान का लाभ मिलता रहे।

दिल्ली — *उपाध्याय ज्ञानसागर*

ऋषभ जयन्ती

२२ मार्च १९९८

प्रकाशकीय

सन् १९९१ में गया (बिहार) में चातुर्मास के समय परम पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज की प्रेरणा से प्राचीन तथा नवीन साहित्य के प्रकाशन के लिए प्राच्य श्रमण भारती की स्थापना हुई थी। तब से लेकर अब तक इसके द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। इसी क्रम में इस वर्ष प्रो० उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य द्वारा लिखित प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन का प्रकाशन किया जा रहा है।

वर्तमान में प्रमेयकमलमार्तण्ड के दो संस्करण उपलब्ध हैं। प्रथम संस्करण श्रीमान् डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित तथा सन् १९४१ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित है। इसमें मूल ग्रन्थ के ६९४ पृष्ठ हैं तथा इसकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना ७५ पृष्ठों में है। और द्वितीय संस्करण विदुषी आर्यिका जिनमती माता जी द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित सन् १९७७ में वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला हस्तिनापुर से तीन भागों में प्रकाशित हुआ है। ये दोनों संस्करण विशालकाय होने के साथ गम्भीर भी हैं।

अत: इस समय हिन्दी में एक ऐसे लघु संस्करण की आवश्यकता थी जो सरल और सुबोध शैली में लिखा गया हो। और प्रो० उदयचन्द्र जी ने प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन लिखकर इस आवश्यकता की पूर्ति की है। प्रमेयकमलमार्तण्ड का यह परिशीलन विद्यार्थियों तथा साधारण पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। विद्वान् भी इससे लाभ उठा सकते हैं। यह पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज की प्रेरणा से लिखा गया है। अत: प्राच्य श्रमण भारती से इसका प्रकाशन करने में हमें प्रसन्नता हो रही है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले दिल्ली निवासी श्रीमान् विनयकुमार अशोककुमार जैन के प्रति हम हृदय से आभार व्यक्त करते हैं। प्राच्य श्रमण भारती के सभी सदस्यों के प्रति भी हम धन्यवाद ज्ञापित करते हैं, जिनका इसके प्रकाशन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहयोग प्राप्त हुआ है।

वर्तमान में साहित्य प्रकाशन के अतिरिक्त प्राच्य श्रमण भारती के माध्यम तथा पूज्य उपाध्यायश्री की प्रेरणा से विद्वत्सम्मान, संगोष्ठी आयोजन आदि महत्त्वपूर्ण कार्य भी हो रहे हैं।

मुजफ्फरनगर — मंत्री

३१ मार्च १९९८ — प्राच्य श्रमण भारती

प्राच्य श्रमण भारती

स्थापित सन् १९९१

सम्प्रेरक-पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज

उद्देश्य

१- साहित्य प्रकाशन — प्राचीन तथा नवीन ग्रन्थों का संकलन, संरक्षण, सम्पादन, लेखन तथा प्रकाशन।

२-विद्वत्सम्मान—जैनधर्म, दर्शन, संस्कृति, समाज एवं साहित्य की सेवा में समर्पित व्यक्तित्व के धनी विद्वानों को सम्मानित करके इस क्षेत्र में और अधिक कार्य करने हेतु उन्हें सहयोग प्रदान करना।

३-संगोष्ठी—शाकाहार के प्रचारके साथ ही चरित्रनिर्माण, नैतिक शिक्षा एवं प्राच्यविद्या के विकास हेतु शिविरों, संगोष्ठियों और कार्यशालाओं का आयोजन।

४- प्राचीन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों का संग्रह तथा संरक्षण ।

५- पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज के मंगलकारी प्रवचनों, उपदेशों तथा चिन्तन का प्रचार-प्रसार ।

प्राक्कथन

अक्टूबर १९९६ के अन्तिम सप्ताह में शाहपुर (मुजफ्फरनगर) में परम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सान्निध्य में, 'जैनन्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान' विषय पर एक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी हुई थी । उक्त अवसर पर यह निश्चय हुआ था कि अब आगामी संगोष्ठी प्रमेयकमलमार्तण्ड पर होगी । इस बात से प्रभावित होकर मेरे मन में प्रमेयकमलमार्तण्ड पर कुछ लिखने का विचार प्रादुर्भाव हुआ और इस कार्य के लिए परम पूज्य उपाध्यायश्री का मंगल आशीर्वाद भी प्राप्त हो गया । तदनुसार मैंने प्रमेयकमलमार्तण्ड पर कुछ लिखने का प्रयास किया ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड जैनन्याय और जैनदर्शन पर विशद विवेचन करने वाला एक बृहत्काय ग्रन्थ है और इसका मन्थन करके उसमें से मैंने जो सारभूत तत्त्व निकाला है वह यहाँ प्रस्तुत है । इसमें प्रमेय-कमलमार्तण्ड में चर्चित समस्त विषयों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है । इसे हिन्दी भाषा का लघु प्रमेयकमलमार्तण्ड कहा जा सकता है ।

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र तिजारा में फरवरी १९९७ में सम्पन्न हुए भगवान् चन्द्रप्रभ जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के पुनीत अवसर पर श्रीमान् पं० अमृतलाल जी शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, श्रीमान् पं० बाबूलालजी फागुल्ल आदि विद्वानों से परामर्श के बाद इस कृति का नाम प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन निश्चित किया गया। मैं इस कार्य में कहाँ तक सफल हुआ हूँ इसका मूल्यांकन तो विज्ञ पाठक ही कर सकते हैं।

प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन के लिखने में परम पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज की प्रेरणा तथा मंगल आशीर्वाद ही प्रमुख कारण है । आपने इस कृति पर अपनी मंगल आर्शीर्वादमयी अन्तर्ध्वनि लिखकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया है । इस सबके लिए मैं किन शब्दों में आपका आभार व्यक्त करूँ ? मैं तो आपके चरणों में सदा ही नतमस्तक रह कर अपने कल्याण की कामना करता हूँ । तथा आपके मंगल आशीर्वाद एवं प्रेरणा से रचित यह कृति आपके कर कमलों में भक्तिभावपूर्वक सादर समर्पित कर मैं हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ ।

यहाँ यह स्मरणीय है कि पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज ने परीक्षामुख, न्यायदीपिका, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि न्यायविद्या के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया है और इसी कारण न्यायविद्या में आपकी गहन अभिरुचि है । ललितपुर में मार्च १९८७ में जैन न्यायविद्यावाचना आपकी प्रेरणा से ही बहुत ही आनन्द एवं उत्साहपूर्वक सम्पन्न हुई थी । इसी प्रकार आपकी ही प्रेरणा से अक्टूबर १९९६ में शाहपुर में 'जैनन्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान' विषय पर राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी उल्लासमय वातावरण में अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई थी । इस प्रकार जैनन्यायविद्या के प्रचार-प्रसार में पूज्य उपाध्यायश्री का सदा ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है ।

यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि श्रुत पञ्चमी के दिन १० जून १९९७ को मेरा यह लेखन कार्य सानन्द सम्पन्न हुआ था । मेरी प्रबल इच्छा थी कि जिन परम श्रद्धेय सन्त की प्रेरणा और आशीर्वाद से मैंने इसका लेखन किया है उनके चरणों में बैठ कर इसका वाचन कर लिया जाय तो अच्छा रहेगा, जिससे मेरे लेखन में किसी प्रकार की त्रुटि की सम्भावना न रह सके । पूज्य उपाध्यायश्री भी मेरी बात से सहमत थे । अत: उन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन के वाचन की स्वीकृति सहर्ष दे दी ।

तदनुसार श्री जम्बूस्वामी दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र चौरासी-मथुरा में परम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सान्निध्य में तथा प्राचार्य डॉ० प्रकाशचन्द जी दिल्ली, डॉ० फूलचन्द्र जी प्रेमी वाराणसी, डॉ० कमलेशकुमार जी वाराणसी और डॉ० सुरेशचन्द्र जी वाराणसी की उपस्थिति में प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन की वाचना दिनांक २२ से २८ अक्टूबर १९९७ तक सानन्द सम्पन्न हुई । वाचना, का कार्यक्रम प्रतिदिन प्रात:काल, दोपहर तथा रात्रि में तीन बार चलता रहा । वाचना में विद्वानों के पारस्परिक विचार-विमर्श के बाद प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन को अन्तिम रूप दिया गया । वाचना के मध्य में दो दिन डॉ० भागचन्द्र जी 'भास्कर' नागपुर भी उपस्थित रहे । इससे उनके सुझावों और परामर्श का भी लाभ वाचना को प्राप्त हो गया ।

यहाँ यह कहने में परम प्रसन्नता हो रही है कि परम पूज्य उपाध्यायश्री पूरे वाचना काल में दत्तचित्त होकर वाचना को सुनते रहे और

आवश्यकतानुसार परामर्श भी देते रहे । परम हर्ष की बात यह है कि वाचना के अन्तिम दिन पूज्य उपाध्यायश्री ने प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन के अन्तिम पृष्ठ का स्वयं वाचन करके उल्लासमय वातावरण में वाचना का सानन्द समापन किया । इस प्रकार वाचना की सफलता का पूर्ण श्रेय परम पूज्य उपाध्यायश्री तथा इसमें भाग लेने वाले विद्वानों को प्राप्त होता है ।

मैंने प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन में जो कुछ लिखा है उसमें कुछ त्रुटियों का होना स्वाभाविक है । क्योंकि 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' । अत: यदि विद्वज्जन मेरी त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करें तो मैं उनका आभारी रहूँगा। विद्वानों से विशेष अनुरोध है कि वे 'परिशिष्ट-१: कुछ विचारणीय बिन्दु' को पढ़ने का कष्ट अवश्य करें तथा उन बिन्दुओं पर अपने अभिमत से मुझे अवगत कराने की कृपा करें जिससे मैं उनके अभिमत से लाभान्वित हो सकूँ ।

यह एक सुखद संयोग है कि गत वर्ष श्रुतपंचमी के दिन इस पुस्तक के लेखन कार्य का समापन हुआ था और इस वर्ष ३० मई १९९८ को श्रुतपंचमी के पुण्य अवसर पर इसका विमोचन होना निश्चित हुआ है ।

श्रीमान् डॉ० कमलेशकुमार जी जैन (वरिष्ठ प्राध्यापक, जैन-बौद्धदर्शन-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने इस कार्य के लिए आवश्यक पुस्तकों की व्यवस्था करके तथा लेखन कार्य में समय-समय पर आवश्यक परामर्श देकर बहुत सहयोग किया है । इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ और उनके उज्जवल भविष्य की कामना करता हूँ ।

वर्द्धमान मुद्रणालय में ऑफ सेट पर तत्परतापूर्वक कलापूर्ण मुद्रण के लिए श्रीमान् भाई बाबूलाल जी फागुल्ल को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ ।

अन्त में मेरी भावना है—

जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रसरतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ।

महावीर जयन्ती	पता	**विनयावनत**
वीर नि० सं० २५२४	१२२-बी, रवीन्द्रपुरी	**उदयचन्द्र जैन**
९ अप्रैल १९९८	वाराणसी-२२१००५	सर्वदर्शनाचार्य

प्रस्तावना

आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा विरचित प्रमेयकमलमार्तण्ड जैनदर्शन और जैनन्याय विषयक एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है, जिसमें जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में अन्य समस्त भारतीय दर्शनों के प्रमुख सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श किया गया है । अत: यहाँ सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि दर्शन और न्याय की परिभाषा क्या है ।

दर्शन की परिभाषा—

मनुष्य विचारशील प्राणी है । वह प्रत्येक कार्य के समय अपनी विचारशक्ति का उपयोग करता है । इसी विचारशक्ति को विवेक कहते हैं । अत: मनुष्य में जो स्वाभाविक विचारशक्ति है उसी का नाम दर्शन है । 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाता है वह दर्शन कहलाता है । अर्थात् यह संसार नित्य है या अनित्य ? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नहीं ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? इसका पुनर्जन्म होता है या नहीं ? ईश्वर की सत्ता है या नहीं ? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शनशास्त्र का काम है । दर्शनशास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने के कारण वस्तुपरतन्त्र है । सत् की व्याख्या करने में भारतीय दार्शनिकों ने विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना विषयी (आत्मा) की ओर । आत्मा को अनात्मा से पृथक् करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य रहा है । इसीलिए आत्मा को जानो (आत्मानं विद्धि) यह भारतीय दर्शनों का मूल मन्त्र है । यही कारण है कि प्राय: समस्त भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता पर प्रतिष्ठित हैं । भारत में धर्म तथा दर्शन में प्रारम्भ से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । दर्शनशास्त्र के सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि-महार्षियों ने अपनी तात्त्विक दृष्टि से जिन-जिन तथ्यों का साक्षात्कार किया उनको 'दर्शन' शब्द के द्वारा कहा गया । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है तो फिर विभिन्न दर्शनों में पारस्परिक भेद का कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि अनन्तधर्मात्मक

वस्तु को विभिन्न ऋषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से देखा और तदनुसार ही उसका प्रतिपादन किया । अतः यदि हम दर्शन शब्द के अर्थ को भावनात्मक साक्षात्कार के रूप में ग्रहण करें तो उपर्युक्त प्रश्न का समाधान हो सकता है ।

दर्शन का प्रयोजन—

समस्त भारतीय दर्शनों का प्रयोजन इस संसार के समस्त दुःखों से छुटकारा पाना अर्थात् मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना है । इस संसार के सभी प्राणी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं । अतः इन दुःखों से निवृत्ति का उपाय बतलाना दर्शनशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है । इसलिए दर्शनशास्त्र दुःख, दुःख के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों का प्रतिपादन करता है । जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगनिदान, आरोग्य और औषधि—इन चार तत्त्वों का प्रतिपादन आवश्यक होता है, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी दुःख, दुःख के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों का प्रतिपादन करना आवश्यक है ।

न्याय की परिभाषा—

जिस उपाय के द्वारा वस्तुतत्त्व का ज्ञान किया जाता है उसे न्याय कहते है । तत्त्वार्थसूत्र के 'प्रमाणनयैरधिगमः' (१/६) इस सूत्र में जैनन्याय के बीज विद्यमान हैं । हम जीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा करते हैं । इसीलिए न्यायदीपिका में 'प्रमाणनयात्मको न्यायः' इस वाक्य के द्वारा न्याय को प्रमाण और नयरूप कहा गया है । न्यायदर्शन में 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' (न्या० सू० १/१/१) इस सूत्र के द्वारा यह बतलाया गया है कि प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय कहलाता है । प्रत्येक दर्शन ने एक, दो, तीन आदि प्रमाणों को माना है और अपने-अपने मतानुसार उन प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा की है । किसी विषय में विरुद्ध नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निश्चय करने के लिए जो विचार किया जाता है वह परीक्षा कहलाता है । आचार्य उमास्वामी ने सम्यग्ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—इन पाँच भेदों को बतलाकर 'तत्प्रमाणे' (त० सू० १/११) इस सूत्र के द्वारा सम्यग्ज्ञान में प्रमाणता का उल्लेख किया है । तदनन्तर आचार्य समन्तभद्र से जैनन्याय

का वास्तविक प्रारम्भ होता है । परन्तु आचार्य अकलंकदेवने जैनन्याय को व्यवस्थितरूप से प्रतिष्ठापित किया है । अतः अकलंकदेव जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य माने गये हैं । आचार्य अकलंकदेव के बाद आचार्य विद्यानन्द ने जैनन्याय के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है । इसके बाद आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुख की रचना करके जैनन्याय के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध किया है । आचार्य माणिक्यनन्दि के बाद प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए न्याय के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है ।

भारतीय दर्शनों का श्रेणी विभाजन—

भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक के भेद से दो भागों में विभक्त किया जाता है । न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त—इन छह दर्शनों को आस्तिक तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शन को नास्तिक कहा जाता है । किन्तु भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक—इन दो विभागों में विभक्त करने वाला कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है । अतः भारतीय दर्शनों का विभाग वैदिक और अवैदिक दर्शनों के रूप में करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है । वेद को प्रमाण मानने के कारण न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त—ये छह वैदिक दर्शन हैं तथा वेद को प्रमाण न मानने के कारण चार्वाक, बौद्ध और जैन—ये तीन अवैदिक दर्शन हैं ।

भारतीय दर्शनों का क्रमिक विकास—

भारतीय दर्शनों को हम दो कालों में विभाजित कर सकते हैं—सूत्रकाल और वृत्तिकाल । सूत्रकाल में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों के सूत्रों की रचना हुई । सूत्रों की रचना से यह तात्पर्य नहीं है कि उसी समय से उस दर्शन का प्रारम्भ होता है, किन्तु ये सूत्र अनेक शताब्दियों के चिन्तन और मनन के फलस्वरूप निष्पन्न हुए हैं । इन सूत्रों का रचनाकाल ४०० विक्रमपूर्व से २०० विक्रमपूर्व तक स्वीकार किया जाता है । सूत्र संक्षिप्त एवं गूढ़ार्थ वाले होते हैं । अतः उनके अर्थ को सरलतापूर्वक समझने के लिए भाष्य, वार्तिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना हुई । यह काल वृत्तिकाल कहलाता है । शबर, कुमारिल,

वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, शङ्कर, रामानुज, वाचस्पति, धर्मकीर्ति, अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि आचार्य इसी युग में उत्पन्न हुए हैं । यह वृत्तिकाल विक्रम संवत् ३०० से विक्रम संवत् १५०० तक माना जाता है ।

वैदिक दर्शनों में सांख्यदर्शन सबसे प्राचीन माना जाता है । उसके बाद अन्य दर्शनों की क्रमशः उत्पत्ति और विकास हुआ है । अवैदिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन सबसे प्राचीन माना जाता है । वैदिक दर्शन की परम्परा में परिस्थितिवश उत्पन्न हुई बुराइयों को दूर करने के लिए ईसा पूर्व छठी शताब्दी में महात्मा बुद्ध के जन्म के बाद बौद्धदर्शन का आविर्भाव हुआ । जैनदर्शन की मान्यतानुसार जैन दर्शन की परम्परा अनादिकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है । इस युग में आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने कालक्रम से जैनधर्म और जैनदर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, हरिभद्र, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने जैनदर्शन के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है । कुछ लोग जैनदर्शन और बौद्धदर्शन को वैदिकदर्शन की शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी ऐसी मान्यता ठीक नहीं है । क्योंकि ऐतिहासिक खोजों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि श्रमण-परम्परा के अनुयायी उक्त दोनों धर्मों और दर्शनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है । पाठकों तथा जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए यहाँ संक्षेप में भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन किया जा रहा है ।

सांख्य तथा योगदर्शन—

ऐसा कहा जाता है कि तत्त्वों की संख्या (गिनती) के कारण इस दर्शन का नाम 'सांख्यदर्शन' हुआ । किन्तु संख्या शब्द का दूसरा भी अर्थ है—विवेकज्ञान । इस दर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान पर विशेष बल दिया गया है । इसलिए इसे सांख्य कहते हैं । इस अर्थ में सांख्य शब्द का प्रयोग अधिक युक्तिसंगत है । सांख्य द्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि यह प्रकृति और पुरुष—इन दो तत्त्वों को मौलिक मानता है । प्रकृति से महत् (ज्ञान) आदि २३ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है । अतः सांख्यदर्शन में सब मिलाकर २५ तत्त्व माने गये हैं । सांख्यों ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—इन तीन प्रमाणों को माना है ।

यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि प्राचीन सांख्यों ने ईश्वर को नहीं माना है । किन्तु कालान्तर में ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार कर ली गई । अत: सांख्य के निरीश्वर सांख्य और सेश्वरसांख्य ऐसे दो भेद हो गये । सेश्वरसांख्य को ही योगदर्शन के नाम से कहते हैं । ईश्वर की सत्ता मानकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि—योग के इन आठ अङ्गों के प्रतिपादन करने में ही योगदर्शन की विशेषता है । योगसूत्रों के रचयिता महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन के प्रवर्तक कहे जाते हैं ।

कपिल मुनि सांख्य दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं । उन्होंने सांख्य-सूत्रों की रचना की है । उनके अनुसार मूल तत्त्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष । प्रकृति से सर्वप्रथम बुद्धि उत्पन्न होती है । इसे महत् या महान् कहते हैं । महान् से 'मैं सुन्दर हूँ, मैं सुखी हूँ', इत्यादि अहङ्कार की उत्पत्ति होती है । अहङ्कार से चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् और श्रोत्र—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच तन्मात्रायें, इस प्रकार कुल सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है । पुन: पाँच तन्मात्राओं से पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार प्रकृति से सब मिलाकर २३ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है । इनमें से प्रकृति कारण ही है, कार्य नहीं । महान्, अहङ्कार और पाँच तन्मात्रायें ये सात तत्त्व कार्य और कारण दोनों हैं । शेष सोलह तत्त्व (ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत) केवल कार्य हैं, कारण नहीं । पुरुष न तो किसी का कारण है और न किसी का कार्य है ।

सांख्यों का मत है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है तथा सब पदार्थों में सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों का अन्वय देखा जाता है, इसलिए सब पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं । सांख्य किसी पदार्थ की उत्पत्ति और नाश को नहीं मानते हैं, किन्तु आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं । उत्पन्न पदार्थ उत्पत्ति के पहले ही कारण में अव्यक्तरूपसे विद्यमान रहता है और कारण उसे केवल व्यक्त कर देता है । जैसे अन्धकार में पहले से स्थित घटादि पदार्थों को दीपक व्यक्त कर देता है । घट उत्पत्ति के पहले मिट्टी में छिपा

रहता है और कुंभकार, दण्ड, चक्रादि केवल उसका आविर्भाव करते हैं । इसी प्रकार घट के नाश का अभिप्राय यह है कि वह घट अपने कारण मिट्टी में छिप जाता है, न कि सर्वथा नष्ट हो जाता है । इसी का नाम घट का तिरोभाव है ।

सांख्यों के अनुसार प्रकृति केवल कर्त्री है और पुरुष केवल भोक्ता है । प्रकृति के समस्त कार्य पुरुष के लिए होते हैं । पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता है और पुरुष से अधिष्ठित होकर ही प्रकृति समस्त कार्य करती है । यद्यपि अचेतन होने से प्रकृति अन्धी है और निष्क्रिय होने से पुरुष लंगड़ा है, फिर भी अन्धे और लंगड़े पुरुषों के संयोग की भाँति प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्रकृति कार्य करने में समर्थ हो जाती है । अन्त में प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान हो जाने पर मोक्ष होता है । सांख्यदर्शन में ज्ञान प्रकृति का धर्म है, आत्मा का नहीं । संसार तथा बन्ध और मोक्ष—ये सब प्रकृति के ही स्वभाव अथवा धर्म हैं । पुरुष तो निर्विकार तथा निष्क्रिय होने से सर्वदा कूटस्थ नित्य रहता है ।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन—

न्यायदर्शन का विषय न्याय का प्रतिपादन करना है । न्याय का अर्थ है—विभिन्न प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना । इन प्रमाणों के स्वरूप का वर्णन करने के कारण इस दर्शन को न्यायदर्शन कहते हैं । इसका दूसरा नाम वादविद्या भी है, क्योंकि इसमें वाद में प्रयुक्त हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का वर्णन किया गया है । न्यायसूत्र के रचयिता गौतम ऋषि हैं । इन्हीं का नाम अक्षपाद है । न्यायदर्शन के मानने वाले नैयायिक कहलाते हैं । वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं । विशेष नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन प्रसिद्ध हुआ । कुछ बातों को छोड़कर अन्य अनेक बातों में न्याय और वैशेषिक दर्शनों में समानता पायी जाती है । इन दोनों दर्शनों का सम्मिलित नाम यौग है । अनेक ग्रन्थों में यौग नाम का उल्लेख मिलता है । मालूम पड़ता है कि दोनों के योग (जोड़ी) को यौग नाम दे दिया गया । यौग के नाम से जो कुछ कहा गया है वह सब न्याय और वैशेषिक दर्शनों में मिलता है ।

नैयायिकों ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—ये १६ पदार्थ माने हैं। वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये ७ पदार्थ माने हैं तथा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये ९ द्रव्य माने हैं। नैयायिकों ने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दुःख और अपवर्ग (मुक्ति)—ये १२ प्रमेय माने हैं।

नैयायिक और वैशेषिक—इन दोनों ने ही सन्निकर्ष को प्रमाण माना है। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान—ये चार प्रमाण मानते हैं, किन्तु वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान—ये दो ही प्रमाण मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिक—इन दोनों ने ही प्रमाण को अस्वसंवेदी माना है। उनका मत है कि ज्ञान स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है, किन्तु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। नैयायिक और वैशेषिक दोनों ने ही अर्थ और आलोक को ज्ञान का कारण माना है। दोनों ही गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिक—दोनों ही आत्मा को शरीर परिमाण न मानकर व्यापक मानते हैं।

न्याय और वैशेषिक—ये दोनों ही दर्शन ईश्वर की सत्ता को मानकर उसके द्वारा संसार की सृष्टि मानते हैं। वे कहते हैं कि पृथिवी, पर्वत, शरीर आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान् पुरुष (ईश्वर) के द्वारा उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। इस अनुमान के द्वारा वे पृथिवी आदि कार्यों का एक ऐसा कर्ता सिद्ध करते हैं जो व्यापक, सर्वज्ञ और समर्थ है। ऐसा जो कर्ता है वही ईश्वर है। दोनों ही दर्शनों ने हेतु के पाँच रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व) माने हैं। तथा अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—ये पाँच अवयव या अङ्ग माने हैं।

मीमांसादर्शन—

मीमांसा शब्द का अर्थ है—किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ विवेचन। मीमांसा के दो भेद हैं—कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा। यज्ञों

की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्ममीमांसा का विषय है । जीव, जगत् और ईश्वर के स्वरूप तथा सम्बन्ध का निरूपण ज्ञानमीमांसा का विषय है । कर्ममीमांसा को पूर्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं । किन्तु वर्तमान में कर्ममीमांसा के लिए केवल, मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता है । और ज्ञानमीमांसा को 'वेदान्त' शब्द से कहा जाता है ।

महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शन के सूत्रकार हैं । मीमांसादर्शन के इतिहास में कुमारिल भट्ट का युग सुवर्ण युग के नाम से कहा जाता है । कुमारिल भट्ट के अनुयायी भाट्ट कहलाते हैं । मीमांसा के आचार्यों में प्रभाकर मिश्र की बड़ी प्रसिद्धि है । प्रभाकर के अनुयायी प्राभाकर कहलाते हैं । इस प्रकार मीमांसादर्शन में भाट्ट और प्राभाकर—ये दो पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय हुए हैं । भाट्टों के अनुसार पदार्थ ५ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव । वैशेषिक नौ द्रव्य मानते हैं, किन्तु भाट्ट अन्धकार और शब्द—ये दो द्रव्य अधिक मानते हैं । प्राभाकर पदार्थों की संख्या आठ मानते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या । प्राभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति—ये पाँच प्रमाण मानते हैं और भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं । मीमांसकों के अनुसार ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है । ज्ञान न तो स्वयं वेद्य है और न ज्ञानान्तर से वेद्य है । अतः वह सदा परोक्ष रहता है ।

मीमांसकों की मान्यता है कि कोई पुरुष सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शी नहीं हो सकता है, क्योंकि किसी भी पुरुष में ज्ञान और वीतरागता का पूर्ण विकास संभव नहीं है । मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं । वेद मुख्य रूप से अतीन्द्रिय पदार्थ धर्म का प्रतिपादक है और अतीन्द्रियदर्शी कोई पुरुष संभव नहीं है । अतः धर्म में वेद ही प्रमाण है । मीमांसकों ने वेद को दोषरहित सिद्ध करने के लिए एक नये उपाय का आविष्कार किया है कि जब वेदों का रचयिता कोई पुरुष ही नहीं है तब उसमें दोष कहां से आ सकते हैं, क्योंकि दोष निराश्रय तो रह नहीं सकते हैं । वेद को अपौरुषेय मानने के कारण मीमांसकों को शब्दमात्र को नित्य मानना पड़ा है, क्योंकि यदि शब्द को अनित्य मानते तो शब्दात्मक वेद को भी अनित्य और पौरुषेय मानना पड़ता, जो कि उन्हें अभीष्ट नहीं है । इस प्रकार मीमांसकों

ने अकारादि प्रत्येक वर्ण को नित्य, एक और व्यापक मानकर वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया है ।

वेदान्तदर्शन—

उपनिषदों के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित होने के कारण इस दर्शन का नाम वेदान्त प्रसिद्ध हुआ है । उपनिषदों की रचना वेदों के बाद हुई है । इसलिए उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं । ब्रह्मसूत्र (वेदान्त सूत्र) के रचयिता महर्षि बादरायण व्यास हैं । शंकर, रामानुज और मध्व—ये ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं । वेदान्तदर्शन के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है । इस संसार में जो नानात्मकता दृष्टिगोचर होती है वह सब मायिक (माया-अविद्या जनित) है । मीमांसकों की तरह वेदान्ती भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव—इन छह प्रमाणों को मानते हैं । वेदान्तियों ने निम्न लिखित श्रुति के द्वारा ब्रह्म की सिद्धि की है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ॥

अर्थात् यह सब ब्रह्म है, इस जगत् में नाना कुछ भी नहीं है, सब उसी की पर्यायों को देखते हैं, किन्तु उसको कोई नहीं देखता है । वेदान्तियों ने इस श्रुति का समर्थन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से भी किया है ।

चार्वाक दर्शन—

वैदिककाल में यज्ञानुष्ठान तथा तपश्चरण पर विशेष बल दिया जाता था । मनुष्यों को ऐहिक बातों की अपेक्षा पारलौकिक बातों की चिन्ता विशेषरूप से रहती थी । इस बात की प्रतिक्रियास्वरूप चार्वाक दर्शन का उदय हुआ । इस दर्शन का सब से प्राचीन नाम लौकायतिक है । साधारण लोगों की तरह आचरण करने के कारण चार्वाक दर्शन के अनुयायियों का लौकायतिक नाम प्रचलित हुआ । चारु (सुन्दर) वाक् (बात) को अर्थात् लोगों को प्रिय लगने वाली बात को कहने के कारण अथवा आत्मा, परलोक आदि को चर्वण (भक्षण) करने के कारण इनका नाम चार्वाक पड़ा । बृहस्पति नामक आचार्य चार्वाक दर्शन के संस्थापक माने जाते हैं । अतः इस दर्शन का नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है । बृहस्पति ने

चार्वाक दर्शन पर कोई सूत्र ग्रन्थ बनाया था, जिसके सूत्रों का उल्लेख जैन, बौद्ध आदि दर्शनों के ग्रन्थों में मिलता है । चार्वाक दर्शन के अनुयायी लोगों को प्रिय लगने वाली बातें इस प्रकार कहते थे—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात् जब तक जिओ, सुख से जिओ, ऋण लेकर घृत, दूध आदि पिओ । ऋण चुकाने की चिन्ता भी मत करो, क्योंकि शरीर के नष्ट हो जाने पर उसका पुनः आगमन (जन्म) नहीं होता है ।

चार्वाकों का सिद्धान्त है कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—इन चार भूतों का संघात ही आत्मा है । मरण ही मुक्ति है, कोई परलोक नहीं है, इत्यादि । बाह्य दृष्टि प्रधान होने के कारण चार्वाक ने केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है, अनुमान आदि को नहीं । अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियों से जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वही सत्य है, अन्य कुछ नहीं । चार्वाक का प्रमुख सिद्धान्त है—देहात्मवाद । उनका कहना है कि जिस प्रकार महुआ, गुड़ आदि पदार्थों के संमिश्रण से मदिरा बनने पर उसमें मादक शक्ति स्वयं आ जाती है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—इन चार भूतों के विशिष्ट संयोग से शरीर की उत्पत्ति के साथ उसमें चैतन्यशक्ति भी उत्पन्न हो जाती है । अतः चैतन्य आत्मा का धर्म न होकर शरीर का ही धर्म है ।

बौद्धदर्शन—

बौद्धदर्शन का प्रारम्भ महात्मा बुद्ध के द्वारा हुआ है । यद्यपि बुद्ध ने विशेषरूप से धर्म का ही उपदेश दिया था, दर्शन का नहीं, फिर भी बुद्ध के बाद बौद्ध-दार्शनिकों ने बुद्ध-वचनों के आधार से उनमें दार्शनिक तत्त्वों को खोज निकाला । अनात्मवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभङ्गवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, अन्यापोहवाद आदि बौद्धदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त हैं । बौद्धदर्शन में आत्मा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, किन्तु रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—इन पाँच स्कन्धों के समुदाय को ही आत्मा माना गया है । प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है—हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से पदार्थों की उत्पत्ति । इसी को सापेक्षकारणतावाद भी कहते हैं । बौद्ध प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानते हैं । उनका कहना है कि प्रत्येक

पदार्थ एक क्षण ही ठहरता है और दूसरे क्षण में वह नष्ट हो जाता है । अर्थक्रिया क्षणिक पदार्थ में ही हो सकती है, नित्य में नहीं । इसी का नाम क्षणभङ्गवाद है । बौद्धों का एक सिद्धान्त यह भी है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है । शब्द अर्थ का वाचक न होकर अन्यापोह का वाचक होता है । गौ शब्द गाय को न कहकर अगोव्यावृत्ति का कथन करता है । गाय में अगोव्यावृत्ति को बतलाना ही अन्यापोहवाद है ।

बौद्धदर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं जिनके अपने-अपने विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त हैं—(१) वैभाषिक-बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद, (२) सौत्रान्तिक-बाह्यार्थानुमेयवाद, (३) योगाचार-विज्ञानवाद और (४) माध्यमिक-शून्यवाद ।

उक्त चार प्रकार के दार्शनिकों में से वैभाषिक और सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ की सत्ता मानते हैं । दोनों में भेद इतना ही है कि वैभाषिक बाह्य अर्थ का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं और सौत्रान्तिक उसको अनुमेय (अनुमानगम्य) मानते हैं । योगाचार का दूसरा नाम विज्ञानाद्वैतवाद है, क्योंकि इनके मत में विज्ञानमात्र ही तत्त्व है, अर्थ की सत्ता कथंचित् भी नहीं है । इसी प्रकार माध्यमिकों को शून्यवादी कहा गया है, क्योंकि इनके यहाँ शून्य ही तत्त्व है ।

अर्थ की सत्ता मानने वाले वैभाषिक और सौत्रान्तिकों के अनुसार अर्थ दो प्रकार का है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण । इनमें स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का । प्रत्येक गौ व्यक्ति गौस्वलक्षण है और अनेक गायों में जो गोत्वरूप सामान्य की प्रतीति होती है वह सामान्यलक्षण है । स्वलक्षण सजातीय और विजातीय दोनों से व्यावृत्त होता है ।

बौद्धों ने अविसंवादी तथा अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण माना है और कल्पना तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है । प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना से रहित अर्थात् निर्विकल्पक होता है । प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष । अनुमान तीन रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति) वाले हेतु से उत्पन्न होता है । उन्होंने हेतु का लक्षण

त्रैरूप्य माना है । इस प्रकार बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान—ये दो ही प्रमाण हैं । बौद्धों ने ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ को कारण माना है तथा ज्ञान में अर्थाकारता भी मानी है । अर्थाकारता के द्वारा ही वे ज्ञान के प्रतिनियत विषय की व्यवस्था करते हैं ।

बौद्धों ने अवयवों से भिन्न कोई अवयवी नहीं माना है । उनके यहाँ अवयवों के समुदाय का नाम ही अवयवी है । आतान-वितान विशिष्ट तन्तुओं के समुदाय का नाम ही पट है । तन्तुसमुदाय को छोड़कर पट कोई पृथक् वस्तु नहीं है । बौद्धों के यहाँ विनाश को पदार्थ का स्वभाव माना गया है । अर्थात् पदार्थ प्रतिक्षण स्वभाव से ही विनष्ट होता रहता है । घट उत्पत्ति के समय से ही विनाश-स्वभाव वाला है, अतएव वह अपने विनाश के लिए मुद्गरादि कारणों की अपेक्षा नहीं रखता है, किन्तु वह स्वतः प्रतिक्षण विनष्ट होता रहता है । विनाश को पदार्थ का स्वभाव मानने के कारण ही बौद्धों ने प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक माना है और सत्त्व हेतु के द्वारा सब पदार्थों में क्षणिकत्व की सिद्धि की है । जो पदार्थ अर्थक्रिया (अपना कार्य) करता है वह सत् कहलाता है । घट जलधारण आदि अर्थक्रिया करता है इसलिए वह सत् है ।

जैनदर्शन—

जिस प्रकार विभिन्न दर्शनों के प्रवर्तक विभिन्न ऋषि-महर्षि हुए हैं उस प्रकार जैनदर्शन का प्रवर्तक कोई व्यक्ति विशेष नहीं है । जैन शब्द 'जिन' शब्द से बना है । जो व्यक्ति ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और राग-द्वेषादि भावकर्मों को जीतता है वह 'जिन' कहलाता है । ऐसे 'जिन' के द्वारा उपदिष्ट धर्म तथा दर्शन को जैनधर्म और जैनदर्शन कहते हैं । प्रत्येक युग में चौबीस तीर्थंकर होते हैं तथा वे अनादिकाल से चले आ रहे धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं । वर्तमान युग में ऋषभनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने जैनधर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन का आद्य सूत्रग्रन्थ है । जैनदर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात तत्त्व बतलाये गये हैं । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये छह द्रव्य माने गये

हैं । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ कर्म हैं । जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक—ये पाँच भाव होते हैं । अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पाँच परमेष्ठी होते हैं । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह—ये पाँच व्रत हैं ।

जैनदर्शन में प्रत्येक आत्मा कर्मों का नाश करके परमात्मा अर्थात् ईश्वर बन सकता है, किन्तु जैनदर्शनाभिमत ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं होता है । वह न तो कभी अवतार लेता है और न कभी संसार में लौटकर आता है । जो आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घातिया कर्मों का नाश कर देता है वह केवली अथवा अर्हन्त कहलाता है । अर्हन्त अवस्था में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य—इन अनन्तचतुष्टयों की प्राप्ति हो जाती है । कुछ काल बाद वही आत्मा शेष चार अघातिया कर्मों का नाश करके सिद्ध हो जाता है । सिद्धावस्था ही मोक्ष की अवस्था है । ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग होते हैं । जैनदर्शन में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—ये पाँच ज्ञान माने गये हैं । अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त—ये तीन जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त हैं ।

जैनदर्शन का महत्त्व—

भारतीय दर्शनों के इतिहास में जैनदर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है । भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या भावना से वस्तुतत्त्व को जैसा देखा उसी को उन्होंने दर्शन के नाम से कहा । किन्तु किसी भी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती है । सर्वथा भेदवाद या अभेदवाद, नित्यैकान्त या क्षणिकैकान्त एकान्तदृष्टि है । प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है और कोई भी दृष्टि उन अनेक धर्मों का एक साथ प्रतिपादन नहीं कर सकती है । इस सिद्धान्त को जैनदर्शन ने अनेकान्त और स्याद्वाद के नाम से कहा है । जैनदर्शन का मुख्य उद्देश्य स्याद्वाद सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतों का समन्वय करना है । विचार जगत् का अनेकान्त सिद्धान्त ही नैतिक जगत्

में अहिंसा का रूप धारण कर लेता है । अतः भारतीय दर्शनों के इतिहास को समझने के लिए जैनदर्शन का विशेष महत्त्व है ।

प्रमाणमीमांसा

सामान्यरूप से प्रमाण का लक्षण है—सम्यग्ज्ञान । जो ज्ञान सम्यक् अथवा समीचीन होता है वह प्रमाण कहलाता है । किन्तु आगमिक परम्परा में ज्ञान को सम्यक् तथा मिथ्या मानने का आधार दार्शनिक परम्परा से भिन्न है । आगमिक परम्परा में सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादर्शन युक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान व्यवहार में सत्य होने पर भी आगम की दृष्टि में मिथ्या है । परन्तु दार्शनिक परम्परा में ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित विषय का अव्यभिचारी होना ही प्रमाणता की कसौटी है । यदि ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित पदार्थ उसी रूप में मिल जाता है जिस रूप में ज्ञान ने उसे जाना था तो अविसंवादी होने से वह ज्ञान प्रमाण है और इससे भिन्न ज्ञान अप्रमाण है । आगम में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—इन पाँच ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि—इन तीन ज्ञानों को मिथ्याज्ञान कहा है । तत्त्वार्थसूत्रकार ने संभवतः सबसे पहले सम्यग्ज्ञान के लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है ।

प्रमाण का स्वरूप—

प्रमाण शब्द का सामान्यरूप से व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' । अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों की प्रमिति (ज्ञान) होती है उसे प्रमाण कहते हैं । कुछ दार्शनिकों ने इसी व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर प्रमा के करण अर्थात् साधकतम कारण (साधकतमं कारणं करणम्) को प्रमाण कहा है । वस्तु के यथार्थ ज्ञान को प्रमा या प्रमिति कहते हैं और उस प्रमा की उत्पत्ति में जो विशिष्ट कारण होता है वही प्रमाण है । प्रमाण के इस सामान्य लक्षण में विवाद न होने पर भी दार्शनिकों में प्रमा के करण के विषय में विवाद है । बौद्ध सारूप्य (तदाकारता) को प्रमिति का करण मानते हैं । सांख्य इन्द्रियवृत्ति को, नैयायिक-वैशेषिक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को, मीमांसक इन्द्रियको तथा प्राभाकर ज्ञातृव्यापार को प्रमा का करण मानते हैं । किन्तु जैन दार्शनिक ज्ञान को ही प्रमा का करण मानते हैं ।

क्योंकि जानने रूप क्रिया अथवा अज्ञाननिवृत्तिरूप क्रिया का साधकतम कारण चेतन ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निकर्षादि नहीं ।

बौद्धों ने अविसंवादी तथा अज्ञात अर्थ को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण माना है । बौद्धदर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है, अज्ञान को नहीं । उनके यहाँ एक ही ज्ञान प्रमाण और फल—दोनों होता है । वहाँ विषयाकारता का नाम प्रमाण है और विषय की अधिगति का नाम फल है । सांख्यों ने श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति (व्यापार) को प्रमाण माना है । न्यायदर्शन में न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने उपलब्धि साधन को प्रमाण कहा है । उद्योतकर ने भी उपलब्धि के साधन को ही प्रमाण स्वीकार किया है । उदयनाचार्य ने यथार्थ अनुभव को प्रमाण माना है । वैशेषिकदर्शन में सर्वप्रथम कणाद ने प्रमाण के सामान्य लक्षण का निर्देश किया है । उन्होंने दोषरहित ज्ञान को प्रमाण कहा है । मीमांसादर्शन में प्राभाकरोंने अनुभूति तथा ज्ञातृव्यापार को प्रमाण माना है । भाट्टों ने अनधिगत और यथार्थ अर्थ का निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है ।

जैनदर्शन में प्रमाण का स्वरूप—

आचार्य गृद्धपिच्छ अपर नाम उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन का प्रमुख सूत्रग्रन्थ है । उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्ज्ञान के भेदों को बतलाकर 'तत्प्रमाणे' सूत्र द्वारा सम्यग्ज्ञान में प्रमाणता का उल्लेख किया है तथा 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नय को जीवादि तत्त्वों के अधिगम का उपाय बतलाया है । तत्त्वार्थसूत्रकार ने प्रमाण का निर्देश तो किया, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से उसका कोई लक्षण नहीं बतलाया । सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाण का दार्शनिक लक्षण प्रस्तुत किया है । उन्होंने आप्तमीमांसा में तत्त्वज्ञान को प्रमाण बतलाकर उसके अक्रमभावी और क्रमभावी—ये दो भेद किये हैं तथा तत्त्वज्ञान को स्याद्वादनयसंस्कृत बतलाया है[1] । आचार्य समन्तभद्र ने ही स्वयम्भूस्तोत्र में स्व और पर के अवभासक ज्ञान को प्रमाण बतलाया है[2] । इसके अनन्तर

---

१. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम ॥ —आप्तमीमांसा का० १०१

२. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् । —स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक ६३

आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण के लक्षण में 'बाधवर्जित' पद जोड़कर स्वपरावभासक तथा बाधवर्जित ज्ञान को प्रमाण माना है[१] । तदनन्तर अकलंकदेव ने इस लक्षण में अविसंवादी और अनधिगतार्थग्राही—इन दो नये पदों का समावेश करके अवभासक के स्थान में व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया है[२] । इसके बाद आचार्य विद्यानन्द ने पहले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का लक्षण बतलाकर पुनः उसे स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है[३] । उन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है । क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे गृहीत अर्थ को जाने या अगृहीत को, वह स्वार्थव्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है[४] । इसके अनन्तर आचार्य माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के लक्षण में अपूर्व विशेषण का समावेश करके स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है[५] । किन्तु उत्तरकालवर्ती आचार्यों ने प्रमाण का लक्षण करते समय सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक् अर्थनिर्णय को ही प्रमाण बतलाया है[६] ।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रमाण के विभिन्न लक्षणों से यही फलित होता है कि प्रमाण को अविसंवादी या सम्यक् होना चाहिए । इस सम्यक् विशेषण में ही अन्य सब विशेषण अन्तर्भूत हो जाते हैं । प्रमाण के विषय में विशेष बात यही है कि ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, अज्ञानरूप सन्निकर्षादि नहीं । ज्ञान का स्वसंवेदी होना भी आवश्यक है । क्योंकि स्व को नहीं जानने वाला ज्ञान पर को भी नहीं जान सकता है । इसी प्रकार

---

१. प्रमाणं स्वपरावभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् । —न्यायावतार श्लोक १

२. (क) प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् । —अष्टशती

२. (ख) व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् । —लघीयस्त्रय का० ६०

३. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात् ।
—प्रमाणपरीक्षा पृ० १ ।

४. गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति ।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥ —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १/१०/७८

५. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् । —परीक्षामुख १/१

६. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । —न्यायदीपिका पृ० ३
सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् । —प्रमाणमीमांसा १/१/२

प्रमाण को व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) भी होना चाहिए । क्योंकि जो ज्ञान अनिश्चयात्मक है वह प्रमाण कैसे हो सकता है ?

प्रमाण के भेद—

जैनदर्शन में प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष । मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल—इन पाँच ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में विभाजन आगमिक परम्परा में पहले से ही रहा है । प्रथम दो ज्ञान परोक्ष तथा शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध का अन्तर्भाव मतिज्ञान में ही किया गया है । आगम में प्रत्यक्षता और परोक्षता का आधार भी दार्शनिक परम्परा से भिन्न है । आगमिक परिभाषा में इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मामात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । 'अक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम्' इस व्युत्पत्ति में अक्ष का अर्थ आत्मा किया गया है । और जिस ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा होती है वह ज्ञान परोक्ष माना गया है । आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में प्रत्यक्ष और परोक्ष की यही परिभाषा दी है[२] । किन्तु दार्शनिक परम्परा के अनुसार इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लिया गया है । अत: परसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर लेने से प्रत्यक्ष की परिभाषा में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई ।

प्रत्यक्ष का लक्षण—

अकलंकदेव ने लघीयस्त्रय में विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है[३] और न्यायविनिश्चय में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है[४] । जिस ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान के द्वारा व्यवधान न हो वह विशद कहलाता है । इस प्रकार दार्शनिक

---

१. अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा । —सर्वार्थसिद्धि

२. जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु ।
जं केवलेण णाणं हवदि हु जीवेण पच्चक्खं ॥ —प्रवचनसार गाथा ५८

३. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसांव्यवहारिकम् ।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः ॥ —लघीयस्त्रय श्लोक ३

४. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा । —न्यायविनि० श्लोक ३

परम्परा के अनुसार विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञान को परोक्ष माना गया है ।

प्रत्यक्ष के भेद—

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं— सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् जानने वाला केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और नियत अर्थों को पूर्णरूप से जानने वाले अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं । सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं— इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष । स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है और मन से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है । अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा— ये मतिज्ञान के चारों भेद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं ।

परोक्ष के भेद—

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम—ये परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं । इनमें से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क—इन तीनों प्रमाणों को अन्य दार्शनिकों ने पृथक् प्रमाण के रूप में नहीं माना है । नैयायिकों और मीमांसकों ने प्रत्यभिज्ञान के स्थान पर उपमान को प्रमाण माना है । किन्तु व्याप्ति ग्राहक तर्क को तो किसी ने भी प्रमाण नहीं माना है । जैन दार्शनिकों ने युक्तिपूर्वक यह सिद्ध किया है कि तर्क के बिना अन्य किसी प्रमाण से व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है ।

प्रमाणों की संख्या—

विभिन्न दार्शनिकों ने प्रमाणों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है । चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है । बौद्ध और वैशेषिक दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान । सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम । नैयायिक उपमान सहित चार, प्राभाकर अर्थापत्ति सहित पाँच और भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं । किन्तु जैनन्याय में उपमान का प्रत्यभिज्ञान में, अर्थापत्ति का अनुमान में और अभाव का प्रत्यक्ष आदि में अन्तर्भाव करके प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण की द्वित्व संख्या का समर्थन किया गया है ।

प्रामाण्य विचार—

प्रमाण जिस पदार्थ को जिस रूप में जानता है उसका उसी रूप में प्राप्त होना प्रमाण का प्रामाण्य कहलाता है । किसी पुरुष ने किसी स्थान में दूर से जल का ज्ञान किया और वहाँ जाने पर उसे जल मिल गया तो उसके ज्ञान में प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है । यहाँ प्रश्न यह है कि इस प्रकार के प्रामाण्य का ज्ञान कैसे होता है ? अर्थात् किसी ने दूर से जाना कि वहाँ जल है तो उसे जो जल ज्ञान हुआ वह सत्य है या असत्य, इसका निर्णय कैसे होगा ?

जैनदर्शन में बतलाया गया है कि ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय अभ्यास अवस्था में स्वत: और अनभ्यास अवस्था में परत: होता है । अभ्यस्त अवस्था में तो जलज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय प्रमाता को स्वयं ही हो जाता है, क्योंकि अभ्यास के कारण उसे जलज्ञान के सत्य होने में कोई सन्देह नहीं रहता है । किन्तु अनभ्यस्त अवस्था में शीतल वायु का स्पर्श, कमलों की सुगन्ध, मेढकों का शब्द आदि पर निमित्तों से जलज्ञान की सत्यता का निर्णय किया जाता है ।

ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में अन्य दार्शनिकों में विवाद है । न्याय-वैशेषिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परत:, सांख्य दोनों को स्वत: तथा मीमांसक प्रामाण्य को स्वत: और अप्रामाण्य को परत: मानते हैं । मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक ज्ञान पहले प्रमाणरूप ही उत्पन्न होता है । बाद में यदि ज्ञान के कारणों में दोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्यय के द्वारा उसकी प्रमाणता दूर कर दी जाय तो वह ज्ञान अप्रमाण मान लिया जाता है । प्रमेयकमलमार्तण्ड में मीमांसकों की इस मान्यता का विस्तार से खण्डन करके यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान का प्रामाण्य अभ्यास दशा में स्वत: और अनभ्यास दशा में परत: होता है । किन्तु प्रमाण और अप्रमाण की उत्पत्ति सदा परत: ही होती है ।

केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति विचार का स्रोत

आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र में केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति के विषय में विस्तार से विचार किया है । यहाँ यह देखना है कि प्रभाचन्द्र के उक्त विचार का स्रोत क्या है । आचार्य

कुन्दकुन्द ने बोधप्रामृत (गाथा ३७) में केवली के कवलाहार का निषेध किया है । तथा सूत्रप्राभृत (गाथा २३ से ३६) में स्त्रीमुक्ति का निराकरण किया है । ईसा की नवमी शताब्दी में शाकटायन नामक प्रसिद्ध वैयाकरण हुए हैं । वे यापनीय संघ के आचार्य थे और नग्न रहते थे । यापनीय संघ का बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरों से मिलता-जुलता था । किन्तु वे श्वेताम्बर आगमों को आदर की दृष्टि से देखते थे । तथा यापनीय संघ के अनुयायी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों की कुछ बातों को स्वीकार करते थे । आचार्य शाकटायन ने केवलिभुक्ति तथा स्त्रीमुक्ति के समर्थन के लिए केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति नामक दो प्रकरण ग्रन्थ बनाये थे । इनमें दिगम्बरों की मान्यता का विस्तार से खण्डन किया गया है ।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र में केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति का जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा है वह शाकटायन के केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणों से ही लिया गया है । तथा उत्तरपक्ष में शाकटायन के द्वारा उक्त दोनों प्रकरणों में प्रदत्त युक्तियों का दार्शनिक शैली में प्रबल तर्कों तथा प्रमाणों के आधार पर विस्तार से निराकरण किया गया है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शाकटायन के सामने दिगम्बर आचार्यों के उक्त दोनों सिद्धान्तों का समर्थक विशाल साहित्य रहा है, जिसके आधार पर उन्होंने दिगम्बरों की उक्त मान्यता का निराकरण करने के लिए केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति नामक दो प्रकरण ग्रन्थ बनाये । परन्तु वर्तमान में हमारे सामने आचार्य प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ ही उक्त दोनों दिगम्बर मान्यताओं का समर्थन करने के लिए उपलब्ध हैं ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड का प्रतिपाद्य विषय

आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्तर्गत परीक्षामुखसूत्र में प्रतिपादित विषयों के साथ ही अनेक नये विषयों का भी विस्तृत विवेचन किया है ।

प्रथम परिच्छेद—प्रमाणसामान्यलक्षण, कारकसाकल्यवाद, सन्निकर्षवाद, इन्द्रियवृत्तिविचार, ज्ञातृव्यापारविचार, प्रमाण में हिताहितप्राप्तिपरिहारविचार, बौद्धाभिमत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का खण्डन, शब्दाद्वैतविचार, संशयस्वरूपसिद्धि, विपर्ययज्ञान में अख्याति आदि का विचार,

अनिर्वचनीयार्थख्यातिविचार, स्मृतिप्रमोषविचार, अपूर्वार्थविचार, ब्रह्माद्वैतवाद, विज्ञानाद्वैतवाद, चित्राद्वैतवाद, शून्याद्वैतवाद, अचेतनज्ञानवाद, साकारज्ञानवाद, भूतचैतन्यवाद, स्वसंवेदनज्ञानवाद, आत्मप्रत्यक्षवाद, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद और प्रामाण्यवाद ।

द्वितीय परिच्छेद—प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद, प्रमेय के द्वित्व से प्रमाण-द्वित्वविचार, आगमविचार, उपमानविचार, अर्थापत्तिविचार, अभावविचार, अर्थापत्ति का अनुमान में और अभाव का प्रत्यक्ष आदि में अन्तर्भाव, शक्तिस्वरूपविचार, विशदत्वविचार, चक्षुःसन्निकर्षवाद, सांव्यवहारिकप्रत्यक्षविचार, अर्थकारणतावाद, आलोककारणतावाद, मुख्यप्रत्यक्षविचार, कर्मों में पौद्गलिकत्व की सिद्धि, सर्वज्ञत्ववाद, ईश्वरवाद, प्रकृतिकर्तृत्ववाद, कवलाहारविचार, स्त्रीमुक्तिविचार, भारतीय दर्शनों में मोक्षस्वरूपविचार ।

तृतीय परिच्छेद—स्मृतिप्रामाण्यविचार, प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यविचार, तर्कस्वरूपविचार, हेतु में त्रैरूप्यनिरास, हेतु में पाञ्चरूप्यनिरास, धर्मिस्वरूपविचार, पक्ष-वचन का समर्थन, वेदापौरुषेयत्वविचार, शब्दनित्यत्ववाद, अपोहवाद और स्फोटवाद ।

चतुर्थ परिच्छेद—सामान्यस्वरूपविचार, ब्राह्मणत्वजातिनिरास, सम्बन्धसद्भाववाद, अन्वयी आत्मा की सिद्धि, अर्थ में सामान्य-विशेषात्मकत्व की सिद्धि, वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने में संशयादि दोषों का निरास, परमाणुरूपनित्यद्रव्यविचार, आकाशद्रव्यविचार, कालद्रव्यविचार, आत्मद्रव्यवाद, गुणपदार्थविचार, कर्मपदार्थ-विचार, समवायपदार्थविचार, अभावपदार्थविचार और नैयायिकाभ्युपगत षोडशपदार्थविचार ।

पञ्चम परिच्छेद—प्रमाणफलस्वरूपविचार, प्रमाण का फल प्रमाण से कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है, इसकी सिद्धि ।

षष्ठ परिच्छेद—प्रमाणाभास, संख्याभास, विषयाभास, फलाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास तर्काभास, अनुमानाभास, हेत्वाभास, दृष्टान्ताभास, आगमाभास आदि आभासों का विवेचन, जय-पराजय व्यवस्था, नय और नयाभास का विवेचन, सप्तभङ्गीविवेचन और पत्र विचार ।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने आचार्य माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्र पर

प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक बृहत्काय भाष्य लिखा है । इसलिए सामान्य पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ दोनों आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है ।

सूत्रकार आचार्य माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि नन्दि संघ के प्रमुख आचार्य थे । जैनन्याय-शास्त्र में आचार्य माणिक्यनन्दि का परीक्षामुखसूत्र आद्य सूत्रग्रन्थ है । उन्होंने जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव के वचनरूपी समुद्र का मंथन करके न्यायविद्यारूपी अमृत को निकाला था और न्यायशास्त्र में मन्दबुद्धि वाले लोगों के प्रवेश के लिए परीक्षामुखसूत्र की रचना की थी । इस विषय में आचार्य लघु अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला के प्रारम्भ में लिखा है—

अकलंकवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता ।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥

अर्थात् जिस बुद्धिमान् ने अकलंकदेव के वचनरूपी समुद्र से न्यायविद्यारूपी अमृत को निकाला उन माणिक्यनन्दि आचार्य के लिये हमारा नमस्कार हो ।

परीक्षामुखसूत्र पर अकलंकदेव के ग्रन्थों का पूर्ण प्रभाव होने के साथ ही इस पर बौद्धाचार्य दिग्नाग के न्यायप्रवेश तथा धर्मकीर्ति के न्याय-बिन्दु का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । बौद्धदर्शन में हेतुमुख, न्यायमुख जैसे मुखान्त ग्रन्थ थे । संभवतः इन्हीं ग्रन्थों की सरणि पर इस सूत्रग्रन्थ का नामकरण परीक्षामुख किया गया है । जैनदर्शन में जो स्थान तत्त्वार्थसूत्र का है, जैनन्याय में परीक्षामुखसूत्र का भी वही स्थान है । आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुखसूत्र में जैनन्याय को गागर में सागर की तरह भर दिया है । उनकी एकमात्र रचना परीक्षामुखसूत्र है और इसी रचना के कारण वे जैनन्याय जगत् में अमर हो गये हैं । न्यायदीपिका में उनका भगवान् के रूप में उल्लेख किया गया है[1] । इससे उनके असाधारण व्यक्तित्व का आभास मिलता है । परीक्षामुखसूत्रों में लौकायतिक (चार्वाक), बौद्ध, सांख्य, यौग (नैयायिक-वैशेषिक), प्राभाकर,

१. तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दिभट्टारकः । —न्यायदीपिका पृ० १२०

जैमिनीय और मीमांसकों के नामोल्लेखपूर्वक उनके सिद्धान्तों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि माणिक्यनन्दि को जैनन्याय के अतिरिक्त इतर दर्शनों का भी अच्छा ज्ञान था ।

यत: परीक्षामुख एक सूत्रग्रन्थ है, अत: इसमें सूत्र का निम्नलिखित लक्षण पूर्णरूप से पाया जाता है—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदु: ॥

सूत्र के इस लक्षण में छह विशेषण हैं—(१) अल्पाक्षर-सूत्र में कम अक्षर होते हैं । (२) असन्दिग्ध—अल्पाक्षर होते हुए भी सूत्र में जो बात कही जाती है वह सब प्रकार के सन्देह से रहित होती है । (३) सारवत्—सूत्र में सार तत्त्व (मुख्य तत्त्व) की ही बात कही जाती है । (४) विश्वतोमुख—सूत्र की दृष्टि चारों ओर रहती है अर्थात् वह सब ओर से समस्त उपयोगी बातों को अपने में संगृहीत कर लेता है । (५) अस्तोभ (स्तोभरहित)—जो किसी प्रतिरोध (रुकावट) के बिना अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख रहता है अर्थात् जो समस्त बाधाओं को दूर करके अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सक्षम होता है । और (६) अनवद्य—जो सब प्रकार से अनवद्य (निर्दोष) है । ऐसा सूत्र का लक्षण परीक्षामुख में पूर्णरूप से घटित होता है ।

परीक्षामुख का परिमाण—

परीक्षामुख में छह परिच्छेद हैं और २१२ सूत्र हैं । परीक्षामुख के प्रथम परिच्छेद में १३ सूत्र, द्वितीय परिच्छेद में १२ सूत्र, तृतीय परिच्छेद में १०१ सूत्र, चतुर्थ परिच्छेद में ९ सूत्र, पञ्चम परिच्छेद में ३ सूत्र और षष्ठ परिच्छेद में ७४ सूत्र हैं । इस प्रकार वर्तमान में उपलब्ध परीक्षामुखसूत्र पाठ के आधार पर परीक्षामुख के कुल सूत्रों की संख्या २१२ है ।

परीक्षामुख का प्रतिपाद्य विषय—

परीक्षामुख का प्रतिपाद्य विषय प्रमाण और प्रमाणाभास का विवेचन है । इसके प्रथम परिच्छेद में प्रमाण सामान्य का विवेचन किया गया है । द्वितीय परिच्छेद में प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन और तृतीय परिच्छेद में

परोक्ष प्रमाण का विवेचन है । चतुर्थ परिच्छेद में प्रमाण के विषय का विवेचन तथा पञ्चम परिच्छेद में प्रमाण के फल का विवेचन किया गया है और अन्तिम षष्ठ परिच्छेद में प्रमाणाभास, प्रत्यक्षाभास, अनुमानाभास आदि तदाभासों का विवेचन पाया जाता है ।

परीक्षामुख की संस्कृत टीकाएँ—

(१) आचार्य प्रभाचन्द्र (सन् ११०० ईस्वी) ने परीक्षामुख पर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक बृहत्काय व्याख्या लिखी है ।

(२) आचार्य लघु अनन्तवीर्य ने परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नमाला नामक मध्यम परिमाण की विशद एवं सरल व्याख्या लिखी है । इनका समय विक्रम संवत् की बारहवीं शताब्दी है ।

(३) विक्रम संवत् की अठारहवीं शती के तार्किक विद्वान् श्री चारुकीर्ति भट्टारक ने परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नालंकार नामक व्याख्या लिखी है ।

(४) विक्रम संवत् की अठारहवीं शताब्दी के विद्वान् श्री अजितसेन ने परीक्षामुख पर न्यायमणिदीपिका नामक व्याख्या लिखी है ।

(५) श्री विजयचन्द्र नामक किसी विद्वान् ने परीक्षामुख पर अर्थप्रकाशिका नामक व्याख्या लिखी है ।

(६) श्री शान्तिवर्णी ने परीक्षामुख के प्रथमसूत्र पर प्रमेयकण्ठिका नामक व्याख्या लिखी है । इनके अतिरिक्त परीक्षामुख पर लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा हिन्दी में भी कुछ व्याख्याएँ लिखी गई हैं । इनमें श्री पं० जयचन्द जी छावड़ा की वचनिका तथा श्री पं० घनश्यामदास जी न्यायतीर्थ की हिन्दी व्याख्या प्रमुख हैं ।

उपर्युक्त संस्कृत तथा हिन्दी टीकाओं से परीक्षामुखसूत्र का महत्त्व प्रकट होता है ।

माणिक्यनन्दि का समय—

प्रमेयरत्नमाला के प्रारम्भ में आचार्य अनन्तवीर्य के उल्लेख से यह तो निश्चित ही है कि माणिक्यनन्दि अकलंकदेव के बाद हुए हैं श्रीमान् डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावना (पृष्ठ ५)

में माणिक्यनन्दि की पूर्वावधि ८०० ईस्वी तथा उत्तरावधि ईसा की १० वीं शताब्दी निर्धारित की है । इसके बाद उन्होंने लिखा है कि अधिक सम्भावना यही है कि ये आचार्य विद्यानन्दि के समकालीन हों । इसलिए इनका समय ईसा की ९ वीं शताब्दी होना चाहिए ।

श्रीमान् डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया न्यायचार्य ने 'जैनन्याय की भूमिका' नामक पुस्तक में माणिक्यनन्दि का समय १०२८ ईस्वी सिद्ध किया है ।

भाष्यकार आचार्य प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र मूलसंघान्तर्गत नन्दिगण की आचार्य परम्परा में दक्षिण में हुए थे । इन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रशस्ति में पद्मनन्दि सैद्धान्त को अपना गुरु बतलाया है । ये जैनन्याय और दर्शन के उच्चकोटि के विद्वान् होने के साथ ही अन्य समस्त भारतीय दर्शनों तथा व्याकरण-शास्त्र के भी अच्छे विद्वान् थे । आचार्य प्रभाचन्द्र के द्वारा लिखित प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र—ये दो विशालकाय व्याख्याग्रन्थ उच्चकोटि के होने के साथ ही अनुपम एवं अतुलनीय भी हैं । ये दोनों ग्रन्थ जैनन्याय तथा दर्शन से सम्बन्धित विषयों पर व्यापक प्रकाश डालते हैं । इनमें पूर्वपक्ष के रूप में अन्य भारतीय दर्शनों का अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने आचार्य माणिक्यनन्दि के आद्य जैनन्याय विषयक परीक्षामुखसूत्र पर जो विशालकाय एवं विशद व्याख्या लिखी है उसका नाम है—प्रमेयकमलमार्तण्ड । इसमें प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख के प्राय: प्रत्येक सूत्र और उसमें प्रयुक्त पदों का विस्तृत एवं विशद व्याख्यान किया है । इसके साथ ही विविध तर्कपूर्ण चर्चाओं द्वारा अनेक नवीन विषयों और तथ्यों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है । इसी प्रकार प्रभाचन्द्र ने अकलंकदेव के लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुदचन्द्र नामक विस्तृत एवं विशद व्याख्या लिखी है, जिसमें लघीयस्त्रय की ७८ कारिकाओं के हार्द को विस्तार से तर्कपूर्ण शैली में उद्घाटित किया है ।

भाष्यकार—

आचार्य प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख के सूत्रों पर जो विस्तृत व्याख्या

लिखी है वह एक प्रकार से भाष्य है और उसे भाष्य कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । भाष्य का लक्षण इस प्रकार है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

अर्थात् जिसमें सूत्रों का अनुसरण करने वाले वाक्यों के द्वारा सूत्रों के अर्थ का वर्णन किया जाता है और जिसमें सूत्रों में आगत पदों के साथ ही भाष्यकार के द्वारा निर्मित पदों का भी विवेचन किया जाता है उसे भाष्य के जानकार भाष्य कहते हैं । भाष्य का यह लक्षण प्रमेयकमलमार्तण्ड में पूर्णरूप से घटित होता है । अतः इसे भाष्य कहना सर्वथा युक्तिसंगत है । यद्यपि प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड को कहीं भी भाष्य नहीं कहा है, फिर भी परीक्षामुख सूत्रों पर लिखी गई विशालकाय टीका एवं सूत्रों के प्रत्येक पद की विशद व्याख्या को देखकर उसे भाष्य कहना सर्वथा उचित है ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड का अर्थ—

जिस प्रकार सूर्योदय होने पर कमलों का विकास हो जाता है, उसी प्रकार प्रमेयरूपी कमलों को विकसित (प्रकाशित) करने के लिए आचार्य प्रभाचन्द्र की यह कृति मार्तण्ड (सूर्य) के समान है । इसलिए इसका प्रमेयकमलमार्तण्ड यह नाम सार्थक है । इस कृति का दूसरा नाम परीक्षामुखालंकार भी है, क्योंकि परीक्षामुख सूत्रों पर प्रभाचन्द्र की यह विस्तृत एवं विशद व्याख्या परीक्षामुख को अलंकृत करने वाली है । इसीलिए प्रभाचन्द्र ने प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में आगत पुष्पिका वाक्य में—'इति श्री प्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्तण्डे परीक्षामुख-लंकारे......' ऐसा लिखकर दोनों नामों का उल्लेख किया है ।

चर्चित विषय—

प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में अनेक विषयों पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया है । उनमें से निम्नलिखित विषय विशेषरूप से पठनीय हैं—

(१) भूतचैतन्यवाद, (२) सर्वज्ञत्वविचार, (३) ईश्वरकर्तृत्वविचार, (४) मोक्षस्वरूपविचार, (५) केवलिभुक्तिविचार, (६) स्त्रीमुक्तिविचार,

(७) वेदापौरुषेयत्वविचार, (८) नैयायिकाभिमत सामान्यस्वरूपविचार, (९) ब्राह्मणत्वजातिनिरास, (१०) क्षणभंगवाद, (११) वैशेषिकाभिमत आत्मद्रव्यविचार और (१२) जय-पराजय व्यवस्था ।

प्रभाचन्द्र का कार्यस्थल—

ऐसी प्रबल सम्भावना है कि आचार्य प्रभाचन्द्र दक्षिण प्रदेश में आचार्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिक से शिक्षा-दीक्षा लेकर धारा नगरी में चले आये थे और यहीं उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की । प्रभाचन्द्र धारा नरेश भोज के समकालीन विद्वान् थे ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड में उल्लिखित—

"**श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।**"

इस अन्तिम प्रशस्ति से यह स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक ग्रन्थ भोजदेव के राज्य में धारा नगरी में रचा गया था । भोजदेव के बाद उनके उत्तराधिकारी जयसिंहदेव के राज्य में भी प्रभाचन्द्र ने कुछ ग्रन्थों की रचना की थी । इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य प्रभाचन्द्र का कार्यस्थल धारानगरी रहा है ।

प्रभाचन्द्र का समय—

श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग की प्रस्तावना में प्रभाचन्द्र का समय ईस्वी ९५० से १०२० तक निर्धारित किया है । श्रीमान् डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावना (पृष्ठ ६७) में इनका समय ईस्वी ९८० से १०६५ तक निर्धारित किया है । श्रीमान् डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य ने अपनी पुस्तक 'जैनन्याय की भूमिका' में प्रभाचन्द्र का समय १०४३ ईस्वी लिखा है । इन उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्र का समय विक्रम संवत् की ११वीं शताब्दी रहा है । राजा भोज का भी यही समय है ।

अगाध वैदुष्य—

आचार्य प्रभाचन्द्र विशिष्ट प्रतिभाशाली थे । इसीलिए उन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसी महत्त्वपूर्ण और प्रमेयबहुल

कृतियों की रचना की । प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुखसूत्र पर बारह हजार श्लोक प्रमाण प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक विशालकाय भाष्य लिखा है । यह जैनन्याय तथा जैनदर्शन का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसके लिए लघु अनन्तवीर्य ने उदार-चन्द्रिका (चाँदनी) की उपमा दी है और अपनी रचना प्रमेयरत्नमाला को प्रमेयकमलमार्तण्ड के सामने खद्योत (जुगनू) के समान बतलाया है[१] । प्रभाचन्द्र का ज्ञान कितना विशाल एवं गम्भीर था इसका पता इस बात से चलता है कि उन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड में जैनागम तथा जैनदर्शन के अनेक ग्रन्थों से प्रचुरमात्रा में उद्धरण तो दिये ही हैं, इसके साथ ही भारतीय दर्शन के शीर्षस्थ ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत तथा भगवद्गीता आदि सैकड़ों ग्रन्थों से भी अनेक उद्धरण दिये हैं । इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि के वाक्यपदीय, भामह के काव्यालंकार, माघ कवि के शिशुपालवध-महाकाव्य, महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी और बौद्धाचार्य अश्वघोष के सौन्दरनन्द महाकाव्य से भी अनेक उद्धरण दिये हैं ।

बौद्धाचार्य प्रज्ञाकर गुप्त ने अपने प्रमाणवार्तिकालंकार में भाविकारणवाद और भूतकारणवाद का समर्थन किया है । प्रमेयकमलमार्तण्ड में प्रज्ञाकार गुप्त के उक्त मत का युक्तिपूर्वक निराकरण किया गया है । प्रभाचन्द्र व्याकरण-शास्त्र के भी विशिष्ट ज्ञाता थे । उनके द्वारा जैनेन्द्रव्याकरण पर लिखित शब्दाम्भोजभास्कर से ज्ञात होता है कि उन्हें पातञ्जल महाभाष्य का तलस्पर्शी ज्ञान था । इस प्रकार हमें प्रभाचन्द्र के तलस्पर्शी सूक्ष्म दार्शनिक अध्ययन के साथ ही अन्य अनेक विषयों के अगाध वैदुष्य का बोध होता है । वास्तव में प्रभाचन्द्र का वैदुष्य विशाल, व्यापक एवं गम्भीर था ।

प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ—

आचार्य प्रभाचन्द्र की अधिकांश रचनायें व्याख्यात्मक हैं और कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखसूत्रव्याख्या) (२) न्यायकुमुदचन्द्र (लघीस्त्रयव्याख्या)

---

१. प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिका प्रसरे सति ।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥ —प्रमेयरत्नमाला

(३) तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धिव्याख्या) (४) शाकटायन-न्यास (शाकटायनव्याकरणव्याख्या) (५) शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्र-व्याकरणव्याख्या) (६) प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारव्याख्या) और (७) गद्यकथाकोश । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्रभाचन्द्र द्वारा रचित हैं ।

क्या प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दि के शिष्य थे ?

श्रीमान् डॉ० दरबारीलालजी कोठिया ने 'जैनन्याय की भूमिका' नामक पुस्तक में लिखा है—

"प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनन्दि से न्यायशास्त्र पढ़ा था और प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रशस्ति में प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनन्दि को अपना न्यायविद्यागुरु बतलाया है ।"

यहाँ प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रशस्ति में निम्नलिखित दो श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः ।
नन्दताद् दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः ॥ ३ ॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद् रत्ननन्दिपदे रतः ॥ ४ ॥

यहाँ इन श्लोकों का तात्पर्य यही है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दि सैद्धान्त के शिष्य थे तथा माणिक्यनन्दि को भी उन्होंने गुरु के रूप में स्मरण किया है । यहाँ प्रश्न यह है कि क्या माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्र के साक्षात् गुरु थे ? इस विषय में श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने कुछ भी नहीं लिखा है । यह तो सम्भव नहीं है कि श्री पं० महेन्द्रकुमारजी ने प्रमेय-कमलमार्तण्ड की प्रशस्ति में लिखित उक्त श्लोकों पर ध्यान न दिया हो ।

वैसे उक्त प्रश्न का एक समाधान यह हो सकता है कि प्रभाचन्द्र के दो गुरु रहे हों—पद्मनन्दि सैद्धान्त तथा माणिक्यनन्दि । पद्मनन्दि सैद्धान्त उनके दीक्षागुरु हों और माणिक्यनन्दि विद्यागुरु । दूसरा समाधान यह भी सम्भव है कि माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्र के परम्परागुरु हों और परम्परागुरु के रूप में ही प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनन्दि का स्मरण किया हो । परन्तु आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रशस्ति में अपने को 'माणिक्यनन्दि के

पद में रत' कहा है। इससे तो यही प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दि के साक्षात् शिष्य थे। किन्तु श्री पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने माणिक्यनन्दि को प्रभाचन्द्र का न तो साक्षात् गुरु बतलाया है और न परम्परागुरु। उन्होंने केवल इतना ही लिखा है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दि सैदान्त के शिष्य थे। इसीलिए पं० महेन्द्रकुमार जी ने माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र के समय में कम से कम एक शताब्दी का अन्तराल माना है। यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्त में जो प्रशस्ति वाक्य हैं वे स्वयं प्रभाचन्द्र के न होकर अन्य किसी दूसरे विद्वान् के हों। अतः यह सब प्रकरण विद्वानों के द्वारा अवश्य ही विचारणीय है।

अन्त में आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा विरचित निम्नलिखित श्लोक का स्मरण करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन की प्रस्तावना को विराम देता हूँ—

सिद्धेर्धाम महारिमोह-हननं कीर्तेः परं मन्दिरम्,
मिथ्यात्वप्रतिपक्ष-मक्षयसुखं संशीतिविध्वंसनम्।
सर्वप्राणिहितं प्रभेन्दुभवनं सिद्धं प्रमालक्षणम्,
सन्तश्चेतसि चिन्तयन्तु सुधियः श्रीवर्धमानं जिनम्॥

श्रद्धावनत
उदयचन्द्र जैन
सर्वदर्शनाचार्य

ऋषभ जयन्ती
चैत्रकृष्णा नवमी
२२ मार्च १९९८

विषयानुक्रम

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

विषय	पृष्ठ

चतुर्थ परिच्छेद

पंचम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन

उत्थानिका

प्रमेयकमलमार्तण्ड आचार्य प्रभाचन्द्र की जैनन्याय और जैनदर्शन-विषयक एक महत्त्वपूर्ण रचना है । जिस प्रकार सूर्योदय होने पर कमलों का विकास हो जाता है उसी प्रकार प्रमेयरूपी कमलों को विकसित (प्रकाशित) करने के लिए आचार्य प्रभाचन्द्र की यह कृति मार्तण्ड (सूर्य) के समान है । इसकी रचना का आधार है आचार्य माणिक्यनन्दि का परीक्षामुखसूत्र । आचार्य माणिक्यनन्दि ने जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव के वचनरूपी समुद्र का मंथन करके न्यायविद्यारूपी अमृत को निकाला और तदनुसार न्यायशास्त्र में मन्दबुद्धिवाले जिज्ञासु जनों के प्रवेश के लिए परीक्षामुखसूत्र की रचना की ।

परीक्षामुख एक सूत्रग्रन्थ है, किन्तु इसके प्रारंभ में तथा अन्त में आचार्य माणिक्यनन्दि ने एक एक श्लोक भी लिखा है । प्रारंभिक श्लोक इस प्रकार है—

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥

आचार्य प्रभाचन्द्र ने सर्वप्रथम श्री वर्धमान जिनको नमस्कार करके उक्त श्लोक की व्याख्या की है । उक्त श्लोक का सारांश यह है कि प्रमाण से अर्थ की संसिद्धि होती है । संसिद्धि का अर्थ है समीचीन सिद्धि । अर्थात् अर्थ का सम्यग्ज्ञान और उसकी प्राप्ति । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अर्थ दो प्रकार का होता है—हेय और उपादेय । अतः अर्थ का सम्यग्ज्ञान होने पर हम हेयरूप अर्थ का त्याग कर देते हैं और उपादेयरूप अर्थ का ग्रहण करते हैं । यही अर्थ की संसिद्धि है और यह प्रमाण से होती है । इसके विपरीत प्रमाणाभास से विपर्यय होता है । अर्थात् अर्थ की संसिद्धि नहीं होती है । उससे तो अर्थ का ज्ञान और उसकी प्राप्ति कभी भी संभव नहीं है । इसीलिए आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुख में प्रमाण और प्रमाणाभास

का लक्षण बतलाया है । वह लक्षण उनका स्वरुचि विरचित नहीं है किन्तु अकलंक आदि पूर्वाचार्यों द्वारा सिद्ध है । पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण विस्तृत होने के कारण उसे परीक्षामुख में मन्दबुद्धि वाले शिष्यों की व्युत्पत्ति के लिए संक्षेप में लिखा गया है ।

प्रारंभिक श्लोक में आगत 'लघीयसः' शब्द लघु शब्द से बना है । लघु का अर्थ है छोटा । परीक्षामुख की रचना उन लोगों के लिए की गई है जो बुद्धि में छोटे हैं अर्थात् मन्दबुद्धि हैं । छोटे तीन प्रकार के होते है-आयु में छोटे, शरीर के परिमाण (ऊँचाई) में छोटे और बुद्धि में छोटे । यहाँ बुद्धि में जो छोटे हैं उन्हीं का ग्रहण किया गया है, अन्य का नहीं । प्रारंभिक श्लोक में परीक्षामुख का अभिधेय, प्रयोजन और सम्बन्ध भी बतला दिया गया है । परीक्षामुख का अभिधेय है प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण । प्रयोजन दो प्रकार का होता है—साक्षात् और परम्परासे । यहाँ साक्षात् प्रयोजन है प्रमाण और प्रमाणाभास के लक्षण का ज्ञान और परम्परा से प्रयोजन है अभिलषित अर्थ की प्राप्ति । क्योंकि प्रमाण और प्रमाणाभास का ज्ञान हो जाने के बाद ही अभिलषित अर्थ की प्राप्ति होती है । परीक्षामुख और उसके अभिधेय में प्रतिपाद्य और प्रतिपादक रूप सम्बन्ध है । परीक्षामुख प्रतिपादक है और उसका अभिधेय प्रतिपाद्य है ।

यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि परीक्षामुख के प्रारंभ में इष्ट देवता को नमस्काररूप मंगलाचरण क्यों नहीं किया गया है । इसका उत्तर यह है कि नमस्कार तीन प्रकार का होता है—वाचनिक, कायिक और मानसिक । अतः वाचनिक नमस्कार नहीं करने पर भी यह संभव है कि लेखक द्वारा कायिक तथा मानसिक नमस्कार किया गया हो । फिर भी जिनका आग्रह ऐसा है कि वाचनिक नमस्कार का होना आवश्यक है, उनके लिए 'प्रमाण' शब्द के द्वारा वाचनिक नमस्कार सिद्ध किया गया है । वह इस प्रकार है— प्रमाण पद में तीन शब्द हैं—प्र+मा+आण । 'मा' नाम लक्ष्मी का है । वह दो प्रकार की होती है—अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरंग लक्ष्मी और समवसरणादिरूप बहिरंग लक्ष्मी । 'आण' का अर्थ है शब्द या वचन । 'प्र' का अर्थ है प्रकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट) अतः जिनके सर्वोत्कृष्ट अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी और दिव्यध्वनिरूप वचन पाये जाते हैं ऐसे अरहन्त भगवान् प्रमाण कहलाते हैं । इस प्रकार अरहन्त भगवान् के असाधारण गुणों को बतला देना ही इष्ट देवता का वाचनिक नमस्काररूप मंगलाचरण सिद्ध हो जाता है ।

प्रथम परिच्छेद

इस परिच्छेद में प्रमाण सामान्य का वर्णन किया गया है । प्रमाण के विषय में चार प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ (मतभेद) हैं—स्वरूपविप्रतिपत्ति, संख्याविप्रतिपत्ति, विषयविप्रतिपत्ति और फलविप्रतिपत्ति । सर्वप्रथम स्वरूपविप्रतिपत्ति का निराकरण प्रथम सूत्र में किया गया है ।

प्रमाण का लक्षण—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥

अपने और अपूर्व अर्थ के निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । यहाँ 'प्रमाण' लक्ष्य है और 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानम्' उसका लक्षण है । प्रमाण के लक्षण में ५ विशेषण दिये गये हैं—स्व, अपूर्व, अर्थ, व्यवसायात्मक और ज्ञान । प्रत्येक विशेषण का एक निश्चित प्रयोजन होता है । अब यहाँ प्रत्येक विशेषण की सार्थकता या प्रयोजन बतलाते हैं । प्रमाण के लक्षण में ज्ञान विशेषण के द्वारा उन लोगों का निराकरण किया गया है जो अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानते हैं । व्यावसायात्मक विशेषण के द्वारा बौद्धों का निराकरण किया गया है जो प्रत्यक्ष प्रमाण को अव्यवसायात्मक (निर्विकल्पक) मानते हैं । अर्थ विशेषण के द्वारा बाह्य पदार्थों का अपलाप (अभाव) करने वाले विज्ञानाद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी और शून्याद्वैतवादियों का निराकरण किया गया है । अर्थ पदको अपूर्व के साथ मिला देने पर अपूर्वार्थ पद बनता है । इस अपूर्वार्थ विशेषण के द्वारा धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानने वालों का निराकरण किया गया है । और 'स्व' विशेषण के द्वारा परोक्षज्ञानवादी मीमांसकों, ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादी यौगों और अस्वसंवेदनज्ञानवादी सांख्यों के मतों का निराकरण किया गया है ।

प्रथम सूत्र की व्याख्या में प्रमाण के लक्षण में ज्ञान विशेषण की सार्थकता पर विचार किया गया है और जो प्रमाण को ज्ञानरूप नहीं मानते हैं उनके मत का निराकरण किया गया है । अब तदनुसार ही विचार किया जा रहा है ।

कारकसाकल्यवाद :

जरन्नैयायिक जयन्तभट्ट कारकसाकलय को प्रमाण मानते हैं । क्योंकि

वह अर्थ की उपलब्धि में साधकतम (करण) होता है । कारकसाकल्य का अर्थ है—आत्मा, मन, अर्थ, आलोक, इन्द्रिय आदि जिन जिन कारणों से अर्थ की उपलब्धि होती है उनकी समग्रता । इसमें बोध और अबोध रूप सब कारण सम्मिलित रहते हैं । और साधकतम होने से अर्थ की उपलब्धि जनक कारणों की समग्रता का नाम ही प्रमाण है । ऐसा कारक-साकल्यवादियों का मत है ।

कारकसाकल्यवादियों का उक्त मत समीचीन नहीं है । क्योंकि कारकसाकल्य अज्ञानरूप है और जो अज्ञानरूप है वह घट की तरह स्वपरपरिच्छित्ति (स्वपरबोध) में साधकतम नहीं हो सकता है । स्व-परपरिच्छिति में साधकतम तो अज्ञानविरोधी ज्ञान ही होता है । यदि कारक-साकल्यवादी कारकसाकल्य को प्रदीपादि की तरह उपचार से साधकतम मानना चाहें तो इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है । किन्तु स्वपररिच्छित्ति में मुख्यरूप से साधकतम तो ज्ञान ही होता है । ऐसे ज्ञान का उत्पादक होने से कारकसाकल्य को भी उपचार से साधकतम माना जा सकता है । तथा कारण में कार्य का उपचार करके कारकसाकल्य में प्रमाण का व्यवहार भी किया जा सकता है । परन्तु अनुपचरित प्रमाण व्यवहार तो ज्ञान में ही होता है । इसी बात को इस प्रकार समझाया गया है । जो जहाँ किसी दूसरे से व्यवहित नहीं होता है वह वहाँ मुख्यरूप से साधकतम कहलाता है । जिस प्रकार छेदनरूप क्रिया में अयस्कार (लोहार) कुठार से व्यवहित हो जाने के कारण साधकतम नहीं होता है, उसी प्रकार कारकसाकल्य भी स्वपरपरिच्छित्ति में ज्ञान से व्यवहित हो जाने के कारण साधकतम नहीं हो सकता है । तथा स्वपरपरिच्छित्ति में साधकतम न होने के कारण कारक-साकल्य में अनुपचरित (मुख्य) प्रमाण व्यवहार कभी भी संभव नहीं है ।

कारकसाकल्य क्या है ? क्या सकल कारकों का नाम कारकसाकल्य है या उनके धर्म का नाम अथवा उनके कार्य का नाम कारक साकल्य है, इत्यादि प्रकार से कारक साकल्य के विषय में अनेक विकल्प करके भी कारक साकल्य का निरकारण किया गया है । निष्कर्ष यह है कि कारक-साकल्य का कोई स्वरूप सिद्ध नहीं होता है । यदि उसका स्वरूप सिद्ध भी हो जावे तो उसमें ज्ञान के द्वारा व्यवधान आने के कारण उसे अनुपचरित प्रमाण नहीं माना जा सकता है ।

सन्निकर्षवाद :

नैयायिक-वैशेषिकों का मत है कि प्रमिति की उत्पत्ति में साधकतम होने से सन्निकर्ष प्रमाण है । इन्द्रियों का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध होता है उसका नाम सन्निकर्ष है । जैसे चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होने से घट का ज्ञान होता है । यहाँ घट का ज्ञान होने में सन्निकर्ष साधकतम होने के कारण प्रमाण है । इसी प्रकार सर्वत्र इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से ही प्रमिति की उत्पत्ति होती है और प्रमिति की उत्पत्ति में साधकतम होने के कारण सन्निकर्ष प्रमाण कहलाता है ।

नैयायिक-वैशेषिकों का उक्त मत अविचारित रमणीय है । क्योंकि कारकसाकल्य की तरह सन्निकर्ष भी अज्ञानरूप है । इन्द्रियाँ अचेतन हैं और घटादि अर्थ भी अचेतन हैं । तब दोनों का सन्निकर्षरूप सम्बन्ध भी अचेतन ही रहेगा । अतः अचेतन या अज्ञानरूप सन्निकर्ष के द्वारा स्वपरपरिच्छित्ति कैसे हो सकती है ? जिस प्रकार चक्षु का घट के साथ संयोगरूप सन्निकर्ष है उसी प्रकार उसका आकाश के साथ भी तो संयोग है । तो चक्षु से आकाश की प्रमिति क्यों नहीं होती है ? इससे यही सिद्ध होता है कि सन्निकर्ष स्वपरपरिच्छित्ति करने में समर्थ नहीं है । इस प्रकार सन्निकर्ष में प्रमाण का लक्षण न पाये जाने से असंभव दोष आता है ।

सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में अव्याप्ति दोष भी आता है । क्योंकि चक्षु अप्राप्यकारी है । अर्थात् चक्षु अर्थ को प्राप्त करके नहीं जानती है किन्तु दूर से ही जानती है । इससे यह सिद्ध होता है कि चक्षु का अर्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं होने पर भी घटादि अर्थ का ज्ञान हो जाता है । स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं । इस कारण इनका तो अर्थ के साथ सन्निकर्ष होता है, किन्तु चक्षु का अर्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं होता । अतः सन्निकर्ष को सब इन्द्रियों में न रहने के कारण अव्याप्ति दोष का प्रसंग आता है । सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वालों के मत में कोई सर्वज्ञ भी सिद्ध नहीं हो सकता है । सर्वज्ञ वह कहलाता है जो अतीन्द्रिय तथा सूक्ष्म परमाणु आदि पदार्थों को भी जानता हो । परन्तु सूक्ष्म परमाणु आदि पदार्थों के साथ तो इन्द्रिय सन्निकर्ष होता नहीं है । तब इन पदार्थों को सर्वज्ञ कैसे जानेगा ? इत्यादि प्रकार से विचार करने पर सन्निकर्ष में प्रमाणत्व सिद्ध नहीं होता है ।

इन्द्रियवृत्तिविचार :

सांख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानते हैं । इन्द्रियवृत्ति का अर्थ है इन्द्रियों का व्यापार । चक्षु आदि इन्द्रियाँ जब घटादि अर्थ के प्रति व्यापार करती हैं तभी घटादि अर्थ का ज्ञान होता है । अतः इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानना युक्तिसंगत है, ऐसा सांख्य का मत है ।

सांख्य का उक्त मत समीचीन नहीं है । जब इन्द्रियाँ अचेतन हैं तो इन्द्रियों का व्यापार भी अचेतन ही होगा । अतः जो अचेतन (अज्ञानरूप) है उसके द्वारा स्व और पर की परिच्छित्ति (ज्ञान) कदापि संभव नहीं है । स्वपरपरिच्छित्ति तो अज्ञान के विरोधी ज्ञान के द्वारा ही होती है । इन्द्रियवृत्ति भी सन्निकर्ष की तरह अज्ञानरूप है । इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है । इस प्रकार इन्द्रियवृत्ति में प्रमाणता सिद्ध नहीं होती है ।

ज्ञातृव्यापरविचार :

मीमांसकमतानुयायी प्रभाकर ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानता है । पदार्थ को जानने के लिए ज्ञाता का जो व्यापार होता है उसका नाम ज्ञातृव्यापार है । किन्तु यह ज्ञातृव्यापार भी अज्ञानरूप है । क्योंकि ज्ञाता आत्मा चेतना के समवाय से चेतन है, वह स्वतः चेतन नहीं है । अतः उसका व्यापार भी अचेतन ही माना जायेगा । और जो अचेतन या अज्ञानरूप है वह प्रमिति की उत्पत्ति में साधकतम नहीं हो सकता है । अज्ञानरूप वस्तु को तो उपचार से ही प्रमाण माना जा सकता है । उसमें अनुपचरित प्रमाणव्यपदेश कभी भी संभव नहीं है । ज्ञातृव्यापार के स्वरूप का ग्राहक प्रत्यक्ष आदि कोई प्रमाण भी नहीं है । इस प्रकार ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानने में अनेक दोष आने के कारण उसमें प्रामाण्य संभव नहीं है ।

निष्कर्ष यह है कि कारकसाकल्य, सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति और ज्ञातृव्यापार-ये सब अज्ञानरूप होने के कारण प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकते हैं । प्रमाण तो वही हो सकता है जो अज्ञान का विरोधी हो । अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण होता है । इसी बात को आगे के सूत्र में बतलाया गया है ।

ज्ञान में प्रमाणत्वसिद्धि :

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥ २ ॥

यहाँ यह बतलाया गया है कि प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराने में समर्थ होता है तथा यह काम ज्ञान के द्वारा ही संभव है, अज्ञान के द्वारा नहीं । अतः ज्ञान ही प्रमाण है । अज्ञान तो त्रिकाल में भी प्रमाण नहीं हो सकता है ।

सुख और उसके साधन को हित कहते हैं तथा दुःख और उसके साधन को अहित कहते हैं । संसार में कुछ पदार्थ हितकारी हैं और कुछ अहितकारी होते हैं । प्रमाण हितकारी वस्तुओं की प्राप्ति कराता है और अहितकारी वस्तुओं का परिहार कराता है । यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रमाण को अर्थक्रिया समर्थ अर्थ का प्रापक बतलाया गया है । इसका तात्पर्य इतना ही है कि प्रमाण हितकारी अर्थ का मात्र प्रदर्शक होता है । हितकारी अर्थ के प्रदर्शन के बाद यदि कोई पुरुष चाहे तो उसको प्राप्त कर सकता है । अतः प्रदर्शकत्व का नाम ही प्रापकत्व है । प्रमाण किसी को भी बलपूर्वक हितकारी अर्थ की प्राप्ति नहीं करा सकता है । अहितकारी अर्थ के परिहार के विषय में भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए । प्रमाण किसी पुरुष को बलपूर्वक अहितकारी अर्थ का परिहार भी नहीं कराता है । यह तो प्रमाता पुरुष का काम है कि वह प्रमाण के द्वारा अर्थ को जान कर हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करे ।

व्यवसायात्मक विशेषण की सार्थकता :

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ॥ ३ ॥

वह प्रमाण निश्चयात्मक होता है, समारोप का विरोधी होने से, अनु-मान की तरह । संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को समारोप कहते हैं । प्रमाण वह है जो समारोप का विरोधी हो, जैसे कि अनुमान ।

यहाँ जानने योग्य विशेष बात यह है कि बौद्धों ने दो प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान । वे प्रत्यक्ष को अनिश्चयात्मक (निर्विकल्पक) और अनुमान को निश्चयात्मक मानते हैं । अतः यहाँ अनुमान का दृष्टान्त देकर प्रत्यक्ष में निश्चयात्मकत्व सिद्ध किया गया है । जिस प्रकार अनुमान निश्चयात्मक है उसी प्रकार प्रत्यक्ष भी निश्चयात्मक है । यदि प्रत्यक्ष निश्चयात्मक नहीं है तो उसमें प्रमाणत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता है, प्रत्यक्षत्व सिद्ध होना तो दूर रहा । पहले बौद्धाभिमत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में प्रमाणत्व

सिद्ध होना चाहिए, तभी उसमें प्रत्यक्षत्व सिद्ध हो सकता है । अतः अनुमान की तरह प्रत्यक्ष को भी निश्चयात्मक मानना आवश्यक है । तभी वह प्रमाण की कोटि में आ सकता है ।

बौद्धाभिमत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का निराकरण

पूर्वपक्ष—

बौद्ध प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ अर्थात् कल्पना रहित मानते हैं । शब्द संसर्ग को कल्पना कहते हैं । दूसरे शब्दों में ज्ञान में नाम, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य की योजना को कल्पना कहते हैं । किसी व्यक्ति को राम, मोहन आदि कहना यह नाम योजना है । गोत्वविशिष्ट गाय को गौ कहना यह जाति योजना है । इसी प्रकार गुण, क्रिया आदि की योजना भी की जाती है । जिस ज्ञान में शब्द का संसर्ग (सम्बन्ध) होता है वह ज्ञान सविकल्पक कहलाता है और जिस ज्ञान में शब्दसंसर्ग नहीं होता है उसे निर्विकल्पक कहते हैं ।

इसी विषय में धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में कहा है—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥

अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पना रहित होता है इस बात की सिद्धि प्रत्यक्ष से ही हो जाती है । और शब्द के आश्रय से होने वाला विकल्प भी सब को अनुभव में आता है ।

इस प्रकार बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण और सविकल्पक प्रत्यक्ष को अप्रमाण मानते हैं ।

उत्तरपक्ष—

बौद्धों का उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि जो अनिश्चयात्मक है उसमें प्रामाण्य किसी प्रकार नहीं हो सकता है । अन्यथा गच्छत्तृणस्पर्श संवेदन में भी प्रमाणता का प्रसंग प्राप्त होगा । मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को तृण का स्पर्श होने पर ऐसा आभास होता है कि जिसका स्पर्श हुआ है वह कोई चीज है । किन्तु उसका निश्चय नहीं हो पाता है कि वह क्या है । इसे ही अनध्यवसाय कहा गया है । यह ज्ञान अनिश्चयात्मक होने के कारण प्रमाण नहीं माना जाता है । इसी प्रकार जो भी अनिश्चयात्मक ज्ञान है वह

स्वपरपरिच्छित्ति में साधकतम नहीं होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता है । इत्यादि प्रकार से अनेक युक्तियों के द्वारा विस्तार से निर्विकल्पक ज्ञान में प्रामाण्य का निराकरण किया गया है । तथा यह सिद्ध किया गया है कि स्वपरपरिच्छित्ति में साधकतम होने से, संवादक होने से और अनिश्चित अर्थ का निश्चायक होने से सविकल्पक ज्ञान प्रमाण है, अनुमान की तरह । जिस प्रकार बौद्धाभिमत अनुमान निश्चयात्मक होने के कारण प्रमाण है, उसी प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष भी निश्चयात्मक होने केकारण प्रमाण है । इसके विपरीत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सन्निकर्षादि की तरह प्रमाण नहीं है । क्योंकि वह न तो स्वपरपरिच्छित्ति में साधकतम है, न संवादक है और न अनिश्चित अर्थ का निश्चायक है । निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ मानना तथा अनिश्चयात्मक मानना सर्वथा गलत है ।

शब्दाद्वैतविचार

पूर्वपक्ष—

भर्तृहरि आदि वैयाकरण शब्दाद्वैतवादी हैं । वे मानते हैं कि सब ज्ञान शब्दानुविद्ध (शब्दरूपता को प्राप्त) होने के कारण सविकल्पक हैं । यदि ज्ञानों में शब्दरूपता न हो तो उनमें प्रकाशरूपता भी नहीं आ सकती है । ज्ञानों में जो वाक्‌रूपता है वह शाश्वती और प्रकाशहेतुभूत है । यह सब वाच्य-वाचक तत्व शब्द ब्रह्म का ही विवर्त (पर्याय) है । वह न तो अन्य किसी का विवर्त है और न स्वतन्त्र है । इस विषय में भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ग्रन्थ में बतलाया है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते ।
अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात् लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसमें शब्द का अनुगम (अन्वय) न हो । शब्द ब्रह्म में स्थित सर्व वाच्यवाचक तत्त्व शब्दानुविद्ध होकर ही प्रतिभासित होता है । शब्द ब्रह्म के विषय में और भी कहा है—

अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

अर्थात् शब्दब्रह्म अनादिनिधन है । उसे अक्षर भी कहते हैं, क्योंकि वह अकारादि अक्षरों का कारण होता है । वही शब्दब्रह्म घटादि अर्थरूप

से परिणमन करता है । अर्थात् वह वाचक तथा वाच्य दोनों रूप है । ऐसा शब्दाद्वैतवादियों का मत है ।

उत्तरपक्ष—

शब्दाद्वैतवादियों का उक्त मत अनेक दोषों से दूषित होने के कारण ग्राह्य नहीं है । ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व का प्रतिभास प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है । प्रत्यक्ष के द्वारा तो शब्द रहित अर्थ का ही प्रतिभास होता है । दोनों का देश भिन्न होने के कारण शब्द और अर्थ में तादात्म्य भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है । शब्दाकार रहित नीलादिरूप का चाक्षुष ज्ञान में प्रतिभास होता है और अर्थाकार रहित शब्द का श्रोत्रज्ञान में प्रतिभास होता है । इसलिए उन दोनों में ऐक्य कैसे हो सकता है ? इस प्रकार जगत् को शब्दात्मक मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं है । क्योंकि न तो जगत् शब्द के परिणमनरूप है और न शब्द से उसकी उत्पत्ति होती है । सविकल्पक प्रत्यक्ष से यह अच्छी तरह से ज्ञात होता है कि शब्दाकार से रहित घट आदि पदार्थों का जो प्रतिभास होता है वह शब्द और अर्थ में भिन्नता सिद्ध करता है । यदि सब पदार्थ शब्दात्मक होते तो शब्द का ज्ञान होने पर संकेत को न जानने वाले पुरुष को भी अर्थ का ज्ञान हो जाना चाहिए । क्योंकि शब्द और अर्थ में तादात्म्य होने के कारण शब्द का ज्ञान होने पर अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक है । अन्यथा उनमें तादात्म्य कैसे बनेगा ? अर्थ को शब्दात्मक मानने में एक दोष यह भी है कि अग्नि, पाषाण आदि शब्दों के सुनने पर श्रोत्र में दाह, अभिघात आदि का प्रसंग प्राप्त होगा । निष्कर्ष यह है कि शब्दब्रह्म की सिद्धि प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है । अतः सब ज्ञानों में शब्दानुबिद्धत्व की सिद्धि किसी भी प्रकार संभव नहीं है ।

संशयस्वरूपविचार

प्रमाण के लक्षण में व्यवसायात्मक विशेषण के द्वारा बौद्धों के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में प्रामाण्य का निराकरण तो किया ही गया है, इसके साथ ही संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञानों का भी निराकरण किया गया है ।

यहाँ तत्त्वोपप्लववादी शंका करता है कि संशयादिज्ञानों का स्वरूप ही सिद्ध नहीं है, तब व्यवसायात्मक विशेषण से उनका निरास कैसे होगा ? संशय ज्ञान में धर्मी प्रतिभासित होता है अथवा स्थाणुत्वरूप या पुरूषत्वरूप धर्म प्रतिभासित होता है, इत्यादि विकल्पों द्वारा पूर्वपक्ष ने संशय ज्ञान के स्वरूप को असिद्ध प्रतिपादित किया है ।

यहाँ सिद्धान्तपक्ष यह है कि चलित प्रतिपत्तिरूप (दोलायमान ज्ञान रूप) संशय सब प्राणियों को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव में आता है । वह चाहे धर्मी को विषय करे अथवा धर्म को, किन्तु उक्त विकल्पों से उसके स्वरूप का अपह्नव (लोप) नहीं किया जा सकता है । यदि प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ का भी अपह्नव किया जाय तो सुख-दुःखादि का भी अपह्नव मानना पड़ेगा । संशय धर्मिविषयक है या धर्मविषयक इत्यादि विकल्प करने वाला व्यक्ति स्वयं संशयारूढ है । फिर वह संशय का निराकरण कैसे कर सकता है ? ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि संशय का कोई उत्पादक कारण नहीं है । समान धर्म ऊर्ध्वता सामान्य की उपलब्धि होने से और असमान धर्म (पुरुष के सिर, पाणि आदि और वृक्ष के वक्रकोटर आदि) के अनुपलब्ध होने से यह पुरुष है अथवा स्थाणु है ऐसा संशयरूप ज्ञान उत्पन्न होता है । चलितप्रतिपत्तिरूप उसका असाधारण स्वरूप तथा ऊर्ध्वतासामान्यरूप उसका विषय भी पाया ही जाता है । इस प्रकार संशयरूप ज्ञान के सद्भाव में कोई विप्रतिपत्ति (विवाद) नहीं है ।

विपर्यय ज्ञान में अख्याति आदि का विचार

किसी अर्थ में जो विपरीत ज्ञान होता है उसे विपर्यय ज्ञान कहते हैं । जैसे शुक्ति का (सीप) में रजत (चाँदी) का ज्ञान विपर्यय ज्ञान है । कुछ लोग विपर्यय ज्ञान को अख्याति आदि रूप मानते हैं । चार्वाक का कथन है कि विपर्ययज्ञान अख्यातिरूप है । सौत्रान्तिक उसे असत्ख्यातिरूप, सांख्य प्रसिद्धार्थख्यातिरूप, विज्ञानाद्वैतवादी आत्मख्यातिरूप, ब्रह्माद्वैतवादी अनिर्वचनीयार्थख्यातिरूप, नैयायिक-वैशेषिक विपरीतार्थख्यातिरूप और प्राभाकर विपर्ययज्ञान को स्मृतिप्रमोषरूप मानते हैं । अब इन्हीं मतों का यहाँ विचार किया जा रहा है ।

अख्यातिवाद—

अख्यातिवादी चार्वाक का कहना है कि मरीचिका में जो जलज्ञान होता है वह निरालम्बन है । उसका विषय न तो जल है और न मरीचिका है । यदि जल या मरीचिका उस ज्ञान का आलम्बन होता तो उस ज्ञान को अभ्रान्त होना चाहिए ।

चार्वाक का उक्त कथन ठीक नहीं है । यदि वहाँ कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता है तो मरीचिका में 'यह जल' है, शुक्तिका में 'यह रजत' है, ऐसा कथन कैसे बनेगा ? अत: वहाँ जल या रजत के रूप में प्रतिभासमान जो अर्थ है वही विपर्यय ज्ञान का आलम्बन (विषय) है । इसलिए विपर्ययज्ञान अख्यातिरूप नहीं है ।

असत्ख्यातिवाद—

सौत्रान्तिक का कथन है कि विपर्यय ज्ञान में प्रतिभासमान अर्थ सद्रूप नहीं है । शुक्तिका में शुक्तिका का प्रतिभास न होकर रजत का प्रतिभास होता है । किन्तु शुक्तिका में रजताकार तो है नहीं । इस कारण शुक्तिका में जो रजत का प्रतिभास होता है उसका नाम असत्ख्याति है ।

सौत्रान्तिक का उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि आकाशपुष्प आदि की तरह असत् अर्थ का प्रतिभास कभी भी नहीं हो सकता है । असत्ख्यातिवादियों के मत में विभिन्न प्रकार की भ्रान्तियाँ भी नहीं बन सकती हैं । क्योंकि उनके यहाँ न तो अर्थगत वैचित्र्य है और न ज्ञानगत वैचित्र्य है । और इसके अभाव में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ संभव नहीं हैं । अत: विपर्यय ज्ञान में प्रमाण प्रसिद्ध अर्थ ही भ्रान्तरूप से प्रतिभासित होता है । इस प्रकार असत्ख्यातिवाद निरस्त हो जाता है ।

प्रसिद्धार्थख्यातिवाद—

सांख्य का मत है कि विपर्यय ज्ञान प्रसिद्धार्थ की ख्यातिरूप होता है । अर्थात् मरीचिका में प्रतिभासित जलरूप अर्थ घट की तरह सत्यभूत है । यद्यपि उत्तरकाल में जलरूप अर्थ वहाँ नहीं मिलता है, तथापि जब उसका प्रतिभास होता है तब तो वह वहाँ विद्यमान ही रहता है ।

सांख्य का उक्त कथन अविचारित रमणीय है । यदि सब ज्ञानों को यथावस्थित अर्थग्राही (प्रसिद्धार्थग्राही) माना जावे तो ज्ञानों में भ्रान्त

और अभ्रान्त के व्यवहार का अभाव हो जायेगा । अर्थात् सब ज्ञान अभ्रान्त ही कहलायेंगे । यदि मरीचिका में पूर्वकाल में जल था और उत्तरकाल में जल का अभाव हो गया तो जल के चिह्न भूमि में स्निग्धता आदि वहाँ उपलब्ध होना चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है । अतः विपर्यय ज्ञान को प्रसिद्धार्थख्यातिरूप मानना तर्कसंगत नहीं है ।

आत्मख्यातिवाद—

विज्ञानाद्वैतवादी का मत है कि विपर्ययज्ञान आत्मख्यातिरूप होता है । विपर्ययज्ञान में जिस अर्थ का प्रतिभास होता है वह ज्ञान का ही आकार है किन्तु अनादिकालीन अविद्या के कारण वह ऐसा मालूम पड़ता है जैसे बाह्य अर्थ हो ।

विज्ञानाद्वैतवादी का उक्त मत केवल कथनमात्र है । क्योंकि यदि ज्ञान स्वात्ममात्रसंवित्तिनिष्ठ हो और अर्थाकार हो तभी उसमें आत्मख्याति की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं । जैनदर्शन ने ज्ञान को अर्थाकार नहीं माना है । यहाँ एक दोष यह भी है कि यदि सब ज्ञान स्वाकारमात्र ग्राही हों तो उनमें भ्रान्त और अभ्रान्त का भेद तथा बाध्य-बाधकभाव नहीं बनेगा । यदि रजतादि आकार का संवेदन स्वात्मनिष्ठ है तो सुखादि आकार की तरह उसकी बाह्यरूप से प्रतीति नहीं होनी चाहिए । अतः विपर्यय ज्ञान को आत्मख्यातिरूप मानना सर्वथा असंगत है ।

अनिर्वचनीयार्थख्यातिवाद—

ब्रह्माद्वैतवादी विपर्यय ज्ञान को अनिर्वचनीय अर्थ की ख्यातिरूप मानते हैं । उनका कहना है कि मरीचिका आदि में जलादिरूप अर्थ का प्रतिभास होता है, परन्तु वह जलादि अर्थ सत् नहीं है । यदि जलादि अर्थ सत् हो तो जलादि अर्थ के ज्ञान को अभ्रान्त मानना पड़ेगा । वहाँ जलादि अर्थ असत् भी नहीं है । यदि असत् हो तो आकाशपुष्प की तरह वह प्रतिभास और प्रवृत्ति का विषय नहीं हो सकता है । इस कारण विपर्यय ज्ञान में अनिर्वचनीय अर्थ की ख्याति होती है ।

ब्रह्माद्वैतवादी का उक्त मत मनोरथमात्र है । क्योंकि ब्रह्माद्वैत की सिद्धि होने पर उक्त मत की सिद्धि हो सकती है । परन्तु किसी भी प्रमाण से ब्रह्माद्वैत की सिद्धि नहीं होती है । एक बात यह भी है कि मरीचिका में

जल की भ्रान्तिरूप जो ज्ञान होता है उसमें प्रतिभासमान अर्थ अनिर्वचनीय नहीं हो सकता है । क्योंकि वहाँ नियत देश, काल और स्वभाववाला जो जलादि अर्थ प्रतिभासित होता है उसी में उस अर्थ के इच्छुक व्यक्ति की प्रवृत्ति देखी जाती है । अनिर्वचनीय अर्थ में प्रतिभास और प्रवृत्ति संभव नहीं है । तात्पर्य यह है कि विपर्यय ज्ञान में प्रतिभासित अर्थ अनिर्वचनीय नहीं होता है । अत: विपर्ययज्ञान को अनिर्वचनीय अर्थ की ख्यातिरूप मानना युक्तिसंगत नहीं है ।

स्मृतिप्रमोषवाद—

मीमांसकमतानुयायी प्राभाकरों का मत है कि विपर्ययज्ञान स्मृति-प्रमोषरूप होता है । शुक्तिका में 'इदं रजतम्' यह रजत है इस रूप में जो रजत ज्ञान होता है वह एक ज्ञान नहीं है किन्तु दो ज्ञान हैं । एक ज्ञान तो 'इदम्' रूप से होता है और दूसरा ज्ञान रजत रूप से होता है । वहाँ 'इदम्' पद के द्वारा सामने अवस्थित अर्थ का प्रतिभास होता है तथा 'रजतम्' पद के द्वारा पूर्व में अवगत रजत का सादृश्य आदि के निमित्त से स्मरण होता है । वह रजत का स्मरण भी अपने स्वरूप से प्रतिभासित नहीं होता है । इसलिए उसे स्मृतिप्रमोष कहते हैं । अर्थात् वहाँ स्मृति चुरा ली जाती है । जहाँ 'स्मरामि' ऐसा ज्ञान होता है वहाँ स्मृति का प्रमोष (चोरी) नहीं होता है । किन्तु 'स्मरामि' ऐसे ज्ञान के अभाव में विपर्यय ज्ञान में स्मृति का प्रमोष होता है । विपर्यय ज्ञान में 'मैं रजत का स्मरण कर रहा हूँ' ऐसा स्मृतिरूप ज्ञान तो होता नहीं है । अत: उसे स्मृतिप्रमोष मानना सर्वथा उचित है ।

प्राभाकरों का उक्त मत प्रमाण संगत नहीं है । उनका यह कथन सर्वथा गलत है कि 'इदं रजतम्' यहाँ प्रत्यक्ष और स्मरण ऐसे दो ज्ञान होते हैं । जिस प्रकार गुणयुक्त (निर्मल) चक्षुरादि इन्द्रियों से सत् वस्तु में एक ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार दोषयुक्त इन्द्रियों से असत् वस्तु में भी एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है । शुक्तिका के प्रतिभासित होने पर उसमें रजत का स्मरण कैसे संभव है जिससे कि वहाँ उसका प्रमोष बतलाया जा सके । घट के प्रतिभासित होने पर उसमें पट का स्मरण नहीं होता है । यदि रजत के स्थान में विपरीत वस्तु के जानने का नाम स्मृतिप्रमोष है तब तो वह

विपरीत अर्थ की ख्याति ही हुई । अर्थात् जिसे स्मृतिप्रमोष माना गया है वह तो सादृश्य के कारण शुक्तिका में उसके विपरीत रजत का ज्ञान है । इसी का नाम विपरीतार्थख्याति या विपर्ययज्ञान है । इस प्रकार 'इदं रजतम्' इस ज्ञान को स्मृतिप्रमोष कहना तर्क संगत नहीं है ।

विपरीतार्थख्यातिवाद—

नैयायिक, वैशेषिक तथा जैन विपर्यय ज्ञान को विपरीत अर्थ की ख्यातिरूप मानते हैं, जो युक्तिसंगत है । पुरुष के विपरीत स्थाणु में 'यह पुरुष है' ऐसी ख्याति को विपरीतार्थख्याति कहते हैं । इस ज्ञान में स्थाणु ही कुछ कारणों से पुरुषाकाररूप से प्रतिभासित होता है । शुक्तिका में जो रजत ज्ञान होता है वह भी विपरीतार्थख्याति का उदाहरण है । विपर्यय ज्ञान को विपरीतार्थख्यातिरूप मानने में कोई विसंगति नहीं है । विपर्यय ज्ञान मिथ्याज्ञान है और इसका निराकरण प्रमाण के लक्षण में व्यवसायात्मक विशेषण के द्वारा हो जाता है ।

प्रमाण के लक्षण में अपूर्वार्थ विशेषण का समर्थन करने के लिए अपूर्वार्थ का लक्षण बतलाते हैं—

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥ ४ ॥

जिस वस्तु का किसी यथार्थग्राही प्रमाण से अभी तक निश्चय नहीं हुआ है उसे अपूर्वार्थ कहते हैं । इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस अर्थ का स्वरूप ज्ञात न हो अथवा जिसका आकार विशेष ज्ञात न हो उसे अपूर्वार्थ कहते हैं । तात्पर्य यह है कि अनिश्चित, अज्ञात, अनवगत और अप्रतिपन्न ये सभी शब्द पर्यायवाची हैं । इस सूत्र में अपूर्व शब्द अर्थ का विशेषण है । प्रमाण कैसे अर्थ को जानता है ? प्रमाण उस अर्थ को जानता है जो अपूर्व हो । अर्थात् पूर्व में किसी प्रमाण से ज्ञात न हो ।

अपूर्वार्थ का एक दूसरा लक्षण भी है—

दृष्टोऽपि समारोपात् तादृक् ॥ ५ ॥

केवल अप्रतिपन्न (अदृष्ट) अर्थ ही अपूर्वार्थ नहीं है, किन्तु दृष्ट (प्रतिपन्न) अर्थ भी उसमें समारोप हो जाने के कारण अपूर्वार्थ कहलाता है । इस प्रकार के अर्थ का निश्चायक जो ज्ञान है वह प्रमाण होता है ।

केवल अनधिगत अर्थ को जानना ही प्रमाण का लक्षण नहीं है,

किन्तु अधिगत अर्थ में भी विशिष्ट प्रमा को उत्पन्न करने वाले ज्ञान को भी प्रमाण माना गया है । किसी ने पहले जाना कि यह वृक्ष है और फिर जाना कि यह आम्रवृक्ष है । यहाँ आम्रवृक्ष का ज्ञान विशिष्ट प्रमा को उत्पन्न करने के कारण अपूर्वार्थ का ही ज्ञान माना जायेगा । पहले तो वस्तुमात्र का ज्ञान होता है । इसके बाद यह सुख साधन है अथवा दु:ख का साधन है ऐसा ज्ञान होता है । यहाँ भी ज्ञात वस्तु में विशिष्ट प्रमा की उत्पत्ति होने से ज्ञात वस्तु का ज्ञान भी अपूर्वार्थ का ज्ञान माना जाता है । ज्ञात वस्तु में यदि संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय हो जाता है तो वह अर्थ समारोप हो जाने के कारण अपूर्वार्थ ही कहलाता है ।

अपूर्वार्थविचार—

कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसकों ने अपूर्व अर्थ के विज्ञान को प्रमाण माना है । इस विषय में उन्होंने कहा है—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥

अर्थात् जो अपूर्व अर्थ का विज्ञान है, निश्चित है, बाधारहित है, निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है और लोक सम्मत है वह प्रमाण कहलाता है ।

यहाँ इस बात पर विचार किया गया है कि मीमांसकों ने जो अपूर्वार्थ के विज्ञान को प्रमाण माना है वह ठीक नहीं है । अपूर्वार्थ के ज्ञान को प्रमाण मानने पर प्रत्यभिज्ञान में अप्रामाण्य का प्रसंग प्राप्त होगा । क्योंकि प्रत्यभिज्ञान अनुभूत अर्थ (पूर्वार्थ) को जानता है । यह सुनिश्चित है कि स्मृति और प्रत्यक्ष से ज्ञात अर्थ में प्रत्यभिज्ञान की प्रवृत्ति होती है । अपूर्वार्थग्राही ज्ञान को प्रमाण मानने पर अनुमान में भी अप्रमाणता प्राप्त होगी । क्योंकि अनुमान व्याप्तिज्ञान से ज्ञात विषय में प्रवृत्ति करता है । अपूर्वार्थ विज्ञान को प्रमाण मानने वालों के मत में द्विचन्द्र आदि का ज्ञान भी प्रमाण हो जायेगा । क्योंकि एक चन्द्र में किसी को जो दो चन्दमाओं का ज्ञान होता है वह भी अपूर्वार्थ का ज्ञान है । इत्यादि युक्तियों के द्वारा मीमांसकाभिमत अपूर्वार्थज्ञान में प्रमाणत्व का निराकरण किया गया है ।

यहाँ मीमांसकों द्वारा यह शंका की गई है कि जब स्याद्वादियों ने स्वयं

अपूर्वार्थ के ज्ञान को प्रमाण माना है तब मीमांसकों द्वारा अभिमत अपूर्वार्थ के ज्ञान में प्रामाण्य का निराकरण कहाँ तक उचित है ? इसका उत्तर यह है कि हमारे यहाँ सर्वथा अपूर्वार्थ के ज्ञान को प्रमाण नहीं माना गया है, किन्तु कथंचित् अपूर्वार्थ के ज्ञान को प्रमाण माना गया है । अर्थात् कोई भी अर्थ सामान्यरूप से गृहीत होने पर भी विशेषरूप से अगृहीत रहता है । प्रथम ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ में यदि दूसरे ज्ञान के द्वारा विशेष परिच्छित्ति होती है तो वह विषय उसके लिए अपूर्वार्थ ही है । एक ही वस्तु को विषय करने वाले आगम, अनुमान और प्रत्यक्ष में प्रामाण्य देखा जाता है । पहले वचन द्वारा सामान्यरूप से अग्नि की प्रतीति होती है, अनुमान से देशादि-विशिष्ट अग्नि की प्रतीति होती है और प्रत्यक्ष से आकारविशेष विशिष्ट अग्नि की प्रतीति होती है । यहाँ अग्नि में परिच्छित्ति विशेष के जनक होने के कारण अनुमान तथा प्रत्यक्ष को पूर्वार्थग्राही होने के कारण अप्रमाण नहीं माना जा सकता है । तात्पर्य यह है कि प्रमाण का विषय कथंचित् अपूर्वार्थ है, सर्वथा नहीं । मीमांसकों की मान्यता यह है कि प्रमाण का विषय सर्वथा अपूर्वार्थ है । उसी मान्यता का यहाँ निराकरण किया गया है ।

ब्रह्माद्वैतवाद

पूर्वपक्ष—

वेदान्तदर्शन के अनुयायी वेदान्तियों का कथन है कि इस संसार में एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता है । ब्रह्म को छोड़कर बाह्य अर्थ की कोई सत्ता नहीं है । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सर्वत्र एकत्व की अनुभूति होती है, भेद की नहीं । ब्रह्म प्रतिभासस्वरूप है और समस्त चेतन-अचेतन वस्तु समूह उस प्रतिभासमान ब्रह्म के ही अन्त:प्रविष्ट है । आगम में बतलाया गया है—

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ॥

अर्थात् वास्तव में जगत् में दृश्यमान जो कुछ है वह सब ब्रह्म है । यहाँ नाना (भेद) कुछ नहीं है । भेद का प्रतिभास तो अनादिकालीन अविद्या (माया) के कारण होता है । सब लोग चेतन-अचेतन रूप ब्रह्म की पर्यायों (आराम) को देखते हैं किन्तु ब्रह्म को कोई नहीं देखता है ।

वही ब्रह्म सब प्राणियों की उत्पत्ति का हेतु होता है । ऐसा ब्रह्माद्वैतवादियों का मत है ।

उत्तरपक्ष—

वेदान्तियों का उक्त मत युक्तिसंगत नहीं है । केवल अभेद (ब्रह्माद्वैत) की सत्ता किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है । प्रत्यक्ष से तो सर्वत्र भेद की ही प्रतीति होती है । प्रतीतिसिद्ध भेद का अपलाप नहीं किया जा सकता है । अनुमान प्रमाण से अभेद की सिद्धि मानने में द्वैत का प्रसंग प्राप्त होता है । यहाँ ब्रह्म साध्य है और अनुमान उसका साधक है । भेद के बिना उनमें साध्य-साधकभाव कैसे बन सकता है । यही बात 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि आगम के विषय में भी कही जा सकती है । यहाँ ब्रह्म प्रतिपाद्य है और आगम उसका प्रतिपादक है । किन्तु अभेद में प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव किसी भी प्रकार संभव नहीं है । ब्रह्म को सम्पूर्ण लोक की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का हेतु मानना भी असंगत है । क्योंकि अद्वैतैकान्त में कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है । कार्यकारणभाव तो द्वैत में ही पाया जाता है । अविद्या के द्वारा भेद की प्रतीति मानना भी युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि अविद्या को ब्रह्माद्वैतवादियों ने अवस्तु माना है और जो अवस्तु है वह किसी का कारण कैसे हो सकता है ? खरविषाण किसी का कारण नहीं होता है । अतः घटपटादि भेद तथा चेतन-अचेतन भेद अविद्यानिर्मित नहीं है । इत्यादि प्रकार से विचार करने पर ब्रह्माद्वैत के अभिनिवेश (दुराग्रह) को छोड़कर वास्तविक तथा प्रमाणसिद्ध चेतन और अचेतन रूप वस्तुओं के भेद को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है ।

विज्ञानाद्वैतवाद

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि बौद्धदार्शनिकों के चार भेद हैं—वैभाषिक (बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी) सौत्रान्तिक (बाह्यार्थानुमेयवादी) योगाचार (विज्ञानाद्वैतवादी) और माध्यमिक (शून्यवादी) ।

पूर्वपक्ष—

योगाचारमतावलम्बी विज्ञानाद्वैतवादियों का मत है कि विज्ञप्तिमात्र ही वास्तविक तत्त्व है और उस तत्त्व का ग्राहक ज्ञान प्रमाण है । ग्राह्य-ग्राहक के भेद से रहित विज्ञप्ति (ज्ञान) के अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य अर्थ की

सत्ता नहीं है । यद्यपि ज्ञानमात्र तत्त्व ग्राह्य और ग्राहक के भेद से रहित है, फिर भी वह अनादिकालीन अविद्या के कारण ग्राह्य और ग्राहक के भेद को लिए हुए प्रतिभासित होता है । वास्तव में तो वह विभागरहित है । इसी विषय में धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में कहा है—

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥

अर्थात् बुद्धि का स्वरूप अविभाग (विभाग रहित) है । किन्तु विपरीत-ज्ञानयुक्त पुरुषों के द्वारा उसमें ग्राह्य और ग्राहक के भेद की कल्पना कर ली जाती है । और भी देखिए—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥

अर्थात् बुद्धि के द्वारा अन्य कोई बाह्य अर्थ ग्राह्य नहीं है और उस बुद्धि का भी अन्य कोई ग्राहक नहीं है । वह बुद्धि ग्राह्य और ग्राहक के वैधुर्य (अभाव) के कारण स्वयं प्रकाशित होती है ।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बाह्यार्थ के अभाव में भी बाह्यार्थ का ज्ञान हो जाता है । जैसे तिमिररोग वाले पुरुष को दो चन्द्र के अभाव में भी द्विचन्द्र दर्शन हो जाता है । यथार्थ में ज्ञानाकार ही ज्ञेयाकाररूप से प्रतिभासित होता है । नील पदार्थ और नील पदार्थ का ज्ञान इन दोनों में सहोपलंभ-नियम पाया जाता है । अर्थात् दोनों (अर्थ और अर्थ का ज्ञान) साथ साथ रहते हैं । इस सहोपलंभनियम से नील और नीलबुद्धि में अभेद सिद्ध होता है । कहा भी है—

सहोपलंभनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।

इस प्रकार विज्ञानाद्वैतवादी विज्ञप्तिमात्र तत्त्व की सिद्धि करते हैं ।

उत्तरपक्ष—

विज्ञानाद्वैतवादियों का उक्त मत तर्कसंगत नहीं है । क्योंकि विज्ञानमात्र तत्त्व का साधक कोई प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्ष से तो विज्ञानमात्र तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है । उसके द्वारा तो ज्ञान की तरह अश्व, गज, घट, पट आदि बाह्य पदार्थों की भी सिद्धि होती है । प्रत्यक्ष में प्रतिभासमान होने पर भी यदि बाह्य अर्थ का अभाव माना जायेगा तो विज्ञप्तिमात्र तत्त्व का भी

अभाव मानना पड़ेगा । अनुमान से भी विज्ञप्तिमात्र की सिद्धि संभव नहीं है । क्योंकि ज्ञानमात्र का साधक जो भी अनुमान होगा वह प्रत्यक्षबाधित होने के कारण अप्रमाण ही कहलायेगा ।

इस प्रकार बाह्यार्थ के सद्भाव में कोई बाधक प्रमाण न होने से तथा उसके साधक प्रमाण के सद्भाव से बाह्यार्थ की सत्ता निर्विवाद सिद्ध होती है । विज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ की सत्ता के बिना द्विचन्द्रदर्शन भी संभव नहीं है । चक्षु इन्द्रिय में दोष के कारण बाह्य में स्थित एक चन्द्र में जो द्विचन्द्र का ज्ञान हो जाता है वह बाह्यार्थ के सद्भाव में ही संभव है । विज्ञानाद्वैतवादी अर्थ और ज्ञान में सहोपलंभनियम की बात करते हैं । किन्तु उनमें सहोपलंभ असिद्ध है । ऐसा नहीं है कि सदा ही अर्थ और ज्ञान का उपलंभ एक साथ देखा जाता हो, क्योंकि बाह्य अर्थ के उपलंभ के बिना भी सुखादि का संवेदन देखा जाता है । स्वरूप और कारण के भेद से भी अर्थ और ज्ञान में भेद सिद्ध होता है । विज्ञान ग्राहकस्वरूप है और नीलादि अर्थ ग्राह्यस्वरूप है । इसी प्रकार अर्थ और ज्ञान में कारणभेद सुप्रसिद्ध है । चक्षुरादि कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है और नीलादि अर्थ दूसरे कारणों से उत्पन्न होता है । यदि विज्ञानाद्वैत का साधक कोई प्रमाण है तो द्वैत का प्रसंग प्राप्त होगा । और यदि अद्वैत का साधक कोई प्रमाण नहीं है तो फिर विज्ञानाद्वैत के अस्तित्व की सिद्धि कैसे होगी ? क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण की सत्ता पर निर्भर है । प्रमाण के अभाव में प्रमेय की सिद्धि किसी प्रकार संभव नहीं है । इस प्रकार विचार करने पर विज्ञप्तिमात्र तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है ।

चित्राद्वैतवाद

पूर्वपक्ष—

विज्ञानाद्वैतवाद के अन्तर्गत एक मत चित्राद्वैवादियों का है । ये लोग ज्ञान में नील, पीत आदि अनेक आकार मानते हैं । इनका कहना है कि ज्ञान चित्र (नाना) प्रतिभासवाला होकर भी एक ही है, क्योंकि यह बाह्य चित्र से विलक्षण है । बाह्य अर्थ वस्त्रादि में नील, पीत आदि अनेक आकार होते हैं और हम इन आकारों को पृथक् पृथक् कर सकते हैं । किन्तु ज्ञान में जो अनेकआकार होते हैं उनका पृथक्करण नहीं किया जा सकता है । संक्षेप में यही चित्राद्वैतवादियों का मत है ।

उत्तरपक्ष—

यह मत समीचीन नहीं है । जिस प्रकार विज्ञानाद्वैत की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती है उसी प्रकार चित्राद्वैत की सिद्धि भी किसी प्रमाण से नहीं होती है । प्रत्यक्ष से ऐसे किसी ज्ञान की प्रतीति नहीं होती है जो चित्राकार (अनेकाकार) हो । नील अर्थ और नील ज्ञान में पृथक्करण देखा ही जाता है । नील अर्थ बहिर्देश से सम्बन्ध रखता है और नील ज्ञान अन्तर्देश से सम्बन्धित है । जिस प्रकार चित्राद्वैतवादियों के यहाँ एक ज्ञान में युगपत् नीलादि अनेक आकार पाये जाते हैं, उसी प्रकार प्रमाता में क्रम से अनेक सुखादि आकार पाये जाने के कारण यह सिद्ध होता है कि कथंचित् अक्षणिक और नीलादि अनेक पदार्थों का व्यवस्थापक कोई प्रमाता है । इस प्रकार चित्राद्वैतवादियों का मत निरस्त हो जाता है ।

शून्याद्वैतवाद

पूर्वपक्ष—

बौद्ध दार्शनिकों में एक मत माध्यमिकों का है । माध्यमिक मानते हैं कि इस विश्व में न तो बाह्य अर्थ घटपटादि की सत्ता है और न अन्तरंग अर्थ ज्ञान की सत्ता है । तथा सब प्रकार की सत्ता के अभाव का नाम है शून्याद्वैत । उनके अनुसार एक मात्र शून्य ही तत्त्व है, अन्य कुछ भी नहीं है । माध्यमिकों का यही शून्याद्वैतवाद है जो कल्पनामात्र है ।

उत्तरपक्ष—

यहाँ माध्यमिकों से पूछा जा सकता है कि शून्याद्वैत की सिद्धि प्रमाण से होती है या प्रमाण के बिना । प्रथम पक्ष में शून्याद्वैत की सिद्धि कैसे संभव होगी ? क्योंकि शून्यता के सद्भाव को बतलाने वाले प्रमाण का सद्भाव मान लिया गया है । तथा प्रमाण के सद्भाव में शून्याद्वैत का निषेध स्वयं हो जाता है । द्वितीय पक्ष में तो शून्यता की सिद्धि असंभव ही है । क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के बिना नहीं हो सकती है । जब शून्यता का साधक कोई प्रमाण ही नहीं है तो शून्यता की सिद्धि कैसे होगी । हम देखते हैं कि सब लोगों को बाह्य पदार्थ घटादि तथा अश्वादि का स्पष्ट प्रतिभास होता है । तब विचारशील लोग शून्याद्वैत को कैसे स्वीकार करेंगे । तात्पर्य यह है कि शून्यता कोई वास्तविक तत्त्व न होकर मात्र काल्पनिक तत्त्व है ।

स्वव्यवसाय का स्वरूप

ज्ञान स्वव्यवसायात्मक होता है इस बात को आगे के सूत्र में बतलाया जा रहा है ।

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥ ६ ॥

ज्ञान स्व का व्यवसाय (निश्चय) करता है । वह व्यवसाय किस रूप में होता है ? अपना व्यवसाय करने के समय ज्ञान का प्रतिभासन (संवेदन) अपने उन्मुखरूप से होता है । अर्थात् उस समय ज्ञान की दृष्टि अपनी ओर रहती है, बाहर की ओर नहीं । इसी बात को सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त देते हैं—

अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥ ७ ॥

जिस प्रकार ज्ञान अर्थ के उन्मुख होकर अर्थ का व्यवसाय करता है उसी प्रकार ज्ञान अपने उन्मुख होकर अपना व्यवसाय करता है । तात्पर्य यह है कि ज्ञान स्व और अर्थ दोनों का व्यवसाय करता है । जब ज्ञान की दृष्टि अपनी ओर रहती है तब स्वव्यवसाय होता है और जब उसकी दृष्टि बाहर की ओर रहती है तब अर्थ का व्यवसाय होता है । स्वव्यवसाय स्वोन्मुख होता है और अर्थव्यवसाय अर्थोन्मुख होता है ।

अचेतनज्ञानवाद

पूर्वपक्ष—

सांख्यदर्शन में ज्ञान को अचेतन माना गया है । इस दर्शन में मुख्यरूप से दो तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष । इनमें से प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन है । ज्ञान की उत्पत्ति प्रकृति से होती है । ज्ञान प्रकृति का धर्म या पर्याय है । इस कारण ज्ञान अचेतन है । पुरुष का स्वरूप चैतन्य है । सांख्य ज्ञान और चैतन्य में भेद मानते हैं और ज्ञान को पुरुष का धर्म न मानकर प्रकृति का धर्म मानते हैं । यही सांख्य का अचेतनज्ञानवाद है । सांख्य का कहना है कि अचेतन होने के कारण घट की तरह ज्ञान स्वव्यवसायात्मक नहीं होता है । ऐसा सांख्य का मत है ।

उत्तरपक्ष—

सांख्य का उक्त मत सर्वथा असंगत है । ज्ञान को प्रकृति की पर्याय मानना ठीक नहीं है । यर्थाथ में ज्ञान प्रकृति की पर्याय न होकर आत्मा की

पर्याय है । हम कह सकते हैं कि द्रष्टा होने के कारण आत्मा ज्ञानपर्याय से युक्त है । जो ज्ञानपर्याय से युक्त नहीं होता है वह घट की तरह द्रष्टा नहीं हो सकता है । यत: आत्मा द्रष्टा है अत: वह ज्ञानपर्यायवान् है । प्रकृति को ज्ञान सम्पन्न मानने पर प्रकृति ही द्रष्टा हो जायेगी । तब आत्मा की कल्पना करना व्यर्थ ही है । जिस प्रकार आत्मा में 'मैं चेतन हूँ' ऐसा अनुभव होता है, उसी प्रकार 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसा अनुभव भी होता है । और ऐसा अनुभव होने से आत्मा में ज्ञानस्वभाव की सिद्धि होती है । ज्ञान के संसर्ग से आत्मा को ज्ञाता मानने पर चैतन्य के संसर्ग से आत्मा को चेतन मानना पड़ेगा, स्वभाव से नहीं । वास्तव में चैतन्य, बुद्धि, ज्ञान और अध्यवसाय—ये शब्द पर्यायवाची हैं । तथा आत्मा में चैतन्य की तरह ज्ञान भी स्वभाव से ही पाया जाता है । सांख्य मत में एक दोष यह भी है कि यदि ज्ञान अचेतन है तो वह विषय का व्यवस्थापक नहीं हो सकता है । अचेतन ज्ञान में विषयाकारता मानकर भी विषयव्यवस्थापकत्व नहीं बन सकता है । अन्यथा दर्पण में भी घटादि पदार्थों के आकाररूप विषयाकारता होने से ज्ञानरूपता का प्रसंग प्राप्त होगा । अमूर्त होने के कारण ज्ञान में विषयाकारता भी नहीं बन सकती है । विषयाकारता तो मूर्त दर्पणआदि में ही देखी जाती है । इत्यादि प्रकार से विचार करने पर सांख्य का अचेतनज्ञानवाद निरस्त हो जाता है ।

साकारज्ञानवाद

पूर्वपक्ष—

बौद्ध ऐसा मानते हैं कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है और अर्थाकार होता है । हमें जो घट का ज्ञान होता है वह घट से उत्पन्न होता है और घटाकार होता है । इसीप्रकार सब ज्ञानों के विषय में समझना चाहिए । घट ज्ञान को घटाकार होना आवश्यक है । घटज्ञान घट को ही क्यों जानता है, पट को क्यों नहीं जानता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि घटाकार होने के कारण ही घटज्ञान घट को जानता है, वह पटाकार नहीं है, अत: पट को नहीं जानता है । ज्ञान में अर्थाकारता विषय की व्यवस्थापक होती है । इसी विषय में धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में कहा है—

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।

तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥

अर्थात् यदि ज्ञान में अर्थरूपता न हो तो ज्ञान का अर्थ के साथ संयोजन नहीं हो सकता है । अर्थरूपता के कारण ही प्रमेय की अधिगति (प्रमिति) होती है । इसलिए मेयरूपता (अर्थाकारता) प्रमाण है । बौद्धों ने अर्थसारूप्य को प्रमाण माना है और अर्थ की अधिगति को फल माना है । यही बौद्धों का साकारज्ञानवाद है ।

उत्तरपक्ष—

जैन दार्शनिक कहते हैं कि बौद्धों का उक्त प्रकार का साकारज्ञानवाद प्रमाणसंगत नहीं है । हम देखते हैं कि घटादि के आकार से रहित ज्ञान ही घटादि अर्थ का ग्राहक होता है । ज्ञान दर्पणादि की तरह अर्थ के आकार को धारण नहीं करता है । यदि ज्ञान अर्थ के आकार को धारण करता हो तो पदार्थों में दूर, निकट आदि के व्यवहार का अभाव हो जायेगा । किन्तु वह पर्वत दूर है, मेरा हाथ निकट है, इत्यादि अबाधित व्यवहार देखा जाता है । ऐसा व्यवहार ज्ञान के साकार मानने पर नहीं बन सकता है । घट से उत्पन्न हुआ ज्ञान घट के आकार को धारण करता है ऐसा मानने वालों से हम कह सकते हैं कि फिर तो उसे घट की जड़ता को भी धारण करना चाहिए । किन्तु क्या ज्ञान घट की जड़ता को धारण करता है ? ऐसा मानना तो स्वयं बौद्धों को भी अनिष्ट है । ज्ञान को प्रमाण मानने के कारण ही उसमें अर्थाकारता का अभाव सिद्ध होता है । ज्ञान को अर्थाकार मानने पर तो वह घटादि की तरह प्रमेय ही कहलायेगा और उसमें प्रमाणत्व का व्याघात हो जायेगा । ज्ञान में प्रमेयरूपता और प्रमाणरूपता दोनों बातें नहीं बन सकती हैं । क्योंकि प्रमाण को अन्तर्मुखाकार होने से और प्रमेय को बहिर्मुखाकार होने से दोनों में भेद स्पष्ट है ।

बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि अर्थाकारता के बिना ज्ञान का अर्थ के साथ संयोजन (सम्बन्ध) नहीं हो सकता है । क्योंकि ज्ञान में अर्थरूपता के कारण अर्थ के साथ संयोजन नहीं होता है, किन्तु स्वकारणों से उत्पन्न ज्ञान अर्थसम्बद्ध ही उत्पन्न होता है । ऐसा नहीं है कि पहले ज्ञान उत्पन्न हो और बाद में उसका अर्थ के साथ संयोजन हो । बौद्ध ऐसा मानते हैं कि अर्थ से उत्पन्न ज्ञान अर्थाकार होता है । यहाँ प्रश्न यह है कि अर्थ की

तरह ज्ञान इन्द्रिय से भी तो उत्पन्न होता है, फिर वह इन्द्रियाकार क्यों नहीं होता है । बौद्धों का मत है कि घटाकार होने के कारण घटज्ञान घट को जानता है । इस विषय में जैनाचार्यों का मत यह है कि घटज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण घटज्ञान घट को जानता है । इत्यादि प्रकार से विचार करने पर बौद्धों का साकारज्ञानवाद निराकृत हो जाता है ।

भूतचैतन्यवाद

पूर्वपक्ष—

चार्वाक मत में शरीर से पृथक् कोई आत्मा नहीं है । पृथिवी, जल, अग्नि और वायु-इन चार भूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है । इसी कारण चैतन्य आत्मा का धर्म या गुण न होकर शरीर का धर्म है । जिस प्रकार धातकी, गुड़, महुआ आदि मादक द्रव्यों के संमिश्रण से मदशक्ति की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार पृथिवी आदि भूतों के द्वारा उत्पन्न शरीर-रूप अवस्थाविशेष में चैतन्य की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति होती है । इसी का नाम भूतचैतन्यवाद है । चार्वाक मत में आत्मा, परलोक, मोक्ष आदि कुछ भी नहीं है । मृत्युपर्यन्त वर्तमान जीवन ही सब कुछ है । जिस प्रकार भी संभव हो सुखपूर्वक जीवन बिताना ही चार्वाक का लक्ष्य है । कहा भी है—**यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्** ।

उत्तरपक्ष—

चार्वाक का उक्त भूतचैतन्यवाद प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है । चैतन्य या ज्ञान को भूतों का परिणमन मानने पर दर्पणादि की तरह ज्ञान का बाह्येन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होना चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है । भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति संभव भी नहीं है । पृथिवी आदि भूत चैतन्य की उत्पत्ति में उपादान कारण नहीं हो सकते हैं । क्योंकि दोनों के पृथक् पृथक् असाधारण लक्षण होने के कारण दोनों विजातीय हैं । चैतन्य का असाधारण लक्षण है—ज्ञानदर्शनरूप उपयोग तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन भूतों का क्रमशः असाधारण लक्षण है—धारण, द्रव, उष्णता और ईरण (बहना) । पृथिवी आदि चार भूत ज्ञानदर्शनरूप उपयोग लक्षण वाले नहीं हैं । क्योंकि वे अनेक लोगों के द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं । और जिसमें ज्ञानदर्शनोपयोगरूप लक्षण पाया जाता है उसका अनेक लोगों के द्वारा

प्रत्यक्ष नहीं होता है, जैसे चैतन्य । अत: यह निश्चित है कि भूत और चैतन्य विजातीय हैं । और विजातीय होने के कारण भूत चैतन्य के उपादान कारण नहीं हो सकते हैं । किसी भी पदार्थ का उपादान कारण सजातीय ही होता है । जैसे कि मिट्टीरूप द्रव्य घट का उपादान कारण होता है । अत: भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति कदापि नहीं हो सकती है ।

चार्वाक का यह कहना भी ठीक नहीं है कि आत्मा की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती है । मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ, इत्यादिरूप अहंप्रत्यय (मैं का ज्ञान) के द्वारा आत्मा का ही ग्रहण होता है । और जो अहंप्रत्यय-जन्य ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है । अत: हम कह सकते हैं कि आत्मा की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है । इसी प्रकार अनुमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि होती है । आत्मसाधक अनुमान इस प्रकार है—घटादि पदार्थों का ज्ञान कहीं आश्रित है, गुण होने से, रूपादि की तरह । और जो ज्ञानगुण का आश्रय है वही आत्मा है । ज्ञान को शरीर, इन्द्रिय, मन और विषय का गुण नहीं माना जा सकता है । चैतन्य शरीर का गुण नहीं है, क्योंकि मृत्यु की अवस्था में शरीर के विद्यमान रहने पर भी चैतन्य की निवृत्ति हो जाती है । चैतन्य इन्द्रियों का भी गुण नहीं है । यदि चैतन्य इन्द्रियों का गुण होता तो किसी इन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर चैतन्य की प्रतीति नहीं होनी चाहिए । क्योंकि गुणी के नष्ट हो जाने पर गुण की प्रतीति नहीं होती है । इसी प्रकार चैतन्य मन और विषय का भी गुण सिद्ध नहीं हो सकता है । इस प्रकार युक्तिपूर्वक विचार करने पर भूतचैतन्यवाद विज्ञजनों द्वारा उपेक्षणीय ही ठहरता है ।

प्रमेय की तरह प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति का भी प्रत्यक्ष होता है, इस बात को आगे के सूत्र में बतलाते हैं—

घटमहमात्मना वेद्मि ॥ ८ ॥

मैं घट को आत्मा (ज्ञान) से जानता हूँ । यहाँ घट प्रमेय है, 'अहम्' (मैं) प्रमाता है, ज्ञान प्रमाण है और जानता हूँ यह प्रमिति है । कहने का तात्पर्य यह है कि प्रमाण के द्वारा केवल प्रमेय की ही प्रतीति नहीं होती है, किन्तु प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति की भी प्रतीति होती है । इसी बात को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते है :—

कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥

कर्म की तरह कर्ता, करण और क्रिया की प्रतीति होती है । घट कर्म है, 'अहम्' (मैं) कर्ता है, ज्ञान करण है और जानता हूँ यह क्रिया है ।

इस सूत्र का तात्पर्य यही है कि केवल कर्म (घटादि) की ही प्रतीति नहीं होती है, किन्तु कर्ता, करण और क्रिया (प्रमिति) की भी प्रतीति होती है । यहाँ घट को कर्म कहने का तात्पर्य यह है कि घट ज्ञान का विषय या प्रमेय है । व्याकरण के अनुसार कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । 'घटम्' यहाँ द्वितीया विभक्ति है । जब कोई क्रिया होती है तो उसके लिए कर्ता, कर्म और करण इन तीन की आवश्यकता होती है । जैसे देवदत्त कुठार से लकड़ी को काटता है । यहाँ काटना क्रिया है, देवदत्त कर्त्ता है, कुठार करण है और लकड़ी कर्म है । उसी प्रकार मैं ज्ञान से घट को जानता हूँ, यहाँ 'मैं' कर्त्ता है, घट कर्म है, ज्ञान करण है और जानता हूँ क्रिया है । क्रिया का जो प्रमुख कारण होता है उसे करण कहते हैं । जैसे जाननेरूप क्रिया का प्रमुख कारण ज्ञान है, काटनेरूप क्रिया का प्रमुख कारण कुठार है । प्रमुख कारण को ही साधकतम अथवा करण कहते हैं ।

स्वसंवेदनज्ञानवाद

यहाँ विचारणीय बात यह है कि जिस प्रकार ज्ञान घट का प्रत्यक्ष करता है, क्या उसी प्रकार वह अपना भी प्रत्यक्ष करता है ? ज्ञान को अपना संवेदन होता है या नहीं । इस विषय में परोक्षज्ञानवादी मीमांसक का मत है कि ज्ञान अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है । उनके अनुसार ज्ञान परोक्ष है और वह अपना संवेदन नहीं करता है । इस मत के विपरीत जैनदर्शन का मत है कि जिस प्रकार ज्ञान घटादि प्रमेय का प्रत्यक्ष करता है, उसी प्रकार वह अपना भी प्रत्यक्ष करता है । मीमांसक मानते हैं कि ज्ञान अर्थ को तो जानता है किन्तु स्वयं अपने को नहीं जानता है । इस विषय में जैनदर्शन का कहना है कि यदि ज्ञान स्वयं को न जाने तो वह अर्थ को भी नहीं जान सकता है । यदि ज्ञान अप्रत्यक्ष है तो वह अर्थ का प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है । अर्थ की तरह ज्ञान में भी प्रत्यक्षता प्रतीति सिद्ध है । जो व्यक्ति ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानता है वह ज्ञान के अस्तित्व की सिद्धि कैसे करेगा । अर्थात् परोक्षज्ञानवादी मीमांसक के मत में ज्ञान के सद्भाव

की सिद्धि संभव नहीं है । यतः ज्ञान अर्थ की ज्ञप्ति (ज्ञान) में साधकतम (करण) होता है अतः उसको स्वव्यवसायात्मक मानना आवश्यक है । इसलिए परोक्षतैकान्तवाद के आग्रह को छोड़कर ज्ञान को अर्थव्यवसायात्मक की तरह स्वव्यवसायात्मक भी मानना चाहिए । उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार अर्थ का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार कर्ता (आत्मा) करण (ज्ञान) और क्रिया (प्रमिति) का भी प्रत्यक्ष होता है ।

यहाँ कोई शंका करता है कि मैं ज्ञान से घट को जानता हूँ, ऐसी प्रतीति केवल शब्दजन्य प्रतीति है । इससे प्रमाता आदि में प्रत्यक्षता की सिद्धि नहीं हो सकती है । इस शंका के समाधान के लिए आचार्य आगे का सूत्र कहते हैं—

शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥ १० ॥

जिस प्रकार घट शब्द के उच्चारण के बिना भी घट के स्वरूप का प्रतिभास होता है, उसी प्रकार प्रमाता आदि शब्दों का उच्चारण नहीं करने पर भी प्रमाता आदि के स्वरूप का प्रतिभास होता है । अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रमाता आदि की प्रतीति केवल शब्दजन्य है और प्रमाता आदि का कोई वास्तविक आलम्बन नहीं है । प्रमाता आदि शब्दों का उच्चारण तो प्रमाणसिद्ध प्रमाता आदि के स्वरूप को बतलाने के लिए किया जाता है ।

सुखादि में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि

यहाँ मीमांसक का कथन है कि जिस प्रकार सुखादिसंवेदन का प्रत्यक्ष न होने पर भी सुखादि का प्रतिभास हो जाता है उसी प्रकार अर्थ के संवेदन का प्रत्यक्ष न होने पर भी अर्थका प्रतिभास हो जाता है ।

मीमांसक का उक्त कथन अविचारित रमणीय है । ऐसा नहीं है कि ज्ञान से सुखादि भिन्न हैं । वास्तव में आह्लादनाकार परिणत ज्ञानविशेष का नाम ही सुख है । और यह बात अनुभव सिद्ध है कि इस प्रकार के सुखादि का प्रत्यक्ष होता है । यदि सुखादि अप्रत्यक्ष हों और अत्यन्त परोक्ष ज्ञान के द्वारा ग्राह्य हों तो सुख के द्वारा आत्मा का अनुग्रह और दुःख के द्वारा आत्मा का उपघात (अहित) संभव नहीं है । अतः इसमें सन्देह नहीं है कि सुखादि का प्रत्यक्ष होता है ।

नैयायिक-वैशिषिकों की मान्यता है कि आत्मा के गुण सुखादि का प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु वह स्वतः न होकर दूसरे ज्ञान से होता है। क्योंकि स्वात्मा में क्रिया का विरोध पाया जाता है। कोई भी क्रिया स्वयं अपने में नहीं होती है।

नैयायिक-विशेषिक के इस कथन में भी प्रत्यक्ष से विरोध आता है। ऐसा नहीं है कि घटादि की तरह सुखादि पहले अज्ञातस्वरूपवाला उत्पन्न होता हो, इसके बाद उसका इन्द्रिय से सम्बन्ध होता हो और इन्द्रिय सम्बन्ध के द्वारा करणरूप ज्ञान उत्पन्न होता हो और तदनन्तर उस ज्ञान के द्वारा सुखादि का ग्रहण होता हो। किन्तु प्रथम बार में ही इष्ट और अनिष्ट विषय के अनुभव के अनन्तर स्वप्रकाशरूप सुखादि की प्रतीति हो जाती है। यदि आत्मा से सुखादि में अत्यन्त भेद हो और ज्ञानान्तर (दूसरे ज्ञान) से सुखादि का ग्रहण होता तो उनमें आत्मीय और परकीय का भेद नहीं बन सकेगा। ये सुखादि आत्मीय हैं और ये परकीय हैं, ऐसा कथन किस आधार पर होगा। तथ्य तो यह है कि ज्ञान से भिन्न सुखादि का प्रतिभास नहीं होता है, किन्तु सुखाकार परिणत ज्ञानविशेष ही सुख है और वह प्रत्यक्ष है। यह भी एक तथ्य है कि ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य--ये सब आत्मा के गुण हैं और आत्मा की तरह इन सबका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। आत्मा और आत्मा के समस्त गुणों का स्वतः ही प्रतिभास होता है, अन्य किसी ज्ञानान्तर से नहीं। इस प्रकार आत्मा में तथा उसके गुण सुखादि में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि होती है। स्वात्मा में क्रिया का जो विरोध बतलाया गया है वह भी सर्वथा ठीक नहीं है। क्योंकि उत्पत्तिरूप क्रिया में तो विरोध बतलाना ठीक है। किसी पदार्थ की उत्पत्ति स्वतः नहीं होती है, किन्तु पर से ही होती है। इसके विपरीत ज्ञप्तिरूप क्रिया के समय स्वात्मा में क्रिया के विरोध की कोई बात नहीं है। आत्मा, ज्ञान, सुख आदि में ज्ञप्तिरूप क्रिया स्वात्मा में ही होती है और स्वतः होती है, परतः नहीं।

ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद

पूर्वपक्ष—

नैयायिक-वैशाषिकों का मत है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष स्वतः न होकर अन्य ज्ञान से होता है। प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष

द्वितीय ज्ञान से और द्वितीय ज्ञान का प्रत्यक्ष तृतीय ज्ञान से होता है । ऐसी मान्यता का नाम है—ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद । नैयायिक अपने इस मत को अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हैं । वह अनुमान इस प्रकार है—

ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् पटादिवत् ।

अर्थात् ज्ञान ज्ञानान्तर से वेद्य होता है, प्रमेय होने से, पटादि की तरह । स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से भी ज्ञान का संवेदन स्वतः नहीं हो सकता है । सुतीक्ष्ण तलवार स्वयं अपने को नहीं काट सकती है, सुशिक्षित नट स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता है । इसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं अपने को नहीं जान सकता है । ये सब अपने में क्रियाविरोध के उदाहरण हैं । काटने रूप क्रिया स्वयं अपने में न होकर दूसरी वस्तु में ही होती है, नट द्वारा चढ़ने रूप क्रिया स्वयं के कन्धे पर न होकर दूसरे पदार्थ में ही होती है । इसी प्रकार ज्ञान के द्वारा जानने रूप क्रिया भी स्वयं में न होकर घटादि पदार्थों में ही होती है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का संवेदन स्वतः न होकर अन्य ज्ञान से ही होता है ।

उत्तरपक्ष—

नैयायिकों का उक्त मत समीचीन नहीं है । यदि प्रथम ज्ञान का संवेदन द्वितीय ज्ञान से और द्वितीय ज्ञान का संवेदन तृतीय ज्ञान से माना जायेगा तो इस प्रकार की प्रक्रिया का कहीं विराम नहीं होने के कारण अनवस्थादोष प्राप्त होगा । इस दोष को दूर करने के लिए ज्ञानान्तरवेद्य-ज्ञानपरम्परा में यदि किसी ज्ञान को स्वतः वेद्य मान लिया जाता है तो प्रथम ज्ञान को ही स्वतः वेद्य मानने में क्या हानि है । पहले बतलाया जा चुका है कि सुख का संवेदन स्वतः होता है । इसी प्रकार ज्ञान का संवेदन भी स्वतः ही होता है । ज्ञान में प्रमाणत्व और प्रमेयत्व—ये दोनों धर्म एक साथ रह सकते हैं । इसमें कोई विरोध नहीं है । ज्ञान 'जानता है' इस अपेक्षा से वह प्रमाण है और 'जाना जाता है' इस अपेक्षा से वह प्रमेय है । नैयायिक महेश्वर के ज्ञान को स्वतः ही वेद्य मानते हैं, परतः नहीं । इसी प्रकार सब ज्ञानों को भी वैसा ही मानना चाहिए । स्वात्मा में क्रिया का विरोध बतलाना भी ठीक नहीं है । यह ठीक है कि कोई भी तलवार अपने को नहीं काट सकती । किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि कोई ज्ञान स्वयं को नहीं

जान सकता है । काटने में और जानने में बहुत अन्तर है । उत्पत्तिरूप क्रिया, ज्ञप्तिरूप क्रिया इत्यादि के भेद से क्रिया कई प्रकार की होती है । ज्ञान में उत्पत्तिरूप क्रिया का विरोध अवश्य पाया जाता है । हम यह नहीं कहते हैं कि ज्ञान स्वयं अपने से उत्पन्न होता है । हमारा तो कहना है कि ज्ञान अपने कारणों से उत्पन्न होता है । अत: ज्ञान में उत्पत्तिरूप क्रिया का विरोध होने पर भी ज्ञप्तिरूप क्रिया का विरोध नहीं है । ज्ञप्ति तो ज्ञान का स्वरूप है और स्वरूप के साथ स्वरूपवान् का विरोध कैसे संभव हो सकता है । अन्यथा दीपक में भी स्वप्रकाशन का विरोध मानना पड़ेगा । इसलिए अपने कारणों से उत्पन्न ज्ञान स्वपरप्रकाशक ही उत्पन्न होता है । इस प्रकार यह अच्छी तरह से सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक ज्ञान स्वसंवेद्य ही होता है, ज्ञानान्तरसंवेद्य नहीं ।

इसी बात को बतलाने के लिए आचार्य आगे का सूत्र कहते हैं—

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥ ११ ॥

ऐसा कौनसा लौकिक अथवा परीक्षक पुरुष है जो प्रमाण से प्रतिभासित अर्थ को प्रत्यक्ष मानता हुआ प्रमाण को ही प्रत्यक्ष न माने । अर्थात् ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है । जो परीक्षक और विवेकी पुरुष है वह तो प्रमाण को प्रत्यक्ष मानता ही है, किन्तु जो गोपाल आदि लौकिक पुरुष है वह भी प्रमाण को प्रत्यक्ष ही मानेगा । क्योंकि उसे ऐसी ही प्रतीति होती है । जब प्रमाण से प्रतिभासित अर्थ में प्रत्यक्षत्व पाया जाता है तो उस प्रमाण में भी प्रत्यक्षत्व होना ही चाहिए । इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त देते हैं—

प्रदीपवत् ॥ १२ ॥

दीपक की तरह । जिस प्रकार दीपक स्वपरप्रकाशक होता है । दीपक में स्वप्रकाशता के बिना अर्थप्रकाशकता नहीं बन सकती है । दीपक स्वप्रकाशक होकर ही अर्थप्रकाशक होता है । इसी प्रकार प्रमाण में भी स्वप्रत्यक्षता के बिना उसके द्वारा प्रतिभासित अर्थ में प्रत्यक्षता नहीं बन सकती है । तात्पर्य यह है कि प्रमाण और दीपक दोनों स्वपरप्रकाशक हैं । इस प्रकार प्रत्यक्षादि सब प्रमाणों में रहने वाला तथा सन्निकर्षादि समस्त अप्रमाणों से व्यावृत्त—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।

ऐसा प्रमाण का निर्दोष लक्षण सिद्ध होता है ।

अब यहाँ विचारणीय बात यह है कि प्रमाण के प्रामाण्य का ज्ञान कैसे होता है ? किसी को जलज्ञान हुआ कि वहाँ जल है, यह जलज्ञान सत्य है या असत्य, इसकी जानकारी कैसे होती है ? जलज्ञान सत्य है इस बात के ज्ञान का नाम प्रमाण का प्रामाण्य (संवादकता) है । प्रमाण के प्रामाण्य का तात्पर्य यह है कि प्रमाण ने जैसा अर्थ जाना है उसे वैसा ही होना चाहिए । प्रमाण के प्रामाण्य का ज्ञान कहीं स्वतः और कहीं परतः होता है । इसी बात को यहाँ बतलाया जा रहा है ।

प्रामाण्यविचार

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥ १३ ॥

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानरूप प्रमाण का प्रामाण्य अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः जाना जाता है । हम जिस स्थान पर प्रतिदिन जल देखते हैं वहाँ जलज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय स्वतः हो जाता है । और अपरिचित स्थान में जलज्ञान होने पर उसके प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है । इन सब बातों का स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है ।

यहाँ प्रमाण के प्रामाण्य का विचार तीन बातों को लेकर किया गया है—(१) उत्पत्ति में प्रामाण्य (२) ज्ञप्ति में प्रामाण्य और (३) प्रवृत्तिरूप स्वकार्य में प्रामाण्य । अर्थात् प्रमाण की उत्पत्ति स्वतः होती है या परतः । प्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः होती है या परतः । तथा प्रमाण का प्रवृत्तिरूप स्वकार्य स्वतः होता है या परतः ।

मीमांसक सब प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः मानते हैं । इस विषय में उन्होंने कहा है—

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ॥

अर्थात् सब प्रमाणों का प्रमाण्य स्वतः होता है, ऐसा जानना चाहिए । क्योंकि जो शक्ति स्वयं असत् है उसे अन्य कोई उत्पन्न नहीं कर सकता है ।

यहाँ सर्वप्रथम उत्पत्ति में प्रामाण्य का विचार किया जा रहा है । यह

विचार करना है कि प्रमाण की उत्पत्ति कैसे होती है । हम मीमांसक से पूछना चाहते हैं कि उत्पत्ति में स्वतः प्रामाण्य का अर्थ क्या है । यहाँ तीन विकल्प हो सकते हैं—(१) प्रामाण्य कारण के बिना होता है, (२) प्रामाण्य स्वसामग्री से होता है, और (३) प्रामाण्य विज्ञानमात्रसामग्री से होता है ।

इनमें से प्रथम विकल्प ठीक नहीं है । क्योंकि कोई भी वस्तु कारण के बिना उत्पन्न नहीं होती है । तब प्रामाण्य भी कारण के बिना कैसे उत्पन्न होगा ? दूसरा विकल्प स्वसामग्री से उत्पन्न होने का है जो हमें अभीष्ट है । सब पदार्थों की उत्पत्ति अपनी कारणसामग्री से ही होती है । अतः प्रामाण्य की स्वसामग्री से उत्पत्ति मानना सर्वथा उचित है । तृतीय विकल्प में विज्ञानमात्र सामग्री से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानी गई है जो असंगत है । विज्ञानमात्रसामग्री का अर्थ है—विज्ञानसामान्य की सामग्री । ऐसी सामग्री से तो विज्ञान सामान्य की ही उत्पत्ति होगी, प्रामाण्य या अप्रामाण्य की नहीं । हम कह सकते हैं कि प्रामाण्य विज्ञान सामान्य सामग्रीजन्य नहीं है, क्योंकि वह विज्ञान से पृथक् है । कोई भी विज्ञान प्रमाण भी हो सकता है और अप्रमाण भी । अतः पृथक् पृथक् कार्य होने से विज्ञान और प्रामाण्य एकसामग्रीजन्य न होकर भिन्नसामग्रीजन्य हैं । तात्पर्य यह है कि विशिष्ट कार्य होने से प्रामाण्य विज्ञानमात्रसामग्री से उत्पन्न नहीं हो सकता है, उसकी उत्पत्ति के लिए तो विशिष्ट कारण की आवश्यकता होती है । इसीप्रकार अप्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए भी विशिष्ट कारण की आवश्यकता होती है ।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों विशिष्ट कार्य हैं, और इन दोनों की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट कारणों का होना अनिवार्य है । जिस प्रकार अप्रामाण्यरूप विशिष्ट कार्य कामला-दिदोषविशिष्ट चक्षुरादि से उत्पन्न होता है उसी प्रकार प्रामाण्यरूप विशिष्ट कार्य भी निर्मलता आदि गुणविशिष्ट चक्षुरादि से उत्पन्न होता है । किसी पीलिया रोग वाले व्यक्ति को शुक्ल शंख में पीतज्ञान हुआ । इस पीतज्ञान में प्रामाण्य नहीं है और इस अप्रामाण्य का कारण है आँख में पीलियारोग का होना । किसी स्वच्छचक्षु वाले व्यक्ति को शुक्ल शंख में शुक्लज्ञान हुआ । इस शुक्लज्ञान में प्रामाण्य है और यहाँ प्रामाण्य का कारण है चक्षु

का निर्मल होना । इस कथन से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति अपने अपने विशिष्ट कारणों से ही होती है ।

अब प्रामाण्य की ज्ञप्ति के विषय में विचार करना है । ज्ञप्ति का अर्थ है जानना । किसी अपरिचित देश में जाते हुए किसी स्थान में दूर से ही हमें जो जलज्ञान होता है उसके प्रामाण्य को हम कैसे जानते हैं ? इसका उत्तर यह है कि अनभ्यासदशा में जलज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय स्वतः नहीं होता है । क्योंकि वहाँ संशय तथा विपर्यय बने रहते हैं । यह जलज्ञान सत्य है या नहीं ऐसा संशय वहाँ होता है । अथवा मरीचिका में जलज्ञान हो जाने से विपर्यय भी वहाँ पाया जाता है । अतः अनभ्यासदशा में जो जलज्ञान हुआ है उसके प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है । वह इस प्रकार से होता है—जलप्रदेश की ओर से आने वाली शीतल वायु के स्पर्श से, कमलों की सुगन्ध से, मेढकों की आवाज से तथा घट में पानी भरकर लाने वाले व्यक्तियों को देखने आदि परनिमित्तों से अनभ्यासदशा में जलज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है । अनभ्यासदशा में अप्रामाण्य का ज्ञान भी स्वतः नहीं होता है । इसके विपरीत अभ्यासदशा में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है । वहाँ प्रामाण्य और अप्रामाण्य को जानने के लिए दूसरे साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती है ।

अब प्रामाण्य के प्रवृत्तिरूप स्वकार्य के विषय में विचार करना है । प्रामाण्य का स्वकार्य है—अपने विषय में प्रवृत्ति कराना । प्रवृत्तिरूप स्वकार्य में भी प्रामाण्य स्वतः नहीं होता है । जलज्ञान होने पर जल की ओर गमन करना, पानी पीना आदि जलज्ञान का प्रवृत्तिरूप स्वकार्य है । यह कार्य भी स्वग्रहणसापेक्ष होता है । अर्थात् यह जलज्ञान प्रमाण है ऐसा ज्ञान होने पर ही जलज्ञान स्वकार्य में प्रवृत्ति कराता है । अप्रामाण्य के विषय में भी यही बात है । वहाँ भी शुक्तिका में जो रजतज्ञान हुआ है वह असत्य है ऐसा ज्ञान होने पर ही रजतज्ञान उस पदार्थ से निवृत्तिरूप स्वकार्य को कराता है ।

मीमांसक का एक मत यह भी है कि पहले सब ज्ञान प्रमाणरूप ही उत्पन्न होते हैं । बाद में यदि वहाँ ज्ञान के कारण में दोष का ज्ञान और बाधक प्रत्यय का उदय हो जावे तो वह ज्ञान अप्रमाण हो जाता है । तात्पर्य यह है कि पहले उत्पन्न हुए ज्ञान में यदि कोई बाधक प्रत्यय उपस्थित हो

जाय अथवा चक्षु इन्द्रिय में कामलादि दोष का ज्ञान हो जाय तो वह ज्ञान अप्रमाण मान लिया जाता है ।

मीमांसक का उक्त मत भी समीचीन नहीं है । क्योंकि इसके विपरीत हम ऐसा भी कह सकते हैं कि पहले सब ज्ञान अप्रमाणरूप ही उत्पन्न होते हैं । बाद में वहाँ बाधा रहित ज्ञान और इन्द्रिय में दोषाभाव का ज्ञान होने पर वह ज्ञान प्रमाण मान लिया जाता है । निष्कर्ष यह है कि न तो सब ज्ञान प्रमाणरूप उत्पन्न होते हैं और न अप्रमाणरूप उत्पन्न होते हैं, किन्तु कुछ ज्ञान प्रमाणरूप उत्पन्न होते हैं और कुछ ज्ञान अप्रमाणरूप उत्पन्न होते हैं । तथा ज्ञान की प्रमाणता का निर्णय कहीं स्वतः होता है और कहीं परतः होता है ।

• प्रथम परिच्छेद समाप्त •

द्वितीय परिच्छेद

इस परिच्छेद्र में प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन किया गया है । प्रथम परिच्छेद में प्रमाण सामान्य का लक्षण बतलाया गया है । अब प्रमाण विशेष का लक्षण बतलाने के लिए पहले प्रमाण के भेद बतलाते हैं—

तद्द्वेधा ॥ १ ॥

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानरूप प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है । प्रमाणों के अन्य भेद और प्रभेदों का इनमें अन्तर्भाव हो जाता है । तथा अन्य वादियों द्वारा अभिमत एक, दो, तीन आदि प्रमाणों में उनका अन्तर्भाव नहीं हो पाता है । जो लोग केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं उनके यहाँ प्रत्यक्ष में अनुमान आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव संभव नहीं है ।

प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद

पूर्वपक्ष—

चार्वाक मत में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण का ही अस्तित्व स्वीकार किया गया है । उन्होंने अनुमान आदि अन्य किसी प्रमाण को नहीं माना है । उनका कथन है कि अर्थ का निश्चायक होने से प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है । जो ज्ञान अर्थ का निश्चायक होता है उसे प्रमाण माना जाता है । अनुमान से अर्थ का निश्चय नहीं होता है । अत: वह प्रमाण नहीं है । एक बात यह भी है कि अनुमान व्याप्तिग्रहण पूर्वक होता है और व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से संभव नहीं है । क्योंकि प्रत्यक्ष से इन्द्रिय सम्बद्ध और सन्निहित वस्तु का ही ग्रहण होता है । इस कारण वह अखिल देश और कालवर्ती साध्य-साधनों में व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता है । अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण मानने पर उस अनुमान में अन्य अनुमान से व्याप्ति ग्रहण मानना पड़ेगा । अन्य अनुमान में भी उससे भिन्न अनुमान से व्याप्ति ग्रहण होगा । इस प्रकार अनवस्थादोष का प्रसंग प्राप्त होता है । अत: अगौण (मुख्य) होने से प्रत्यक्ष प्रमाण है और गौण होने से अनुमान अप्रमाण है । इस प्रकार चार्वाक ने प्रत्यक्ष में प्रमाणता और अनुमान में अप्रमाणता सिद्ध की है ।

उत्तरपक्ष—

चार्वाक का उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है । प्रत्यक्ष को अगौण कहना और अनुमान को गौण मानना सर्वथा गलत है । यहाँ विचारणीय यह है कि चार्वाक ने अनुमान को गौण क्यों माना है । क्या गौण अर्थ को विषय करने के कारण अथवा प्रत्यक्षपूर्वक होने के कारण अनुमान को गौण माना गया है । अनुमान के विषय को गौण मानना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सब प्रमाणों का विषय सामान्य-विशेषरूप अर्थ है । अत: सब प्रमाणों का विषय अगौण ही है, गौण विषय तो कोई भी नहीं है । प्रत्यक्षपूर्वक होने से भी अनुमान को गौण नहीं कह सकते हैं । अन्यथा कहीं अनुमानपूर्वक होने वाले प्रत्यक्ष में भी गौणता का प्रसंग प्राप्त होगा । प्रत्यक्ष को अर्थ का निश्चायक मानना और अनुमान को अर्थ का निश्चायक नहीं मानना भी गलत है । जिस प्रकार प्रत्यक्ष अपने विषय का निश्चायक होता है । उसी प्रकार अनुमान भी अपने विषय का निश्चायक होता है । यदि कहीं अनुमान के विषय में व्यभिचार देखा जाता है तो कहीं प्रत्यक्ष के विषय में भी तो व्यभिचार पाया जाता है । इतने मात्र से सब प्रत्यक्ष और सब अनुमान अप्रमाण नहीं हो सकते हैं । चार्वाक ने कहा है कि अनुमान व्याप्तिग्रहणपूर्वक होता है और व्याप्ति का ग्रहण न प्रत्यक्ष से होता है और न अनुमान से । इस विषय में हमारा कहना यह है कि व्याप्ति का ग्राहक तर्क नामक एक पृथक् प्रमाण है । तथा तर्क के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण हो जाने पर अनुमान प्रमाण के उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं है । प्रत्यक्ष में प्रामाण्य अगौणत्व के कारण न होकर अविसंवादकत्व के कारण होता है । जिस प्रकार प्रत्यक्ष अपने विषय में अविसंवादक होता है और अविसंवादक होने से वह प्रमाण है, उसी प्रकार अनुमान भी अपने विषय में अविसंवादक होने के कारण प्रमाण है ।

बौद्धों ने चार्वाक के लिए अनुमान प्रमाण की सिद्धि जिन प्रबल युक्तियों से की है वे युक्तियाँ यहाँ भी द्रष्टव्य हैं—

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः ।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥

अर्थात् प्रमाण और अप्रमाण की सामान्य व्यवस्था होने से, पर की बुद्धि

का ज्ञान होने से और परलोक आदि का निषेध करने से अनुमान का सद्भाव सिद्ध होता है । इस कथन का विशेषार्थ इस प्रकार है—

चार्वाक कहता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण है, अविसंवादक होने से तथा अनुमान अप्रमाण है, विसंवादक होने से । यहाँ स्वभावहेतुजन्य अनुमान से प्रत्यक्ष को प्रमाण और अनुमान को अप्रमाण बतलाया गया है । इससे स्पष्ट है कि प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था करने के लिए चार्वाक को अनुमान प्रमाण मानना आवश्यक है । अन्य प्राणी में बुद्धि है, इसका ज्ञान बुद्धि के कार्य व्यापार, व्यवहार आदि को देख कर किया जाता है । यह कार्यहेतुजन्य अनुमान है । चार्वाक अन्य पुरुष में बुद्धि का ज्ञान इसी अनुमान से करता है । चार्वाक परलोक आदि का निषेध करता है । यह निषेध अनुपलब्धिहेतुजन्य अनुमान के द्वारा किया जाता है । बौद्धन्याय में हेतु के तीन भेद हैं—स्वभाव हेतु, कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु ।

उपरिलिखित श्लोक में यह बतलाया गया है कि चार्वाक को तीनों हेतुजन्य अनुमान को मानना पड़ता है । इसके बिना उसका काम नहीं चलता है । इस प्रकार से बौद्धों ने चार्वाक के प्रति अनुमान प्रमाण की सिद्धि की है जो जैनों को भी अभीष्ट है । इत्यादि प्रकार से विचार करने पर चार्वाक द्वारा अभिमत प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद निरस्त हो जाता है । प्रथम सूत्र में यह बतलाया था कि प्रमाण के दो भेद हैं । अब उन्हीं दो भेदों को यहाँ बतलाया जा रहा है ।

प्रमाण के भेद

प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥ २ ॥

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेद हैं । बौद्ध भी प्रमाण के दो भेद मानते हैं । उनके अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण हैं और दोनों प्रमाणों का विषय पृथक् पृथक् है । प्रत्यक्ष का विषय है स्वलक्षण और अनुमान का विषय है सामान्यलक्षण । अब यहाँ इसी बात पर विचार करना है कि बौद्धों की मान्यता कहाँ तक ठीक है ।

प्रमेय के द्वित्व से प्रमाणद्वित्व का विचार

पूर्वपक्ष—

बौद्धों की मान्यता है कि दो प्रमेय होने के कारण प्रमाण दो हैं—

प्रत्यक्ष और अनुमान । इनमें से प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और अनुमान का विषय सामान्यलक्षण है । मनुष्य, गौ आदि विशेष पदार्थों को स्वलक्षण कहते हैं । स्वलक्षण अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है । इस कारण उसको परमार्थसत् कहा गया है । मनुष्यत्व, गोत्व आदि को सामान्यलक्षण कहते हैं । गोत्व आदि सामान्य अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं होता है । इस कारण इसे संवृतिसत् (काल्पनिक) कहते हैं । इस विषय में धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में लिखा है—

अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत् ।
अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ।

सामान्य पदार्थ के विषय में बौद्धों की एक विशिष्ट कल्पना है । बौद्धदर्शन मनुष्य, गोत्व आदि को कोई वास्तविक पदार्थ नहीं मानता है । सामान्य एक कल्पनात्मक वस्तु है । जितने मनुष्य हैं वे सब अमनुष्य (गौ आदि) से व्यावृत्त हैं तथा सब एक सा कार्य करते हैं । अतः उनमें एक मनुष्यत्व सामान्य की कल्पना कर ली गई है । यही बात गोत्व आदि सामान्य के विषय में भी जानना चाहिए । सामान्य अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं है । गोत्व सामान्य से दुग्ध दोहन, भार वहन आदि अर्थक्रिया संभव नहीं है । इसलिए सामान्य को काल्पनिक माना गया है ।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि सामान्य कल्पनात्मक एवं मिथ्या है तो उसको पदार्थ क्यों माना गया है तथा सामान्य को विषय करने वाले अनुमान को प्रमाण क्यों माना गया है ? इसका उत्तर बौद्धों ने इस प्रकार दिया है—यद्यपि सामान्य मिथ्या है किन्तु वह स्वलक्षण की प्राप्ति में सहायक होता है । अतः उसको पदार्थ मानना आवश्यक है । यही बात अनुमान को प्रमाण मानने के विषय में भी है । स्वलक्षणरूप वस्तु की प्राप्ति में सहायक होने के कारण अनुमान को प्रमाण माना गया है । इस प्रकार बौद्धों ने यह सिद्ध किया है कि दो प्रमेयों के होने के कारण प्रमाण भी दो हैं ।

उत्तरपक्ष—

बौद्धों की उक्त मान्यता तर्कसंगत नहीं है । प्रमेयद्वैविध्य को मानकर प्रमाण द्वैविध्य मानना ठीक नहीं है । ऐसा नहीं है कि प्रत्येक प्रमाण का विषय दूसरे प्रमाणों से पृथक् होता हो । सामान्यरूप से प्रत्येक प्रमाण का

प्रमेय अथवा विषय एक ही होता है, भिन्न भिन्न नहीं । वह विषय है— सामान्यविशेषरूप अर्थ । प्रत्येक पदार्थ उभयरूप (सामान्यविशेषरूप) होता है । ऐसा नहीं है कि कोई अर्थ केवल विशेषरूप हो और कोई अर्थ केवल सामान्यरूप हो । ऐसा भी नहीं है कि विशेष परमार्थसत् हो और सामान्य संवृतिसत् हो । किन्तु दोनों ही परमार्थसत् और अर्थक्रियाकारी हैं । अतः प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय पृथक् पृथक् बतलाना प्रमाणविरुद्ध है । प्रमाण से तो सामान्यविशेषात्मक अर्थ की ही सिद्धि होती है । यदि अनुमान का विषय केवल सामान्य है तो उससे अग्नि आदि विशेषों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । अतः यह सुनिश्चित है कि केवल सामान्य का अथवा केवल विशेष का किसी ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है । किन्तु सामान्यविशेषात्मक अर्थ का ही प्रत्यक्षादि ज्ञान में प्रतिभास होता है । इस प्रकार प्रमेय द्वैविध्य की बात तर्कसंगत नहीं है ।

बौद्धाभिमत प्रमाणद्वित्व की बात भी असंगत है । क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान में आगम आदि अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव संभव न होने के कारण बौद्धों के द्वारा अभिमत प्रमाणद्वित्व की संख्या सब प्रमाणवादियों को स्वीकार्य नहीं है । प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आगम, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, उपमान, अर्थापत्ति आदि अन्य अनेक प्रमाण हैं । बौद्ध इन प्रमाणों का अन्तर्भाव किस प्रमाण में करेंगे ? इनका अन्तर्भाव न तो प्रत्यक्ष प्रमाण में हो सकता है और न अनुमान में । अतः प्रमाणद्वित्व की संख्या विघटित हो जाती है । इत्यादि प्रकार से विचार करने पर बौद्धों की प्रमेय-द्वित्व से प्रमाणद्वित्व की मान्यता का निराकरण हो जाता है ।

सांख्यदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के भेद से तीन प्रमाण माने गये हैं । न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान आगम और उपमान के भेद से चार प्रमाण माने गये हैं । इन दार्शनिकों के द्वारा अभिमत प्रमाण संख्या में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क प्रमाणों का अन्तर्भाव संभव नहीं होने के कारण इनके द्वारा अभिमत तीन तथा चार प्रमाणों की संख्या भी विघटित हो जाती है ।

षट्प्रमाणवाद

पूर्वपक्ष—

मीमांसक छह प्रमाण मानते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—प्रत्यक्ष,

अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव । उनका कहना है कि आगम आदि प्रमाणों का प्रत्यक्ष तथा अनुमान में अन्तर्भाव संभव नहीं है । अतः इनका पृथक् अस्तित्व मानना अपरिहार्य है । जिस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान सामग्री के भेद से भिन्न प्रमाण हैं उसी प्रकार आगमादि भी भिन्न भिन्न प्रमाण हैं । आगम, उपमान आदि की उत्पादक सामग्री पृथक् पृथक् होने के कारण ये सब प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रमाणान्तर हैं । अब इन्हीं का यहाँ पृथक् पृथक् विचार किया जा रहा है ।

आगमप्रमाणविचार

आगम प्रमाण को शाब्दप्रमाण भी कहते हैं । शाब्दज्ञान शब्दरूप सामग्री से उत्पन्न होता है । कहा भी है—

शब्दादुदेति यज्ज्ञानमप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि ।
शाब्दं तदिति मन्यन्ते प्रमाणान्तरवादिनः ॥

अर्थात् अप्रत्यक्ष वस्तु में शब्द से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे सांख्य आदि प्रमाणान्तरवादी शाब्दज्ञान कहते हैं । शाब्दज्ञान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है । क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान में अर्थ का प्रतिभास स्पष्ट होता है और शाब्दज्ञान में अर्थ का प्रतिभास अस्पष्ट होता है । इसी तरह अनुमान में भी शाब्दज्ञान का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है । क्योंकि अनुमान का जैसा विषय है वैसा आगम का नहीं है । तथा आगम त्रिरूपलिंगजन्य भी नहीं है । अनुमान का विषय है—धर्म (अग्नि) विशिष्ट धर्मी (पर्वत) और आगम का विषय इससे भिन्न है । हेतु के पक्षधर्मत्व आदि तीन रूप होते हैं तथा अनुमान तीनरूप वाले हेतु से उत्पन्न होता है । किन्तु आगम तीनरूप वाले हेतु से उत्पन्न नहीं होता है । शब्द का अर्थ के साथ अन्वय और व्यतिरेक भी नहीं पाया जाता है । ऐसा नहीं है कि शब्द के होने पर अर्थ हो और शब्द के अभाव में अर्थ न हो । पिण्डखर्जूर आदि शब्द के सुनने पर पिण्डखर्जूर आदि अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है । रावण, शंखचक्रवर्ती आदि शब्द वर्तमान में सुने जाते हैं किन्तु उनका वाच्य अर्थ भूतकाल और भविष्यकालवर्ती है । इस प्रकार शब्द का अर्थ के साथ अन्वय का अभाव सिद्ध होता है । और अन्वय के अभाव में व्यतिरेक भी नहीं बनता है । शब्द के होने पर अर्थ का होना अन्वय है और शब्द के अभाव में अर्थ का

न होना व्यतिरेक है । शब्द का अर्थ के साथ ऐसा अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता है । शब्द के होने पर भी अर्थ उपलब्ध नहीं होता है और शब्द के अभाव में भी अर्थ पाया ही जाता है । उक्त प्रकार से विचार करने पर शाब्दज्ञान प्रमाणान्तर सिद्ध होता है ।

उपमानप्रमाणविचार

आगम की तरह उपमान भी एक पृथक् प्रमाण है । उपमान का लक्षण इस प्रकार है—

दृश्यमानाद् यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते ।
सादृश्योपाधितस्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम् ॥

अर्थात् दृश्यमान गवय से सादृश्य के कारण गौ का जो ज्ञान होता है उसे उपमान कहते हैं ।

जिस व्यक्ति ने गाय को देखा है और गवय को नहीं देखा है और 'गौरिव गवयः' 'गवय गौ की तरह होता है' इस वाक्य को कभी नहीं सुना है, ऐसे व्यक्ति के वन में जाने पर उसे प्रथम बार गवय का दर्शन होता है । गवय के देखने से उसे परोक्ष गौ में 'अनेन सदृशो गौः' 'गौ इसके सदृश है' ऐसा जो सादृश्यज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान का नाम है उपमान । उपमान का विषय सादृश्यविशिष्ट परोक्ष गौ है अथवा गौविशिष्ट सादृश्य है । इस प्रकार का ज्ञान अनधिगत अर्थ को जानने के कारण प्रमाण है । परोक्ष अर्थ को विषय करने के कारण इसको प्रत्यक्ष नहीं कह सकते हैं । और किसी अविनाभावी हेतु के न होने से इसको अनुमान भी नहीं माना जा सकता है । अतः उपमान एक पृथक् प्रमाण है ।

अर्थापत्तिप्रमाणविचार

आगम और उपमान की तरह अर्थापत्ति भी प्रमाणान्तर है । अर्थापत्ति का लक्षण इस प्रकार है—

प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽन्यथा भवन् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥

अर्थात् प्रत्यक्षादि छह प्रमाणों से विज्ञात जो अर्थ जिस अन्य अर्थ के बिना नहीं हो सकता है उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करने को अर्थापत्ति कहते

हैं । यहाँ किसी ज्ञात अर्थ के द्वारा अज्ञात अर्थ की कल्पना की जाती है । अर्थापत्ति ६ प्रकार की होती है—(१) प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति (२) अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति (३) उपमानपूर्विका अर्थापत्ति (४) अर्थापत्ति-पूर्विका अर्थापत्ति (५) अभावपूर्विका अर्थापत्ति और (६) श्रुतार्थापत्ति । श्रुतार्थापत्ति को आगमपूर्विका अर्थापत्ति भी कह सकते हैं । इसका उदाहरण इस प्रकार है—

पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते ।

अर्थात् पीन (मोटा) देवदत्त दिन में नहीं खाता है । इस वाक्य को सुनकर सुननेवाला व्यक्ति देवदत्त में रात्रि भोजन की कल्पना करता है । क्योंकि दिन में भोजन नहीं करने पर मोटा होना रात्रिभोजन के बिना नहीं बन सकता है । इस प्रकार देवदत्त में रात्रि भोजन की कल्पना करना श्रुतार्थापत्ति है । अर्थापत्ति का अन्तर्भाव भी न प्रत्यक्ष में होता है और न अनुमान में होता है । इसलिए यह एक पृथक् प्रमाण है ।

अभावप्रमाणविचार

किसी आधारविशेष में किसी निषेध्य वस्तु के अभाव का जो ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण कहलाता है । जैसे भूतल में घटाभाव का जो ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण के द्वारा होता है । अभाव प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है—

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥

अर्थात् जिस स्थान में किसी वस्तु का निषेध करना है पहले उस स्थान का ग्रहण (ज्ञान) होना चाहिए । फिर प्रतियोगी (निषेध्य वस्तु) का स्मरण होना चाहिए । तब बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा के बिना ही नास्तिता (घटाभाव) का जो ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है । इसे मानस ज्ञान कहा गया है । भूतल में घट का निषेध करने के लिए पहले भूतल का ग्रहण होना चाहिए । तदनन्तर घट का स्मरण होना चाहिए । तभी 'इस भूतल में घट नहीं है' ऐसा घटाभाव का ज्ञान होता है । और भी देखिए—

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥

अर्थात् जिस वस्तुरूप (भूतलविशेष) में वस्तु (घट) की सत्ता के ज्ञान के लिए प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती है वहाँ उस वस्तु के अभाव को जानने के लिए अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है ।

तात्पर्य यह है कि भूतल में घटाभाव का ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है । किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्षादि अन्य किसी प्रमाण से संभव नहीं है ।

अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अन्यन्ताभाव । क्षीर में दधि के अभाव का नाम प्रागभाव है । दधि में क्षीर के अभाव का नाम प्रध्वंसाभाव है । घट में के पट के अभाव का नाम अन्योन्याभाव है । और पृथिवी में चैतन्य के अभाव का नाम अत्यन्ताभाव है । यदि इन चार प्रकार के अभावरूप पदार्थों का व्यवस्थापक अभाव प्रमाण न हो तो प्रतिनियत पदार्थ की व्यवस्था का विलोप हो जायेगा । इस अभाव प्रमाण का भी अन्य किसी प्रमाण में अन्तर्भाव न होने के कारण यह एक पृथक् प्रमाण है । इस प्रकार षट्प्रमाणवादी मीमांसक ने प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण की सिद्धि करके अपना पक्ष प्रस्तुत किया है ।

उत्तरपक्ष—

मीमांसकों ने जिन छह प्रमाणों को माना है उनमें से प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को पृथक् प्रमाण मानना तो ठीक है, किन्तु उपमान, अर्थापत्ति और अभाव को पृथक् प्रमाण मानना ठीक नहीं है । मीमांसक ने जिस प्रकार आगम आदि प्रमाणों को प्रमाणान्तर होने के कारण बौद्धदर्शन द्वारा अभिमत प्रमाणों की द्वित्वसंख्या का व्याघात बतलाया है उस प्रकार जैनदर्शन द्वारा अभिमत प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाणों की द्वित्वसंख्या का व्याघात संभव नहीं है । क्योंकि आगम, उपमान आदि अन्य समस्त प्रमाणों का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण में हो जाता है । जैनदर्शन में परोक्ष प्रमाण के ५ भेद माने गये हैं जो इस प्रकार हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम । अत: परोक्ष प्रमाण में अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाने के कारण जैनदर्शन द्वारा अभिमत प्रमाणों की द्वित्वसंख्या का व्याघात नहीं होता है । मीमांसक की तरह

जैनदर्शन भी प्रत्यक्ष अनुमान और आगम को स्वतन्त्र प्रमाण मानता है । अब इस बात का विचार करना है कि मीमांसक द्वारा माने गये उपमान, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण का अन्तर्भाव किस प्रमाण में होता है ।

अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव

उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान में होता है । इस बात को तृतीय परिच्छेद में प्रत्यभिज्ञान प्रमाण के निरूपण के अवसर पर युक्तिपूर्वक सिद्ध करेंगे । अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में होता है । अर्थापत्ति में एक अर्थ अर्थापत्ति का उत्थापक होता है जो अदृष्ट अर्थ की कल्पना करता है । श्रुतार्थापत्ति में अर्थापत्ति का उत्थापक अर्थ है—दिन में भोजन नहीं करने पर भी देवदत्त में पीनत्व का होना और अदृष्ट अर्थ है—रात्रिभोजन । अब यहाँ प्रश्न यह है कि अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का अदृष्ट अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं और यदि है तो वह सम्बन्ध अवगत है या अनवगत । अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का अदृष्ट अर्थ के साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक है और उस सम्बन्ध का अवगत (ज्ञात) होना भी आवश्यक है । इसके बिना अर्थापत्ति का उत्थापक अर्थ उदृष्ट अर्थ की कल्पना नहीं कर सकता है ।

तात्पर्य यह है अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ में और अदृष्ट अर्थ में धूम और अग्नि की तरह सम्बन्ध अवश्य है और उस सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही अर्थापत्ति उत्थापक अर्थ से अदृष्ट अर्थ को जाना जाता है । जब हम कहते हैं कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है, क्योंकि दिन में भोजन नहीं करने पर भी वह मोटा है, तो यहाँ अर्थापत्ति अनुमान का ही एक रूप सिद्ध होता है । यहाँ एक अर्थ साध्य है और दूसरा अर्थ साधन है । रात्रि भोजन साध्य है और दिन में भोजन नहीं करने पर भी पीनत्व का होना साधन है । अनुमान की तरह अर्थापत्ति में भी साधन से साध्य की सिद्धि की जाती है । अतः अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव मानना युक्तिसंगत है ।

अभाव का प्रत्यक्षादि में अन्तर्भाव

मीमांसक के अनुसार घटरहित भूतल में घटाभाव का जो ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण से होता है । इस विषय में जैनदर्शन की मान्यता यह है कि जब हम प्रत्यक्ष से घटरहित भूतल देख रहे हैं तब प्रत्यक्ष से ही हम

को घटाभाव का ज्ञान हो जाता है । इसके लिए प्रत्यक्ष से भिन्न एक अभाव प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है । किसी पदार्थ के अभाव की प्रतिपत्ति के लिए प्रतियोगी पदार्थ का स्मरण भी आवश्यक नहीं है । क्योंकि घटरहित भूतल का प्रत्यक्ष होने पर प्रतियोगी के स्मरण के बिना भी प्रत्यक्ष से ही भावांश (भूतल) की तरह अभावांश (घटाभाव) का भी ज्ञान हो जाता है । जिस पदार्थ का अभाव बतलाया जाता है उसे प्रतियोगी कहते हैं । जब हम भूतल में घट का अभाव बतलाते हैं तब वहाँ घट प्रतियोगी कहलाता है ।

यहाँ मीमांसक कह सकते हैं कि प्रतियोगी के स्मरण के बिना अभाव का जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है । तथा प्रतियोगी के स्मरण के अनन्तर उत्पन्न होने वाला अभाव का ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है । मीमांसक की ऐसी मान्यता ठीक नहीं है । ऐसा मानने पर अभाव प्रमाण प्रत्यभिज्ञान कहलायेगा । क्योंकि जिस पुरुष को भूतल से संसृष्ट (सम्बद्ध) घटदर्शन का संस्कार है उसे जब घटरहित भूतल का दर्शन होता है तब वह पहले देखे गये भूतल संसृष्ट घट का स्मरण करता है और स्मरण के अनन्तर उसको 'स्मर्यमाण घट का यहाँ अभाव है' ऐसी जो प्रतिपत्ति होती है वह तो प्रत्यभिज्ञान ही है । क्योंकि प्रत्यभिज्ञान दर्शन और स्मरणपूर्वक होता है । यहाँ घटाभाव की प्रतिपत्ति भी दर्शन और स्मरणपूर्वक ही हुई है । अतः यहाँ अभाव प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान में मानना चाहिए ।

सांख्य अभाव को नहीं मानते हैं । उनके लिए मीमांसक ने उन्हीं के मत से सत्त्वरजतमोरूप विषय का दृष्टान्त देकर अनुपलब्धिहेतु से अभाव को सिद्ध किया है । उन्होंने कहा है कि जहाँ दृश्य होने पर भी जिसकी अनुपलब्धि होती है वहाँ उसका अभाव होता है । जैसे तमोगुण में सत्त्वगुण का अभाव है अथवा रजोगुण में तमोगुण का अभाव है । इत्यादि प्रकार से मीमांसकों ने अनुपलब्धिहेतु के द्वारा सांख्य के प्रति अभाव प्रमाण को सिद्ध किया है । किन्तु यदि ऐसी बात है तब तो अभाव प्रमाण अनुमान रूप ही सिद्ध होता है । क्योंकि यहाँ अनुपलब्धि हेतु से अभाव का ज्ञान किया गया है । और अनुपलब्धि हेतु से जो ज्ञान होता है वह तो अनुपलब्धिहेतुजन्य अनुमान ही है । इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रत्यभिज्ञान में अभाव प्रमाण का अन्तर्भाव हो जाने के कारण अभाव में प्रमाणान्तरत्व सिद्ध नहीं होता है ।

मीमांसकों ने अभाव प्रमाण की तरह अभाव को भी एक पृथक् पदार्थ माना है और उसके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव ये चार भेद बतलाये हैं । इस विषय में जैनदर्शन की मान्यता यह है कि अभाव एक पृथक् पदार्थ नहीं है, किन्तु वह भावस्वरूप ही है । जैसे भूतल में घटाभाव कोई पृथक् पदार्थ न होकर घटरहित भूतल का नाम ही घटाभाव है । इसी प्रकार प्रागभाव आदि भी भावस्वरूप ही हैं । भाव से भिन्न कोई अभाव नहीं है । अभाव को भाव से सर्वथा पृथक् मानने पर तो वह अवस्तु ही हो जायेगा । यदि अभाव अवस्तु है तो उसका ज्ञान भी संभव नहीं है । खरविषण, गगनकुसुम आदि अवस्तुभूत पदार्थों का ज्ञान किसी को नहीं होता है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मीमांसकों द्वारा अभाव प्रमाण को एक पृथक् प्रमाण मानना तथा अभाव को एक पृथक् पदार्थ मानना तर्कसंगत नहीं है ।

शक्तिसद्भाव विचार

पूर्वपक्ष—

नैयायिकों का मत है वह्नि आदि पदार्थों का जो स्वरूप है उसकी प्रतीति प्रत्यक्ष से ही हो जाती है । इसके अतिरिक्त अन्य किसी अतीन्द्रिय शक्ति के सद्भाव को बतलाने वाला कोई प्रमाण नहीं है । पृथिवी आदि की निज शक्ति पृथिवीत्वादि ही है । पृथिवीत्वादि के सम्बन्ध से ही पृथिवी आदि पदार्थ कार्य करते हैं । जो लोग पदार्थ से अतिरिक्त शक्ति मानते हैं उनसे पूछा जा सकता है कि शक्ति नित्य है या अनित्य । यदि शक्ति नित्य है तो सर्वदा कार्योत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा । यदि शक्ति अनित्य है तो इस विकल्प में भी प्रश्न होता है कि शक्ति की उत्पत्ति कैसे होती है—शक्तपदार्थ से या अशक्त पदार्थ से ? इत्यादि प्रकार से अनेक दोष आने के कारण यह विकल्प भी त्याज्य है । एक प्रश्न यह भी है कि शक्ति शक्तिमान् पदार्थ से अभिन्न है या भिन्न । शक्तिमान् पदार्थ से शक्ति को अभिन्न मानने पर केवल शक्तिमान् अथवा शक्तिमात्र का ही सद्भाव रहेगा, दोनों का नहीं । शक्ति को शक्तिमान् पदार्थ से भिन्न मानने पर यह शक्ति उस पदार्थ की है इसका नियामक क्या होगा । यह भी विचारणीय है प्रत्येक पदार्थ में एक शक्ति रहती है या अनेक । यदि शक्ति एक है तो उससे एक साथ अनेक कार्यों

की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । किन्तु एक साथ अनेक कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है । जैसे दीपक से अन्धकार विनाश, अर्थप्रकाश, वर्तिकादाह, तैलशोष आदि अनेक कार्य एक साथ होते हुए देखे जाते हैं । अर्थ में अनेक शक्तियाँ मानने पर भी यह प्रश्न होगा कि एक अर्थ उन अनेक शक्तियों को एक शक्ति से धारण करता है या अनेक शक्तियों से । इत्यादि विकल्पों द्वारा पदार्थ से भिन्न शक्ति मानने पर अनवस्था आदि अनेक दोष आते हैं । अत: यह सिद्ध होता है कि वह्नि आदि पदार्थों में किसी अतीन्द्रिय शक्ति का सद्भाव नहीं है । प्रत्येक पदार्थ का जो स्वरूप है वही उसकी शक्ति है । ऐसी नैयायिकों की मान्यता है ।

उत्तरपक्ष—

नैयायिकों ने वह्नि आदि पदार्थों में अतीन्द्रिय शक्ति का अभाव बतलाया है और पदार्थ के स्वरूप को ही शक्ति माना है । इस विषय में हम उनसे पूछना चाहते हैं कि क्या शक्ति के ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से शक्ति का अभाव है अथवा अतीन्द्रिय होने से शक्ति का अभाव है । इनमें से प्रथम विकल्प ठीक नहीं है । यद्यपि प्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय शक्ति का ग्रहण नहीं होता है, किन्तु हम अनुमान प्रमाण से अतीन्द्रिय शक्ति का ज्ञान करते हैं । हम कह सकते हैं कि वह्निरूप अर्थ दहनशक्तियुक्त है, यदि ऐसा न हो तो उसके द्वारा पाक, स्फोट (फफोला) आदि कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । हम देखते हैं कि मणि, मन्त्रादि के द्वारा दाहशक्ति का प्रतिबन्ध कर दिये जाने पर वह्नि पाक, स्फोट आदि कार्य को नहीं करती है । इसका मतलब यही है कि वह्नि में पाक, स्फोट आदि कार्य करने की शक्ति तो है, किन्तु उसके प्रतिबन्धक कारणों के द्वारा उस शक्ति को प्रतिबन्धित कर दिया गया है । इसी कारण वह स्फोट आदि कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाती है ।

अब दूसरे विकल्प पर विचार कीजिए । शक्ति के अतीन्द्रिय होने के कारण उसका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है । परमाणु आदि अनेक अतीन्द्रिय पदार्थों की तरह अतीन्द्रिय शक्ति का सद्भाव मानना भी आवश्यक है । परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि प्रत्यक्ष से न होने पर भी अनुमान प्रमाण से होती ही है ।

नैयायिकों ने जो यह कहा है कि पृथिवी आदि की पृथिवीत्वादि ही निज शक्ति है, वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर मृत्पिण्ड से घट की उत्पत्ति की तरह पट की उत्पत्ति का भी प्रसंग प्राप्त होगा । पृथिवीत्व जैसे घटोत्पत्ति में कारण है वैसे ही उसे पट की उत्पत्ति में भी कारण होना चाहिए । क्योंकि तन्तु भी तो पृथिवीरूप ही हैं । शक्ति नित्य है या अनित्य ऐसा विकल्प होने पर हमारा उत्तर है कि प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्याय रूप है । अत: द्रव्यशक्ति नित्य है और पर्यायशक्ति अनित्य है । केवल द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी नहीं होती है, किन्तु पर्यायशक्तिसमन्वित द्रव्यशक्ति कार्य करती है । अर्थात् विशिष्ट पर्याय परिणत द्रव्य में ही कार्यकारित्व की प्रतीति होती है । शक्ति शक्तिमान् पदार्थ से भिन्न है या अभिन्न । इस विकल्प के उत्तर में जैनदर्शन का मत यह है कि शक्ति और शक्तिमान् पदार्थ में कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद है । शक्ति एक है या अनेक ऐसा विकल्प होने पर हमारा कथन यह है कि पदार्थों में अनेक शक्तियों का मानना आवश्यक है, क्योंकि वे अनेक कार्यों को करती हैं । कारणों में शक्तिभेद के बिना उनके द्वारा कार्यनानात्व नहीं बन सकता है । इत्यादि प्रकरा से विचार करने पर नैयायिक मत के निराकरणपूर्वक अतीन्द्रिय शक्ति का सद्भाव सिद्ध हो जाता है ।

प्रत्यक्ष का लक्षण

विशदं प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥

जो ज्ञान विशद होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है । विशद का पर्यायवाची शब्द स्पष्ट है । अत: जो ज्ञान स्पष्ट नहीं है उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते हैं ।

अकस्मात् धूमदर्शन से 'यहाँ वह्नि है' ऐसा जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है । क्योंकि यह ज्ञान अस्पष्ट है तथा धूमदर्शन के अनन्तर हुआ है । इसी प्रकार जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है ऐसा व्याप्तिज्ञान भी अस्पष्ट होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है । इन्द्रियों के कारण भी ज्ञान में स्पष्टता नहीं आती है । अन्यथा दूरवर्ती पादप आदि के ज्ञान में तथा दिन में उलूक आदि के ज्ञान में भी स्पष्टता का प्रसंग प्राप्त होगा । क्योंकि चक्षु इन्द्रिय का व्यापार तो वहाँ हो ही रहा है । निष्कर्ष यह है कि ज्ञान में स्पष्टता का हेतु है प्रतिबन्ध का अभाव ।

ज्ञानावरण कर्म ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है । अत: जितने अंश में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होगा उतने ही अंशमें ज्ञान स्पष्ट होगा ।

वैशद्य का स्वरूप

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥ ४ ॥

ज्ञान को प्रतीति कहते हैं । एक ज्ञान से भिन्न दूसरे ज्ञान को प्रतीत्यन्तर कहते हैं । हमें किसी एक ज्ञान से किसी अर्थ का जो प्रतिभास हो रहा है उसमें किसी दूसरे ज्ञान के द्वारा व्यवधान नहीं होना चाहिए । अर्थात् जब हम एक ज्ञान से किसी ज्ञानान्तर के व्यवधान के बिना अर्थ को जानते हैं तब हमारा ज्ञान विशद कहलाता है । और यदि हम किसी अर्थ को सीधे न जानकर दूसरे ज्ञान के माध्यम से जानते हैं तो वहाँ हमारा ज्ञान अविशद हो जाता है । जैसे हमारे सामने घट है । हम चक्षु से घट को देख कर घट का ज्ञान करते हैं । यहाँ चक्षु और घट के बीच में कोई दूसरा ज्ञान व्यवधान उत्पन्न नहीं करता है । अत: इस ज्ञान में प्रतीत्यन्तर (ज्ञानान्तर) का अव्यवधान होने से यह ज्ञान विशद है । अब व्यवधान का उदाहरण देखिए । हम धूम को देखकर पर्वत में अग्नि का ज्ञान करते हैं । यहाँ अग्नि का ज्ञान करने में धूम के ज्ञान का व्यवधान आता है । हम धूमज्ञान के बिना पर्वत में अग्नि का ज्ञान नहीं कर सकते हैं । अत: प्रतीत्यन्तर का व्यवधान आने के कारण पर्वत में हमें जो अग्नि का ज्ञान हुआ है वह अविशद है । इससे यह सिद्ध होता है कि किसी ज्ञान में वैशद्य होने के लिए ज्ञानान्तर का अव्यवधान आवश्यक है । कोई भी ज्ञान तभी विशद कहलाता है जब उसमें किसी ज्ञानान्तर का व्यवधान न हो ।

दूसरे प्रकार से भी वैशद्य को बतलाया गया है । वह इस प्रकार है—

विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।

अर्थात् विशेषरूप से प्रतिभासन का नाम भी वैशद्य है । किसी वस्तु के वर्ण, संस्थान आदि विशेषताओं का जो स्पष्ट प्रतिभास होता है उसे भी वैशद्य माना गया है । जैसे दूर देश में पहले किसी मनुष्य के संस्थानमात्र (सामान्याकार) का ज्ञान हुआ और बाद में उस देश के निकट पहुँचने पर उस मनुष्य के संस्थान विशेष (आकारविशेष) का ज्ञान होता है कि यह दाक्षिणात्य है, इसका वर्ण कृष्ण है, यह हृष्ट-पुष्ट है, इत्यादि । इस

प्रकार उस मनुष्य की विशेषताओं को जानकर उसके विषय में जो ज्ञान होता है वह विशद ज्ञान है । प्रतीत्यन्तर के अव्यवधान से वस्तु का प्रतिभास होना अथवा वस्तु की विशेषताओं का प्रतिभास होना, इन दोनों ही अवस्थाओं में वैशद्य पाया जाता है । ऐसा वैशद्य सब प्रत्यक्षों में उपलब्ध होता है । अत: यह प्रत्यक्ष का निर्दोष लक्षण है ।

यहाँ एक बात विशेषरूप से जानने योग्य है कि ज्ञानों में जो प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद बतलाया गया है वह बाह्य अर्थ के ग्रहण की अपेक्षा से ही होता है, स्वरूप संवेदन की अपेक्षा से उसमें कोई भेद नहीं होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि बाह्य अर्थ जानने के समय ज्ञानान्तर का व्यवधान और अव्यवधान होने के कारण ज्ञानों में वैशद्य और अवैशद्य संभव है । जिस ज्ञान में ज्ञानान्तर का व्यवधान होता है वह अविशद होता है और जिसमें ज्ञानान्तर का व्यवधान नहीं होता है वह विशद कहलाता है । किन्तु स्वस्वेदन में ऐसी बात नहीं है । स्वसंवेदन की अपेक्षा से तो सभी ज्ञान विशद ही हैं । क्योंकि वहाँ ज्ञानान्तर का व्यवधान नहीं होता है । इस दृष्टि से स्वरूपसंवेदनरूप सब ज्ञान प्रत्यक्ष ही होते हैं ।

न्यायदर्शन में प्रत्यक्षलक्षण विचार

न्यादर्शन में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्

अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ।

नैयायिकों द्वारा अभिमत प्रत्यक्ष का यह लक्षण समीचीन नहीं है । क्योंकि सब प्रत्यक्षों में यह लक्षण नहीं पाया जाता है । अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीन ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं । इन ज्ञानों में उक्त लक्षण का सद्भाव नहीं है । सुखादि के संवेदन में भी उक्त लक्षण संभव नहीं है । सुखादि का जो संवेदन होता है वह इन्द्रिय और सुखादि के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता है । यहाँ एक बात यह भी द्रष्टव्य है कि स्पर्शन आदि चार इन्द्रियों में तो अर्थ के साथ सन्निकर्ष पाया जाता है किन्तु चक्षु इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है। अत: चाक्षुषज्ञान में उक्त लक्षण का अभाव है । इस प्रकार नैयायिक अभिमत प्रत्यक्ष के लक्षण में अव्याप्ति दोष आने के कारण उक्त लक्षण निर्दोष नहीं है ।

चक्षुःसन्निकर्षवाद

नैयायिक मानते हैं कि चक्षु का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होता है । वे इसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से करते हैं । वह अनुमान इस प्रकार है—

चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं बाह्येन्द्रियत्वात् स्पर्शनेन्द्रियादिवत् ।

अर्थात् चक्षु अर्थ को प्राप्त कर (छूकर) ही उसको जानती है । क्योंकि वह बाह्य इन्द्रिय है, जैसे कि स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ । यहाँ हम नैयायिक से पूछना चाहते हैं कि जिस चक्षु को आप प्राप्तार्थप्रकाशक सिद्ध करना चाहते हैं उसका स्वरूप क्या है । क्या वह चक्षु गोलक स्वभाव (गोलाकार रूप) है या रश्मिरूप है । चक्षु को गोलकरूप मानकर यह कहना कि चक्षु प्राप्तार्थप्रकाशक है, सर्वथा गलत है । क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष से बाधा आती है । क्योंकि गोलकरूप चक्षु अर्थ के स्थान में न जाकर शरीरप्रदेश में ही स्थित रहती है । यदि गोलकरूप चक्षु अर्थ को प्राप्त करने के लिए बाहर जाती है तो उस समय आँख के पलक गोलक रहित दिखना चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है । अतः चक्षु को गोलकरूप मानना ठीक नहीं है ।

चक्षु को रश्मिरूप मानने पर भी प्रत्यक्ष से बाधा आती है । प्रत्यक्ष के द्वारा चक्षु की रश्मियों (किरणों) की प्रतीति होती ही नहीं है । नैयायिकों के मत में चक्षु तैजस (अग्नि) द्रव्यरूप है । अतः वे कह सकते हैं कि गोलक के अन्तर्गत तैजस द्रव्य से निकल कर बाहर गई हुई रश्मियों को हम चक्षु मानते हैं और वे रश्मियाँ प्राप्तार्थप्रकाशक होती है । यदि ऐसी बात है तो फिर गोलक का उन्मीलन (खोलना) और अंजनादि के द्वारा उसका संस्कार करना व्यर्थ हो जायेगा । क्योंकि गोलक खुला रहे या बन्द रहे, बाहर गई हुई रश्मियाँ तो अपना काम करेंगी ही । आँख में अंजनादि का संस्कार भी इसीलिए किया जाता है जिससे कि आँख अपना काम ठीक से करे । यदि गोलक से निकलकर अर्थ के साथ सम्बन्ध करने के लिए रश्मियाँ बाहर जाती हैं तो बाह्य प्रदेश में तैजस रश्मियों की उपलब्धि होना चाहिए । किन्तु उनकी उपलब्धि होती नहीं है । नर और नारी के नयन प्रभासुर रश्मि से रहित होते हैं, इस बात की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है ।

यदि चक्षु प्राप्तार्थप्रकाशक है तो चक्षु में लगे हुए अंजन का प्रकाशक भी उसे होना चाहिए । जो दूरवर्ती अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ है उससे

निकटवर्ती अर्थ का ग्रहण क्यों नहीं होगा । यदि ऐसा नियम हो कि चक्षु से सम्बद्ध अर्थ का ही ग्रहण होता है तो फिर चक्षु के द्वारा स्फटिक आदि से व्यवहित अर्थ का ग्रहण कैसे होगा । यदि चक्षु की रश्मियाँ स्फटिक का भेदन करके उससे व्यवहित अर्थ की प्रकाशक हो सकती हैं तो उन्हें मलसहित जल के अन्दर विद्यमान अर्थ की भी प्रकाशक होना चाहिए । क्योंकि जो रश्मियाँ कठोर स्फटिक का भेदन कर सकती है वे द्रवस्वभावरूप जल का भेदन तो आसानी से कर लेंगी । इस प्रकार अनेक दोषों से दूषित होने के कारण न तो गोलकरूप चक्षु और न रश्मिरूप चक्षु प्राप्तार्थप्रकाशक सिद्ध होती है । इसके विपरीत हम कह सकते हैं कि चक्षु अप्राप्तार्थप्रकाशक है, क्योंकि वह अति सन्निकट अर्थ अंजनादि की प्रकाशक नहीं होती है । उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि न तो चक्षु बाहर जाकर अर्थ के साथ सन्निकर्ष करती है और न अर्थ चक्षु के पास आकर चक्षु के साथ सन्निकर्ष करता है । अत: यह सिद्ध होता है कि चक्षु प्राप्तार्थप्रकाशक न होकर अप्राप्तार्थप्रकाशक है । इस प्रकार नैयायिकों का चक्षु:सन्निकर्षवाद निराकृत हो जाता है ।

प्रत्यक्ष के भेद

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष । उनमें से यहाँ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति के कारण और स्वरूप बतलाते हैं—

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥ ५ ॥

जो ज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) के द्वारा उत्पन्न होता है तथा एक देश विशद है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है ।

प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप समीचीन व्यवहार को संव्यवहार कहते हैं । ऐसा संव्यवहार जिस ज्ञान का प्रयोजन है उसे सांव्यवहारिक कहते हैं । यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष एक देश विशद होता है । इस सूत्र में 'इन्द्रियानिन्द्रियानिमित्तम्' इस पद के द्वारा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति के कारण बतलाये गये हैं । उक्त सूत्र में विशद और ज्ञान इन दो पदों की अनुवृत्ति होती है । अत: 'देशतः विशदं ज्ञान सांव्यवहारिकप्रत्यक्षम्' इस वाक्य के द्वारा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का स्वरूप बतलाया गया है ।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष एक देश विशद होता है, अवधि आदि ज्ञानों की तरह वह सर्वदेश विशद नहीं होता है । सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं— इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष । स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इन्द्रियप्रत्यक्ष है और मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं । वास्तव में तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष परोक्ष ही है, किन्तु लोकव्यवहार में इसे प्रत्यक्ष माना गया है । इसलिए लोकव्यवहार से समन्वय करने के लिए इसको यहाँ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दिया गया है ।

बौद्ध, नैयायिक आदि कुछ दार्शनिक अर्थ और आलोक को ज्ञान का कारण मानते हैं । इनके मत का निराकरण करने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत् ॥ ६ ॥

अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं हैं, परिछेद्य होने से, अन्धकार की तरह ।

परिच्छेद्य का अर्थ है विषय अथवा ज्ञेय । जिस प्रकार ज्ञान का विषय होने से अन्धकार ज्ञान का कारण नहीं होता है, इसी प्रकार अर्थ और आलोक भी ज्ञान के विषय होने से ज्ञान के कारण नहीं हो सकते हैं । यह नियम है कि जो ज्ञान का विषय होता है वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता है । अर्थ और आलोक को ज्ञान का विषय होने में कोई सन्देह नहीं है । क्योंकि हम इन्द्रियजन्य ज्ञान से अर्थ और आलोक को जानते ही हैं ।

अर्थ और आलोक को ज्ञान का कारण न होने में एक दूसरा भी हेतु दिया गया है ।

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवत् नक्तंचर-ज्ञानवच्च ॥ ७ ॥

ज्ञान का अर्थ और आलोक के साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं होने से वे ज्ञान के कारण नहीं हो सकते हैं । केशोण्डुकज्ञान और नक्तंचरज्ञान की तरह ।

ज्ञान कार्य है तथा अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण हैं । इनमें कार्यकारणभाव तभी सिद्ध हो सकता है जब इनमें अन्वय-व्यतिरेक हो ।

कार्य के होने पर कारण का होना अन्वय है और कारण के अभाव में कार्य का न होना व्यतिरेक है । जैसे धूम के होने पर वह्नि का होना अन्वय है और वह्नि के अभाव में धूम का नहीं होना व्यतिरेक है । ऐसा अन्वय-व्यतिरेक होने से ही धूम और वह्नि में कार्यकारणभाव होता है ।

किन्तु हम देखते हैं कि ज्ञान का अर्थ और आलोक के साथ इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक नहीं है । इसी बात की पुष्टि करने के लिए केशोण्डुकज्ञान और नक्तंचरज्ञान का उदाहरण दिया गया है । अर्थ के होने पर ही ज्ञान का होना अन्वय है और अर्थ के अभाव में ज्ञान का नहीं होना व्यतिरेक है । ऐसा अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान और अर्थ में नहीं है । क्योंकि अर्थ के अभाव में भी केशोण्डुकज्ञान हो जाता है । इसके द्वारा व्यतिरेक का अभाव बतलाया गया है । तथा अर्थ के रहने पर भी उस ओर उपयोग न होने से अन्यमनस्क पुरुष को अर्थ का ज्ञान नहीं होता है । इसके द्वारा अन्वय का अभाव बतलाया गया है । इस प्रकार ज्ञान और अर्थ में अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता है ।

इसी प्रकार ज्ञान और आलोक में भी अन्वय-व्यतिरेक नहीं पाया जाता है । आलोक के होने पर ही ज्ञान का होना अन्वय है और आलोक के अभाव में ज्ञान का नहीं होना व्यतिरेक है । ऐसा अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान और आलोक में नहीं है । क्योंकि आलोक के अभाव में भी मार्जार आदि नक्तंचर (रात्रि में चलने वाले) प्राणियों को अर्थ का ज्ञान हो जाता है । इसके द्वारा व्यतिरेक का अभाव बतलाया गया है । हम यह भी देखते हैं कि आलोक के रहने पर भी उलूक आदि प्राणियों को दिन में भी अर्थ का ज्ञान नहीं होता है । इसके द्वारा अन्वय का अभाव बतलाया गया है । इस प्रकार ज्ञान और आलोक में अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता है ।

सूत्र में केशोण्डुकज्ञान और नक्तंचरज्ञान का जो उदाहरण दिया गया है वह केवल व्यतिरेक का अभाव बतलाने के लिए ही है । अन्वय का अभाव बतलाने वाला कोई उदाहरण वहाँ नहीं है । किन्तु ज्ञानका अर्थ और आलोक के साथ व्यतिरेक नहीं होने से यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि उनका ज्ञान के साथ अन्वय भी नहीं है । क्योंकि व्यतिरेक के अभाव में अन्वय का अभाव भी स्वतः सिद्ध हो जाता है । इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यदि उनमें व्यतिरेक नहीं है तो मात्र अन्वय होने से

काम नहीं चलेगा । अन्वय और व्यतिरेक दोनों का होना आवश्यक है । तभी दो पदार्थों में कार्यकारणभाव सिद्ध होता है ।

अर्थकारणतावाद

जो लोग अर्थ को ज्ञान का कारण मानते हैं उनका वैसा मानना ठीक नहीं है । अर्थ तो ज्ञान का विषय होता है । इसलिए वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता है । जो ज्ञान का विषय होता है वह ज्ञान का कारण नहीं होता है, जैसे अन्धकार । अन्धकार ज्ञान का विषय तो है किन्तु ज्ञान का कारण नहीं है । इसके विपरीत यदि ऐसा माना जाय कि जो ज्ञान का कारण है वह ज्ञान का विषय भी होता है तो इन्द्रिय को भी ज्ञान का विषय मानना चाहिए । किन्तु इन्द्रिय ज्ञान का कारण होने पर भी ज्ञान का विषय नहीं है ।

प्रत्यक्ष से इस बात की सिद्धि नहीं होती है कि ज्ञान अर्थ का कार्य है । उससे तो केवल अर्थ का अनुभव होता है । केशोण्डुकज्ञान से भी यह सिद्ध होता है कि अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है । क्योंकि केशोण्डुकज्ञान अर्थ के अभाव में भी हो जाता है । यदि ज्ञान अर्थ का कार्य होता तो केशोण्डुकज्ञान अर्थ के अभाव में कैसे होता ? केशोण्डुकज्ञान भ्रमरूप ज्ञान है । यदि वह अर्थ के होने पर होता तो वह भ्रमज्ञान न होकर सत्य ज्ञान कहलाता । यहाँ यह समझने की आवश्यकता है कि केशोण्डुकज्ञान का ठीक अर्थ क्या है ? कुछ लोग इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि केशों में उण्डुक (कीड़ों) के ज्ञान का नाम केशोण्डुक ज्ञान है । परन्तु ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है । क्योंकि यह ज्ञान तो केशरूप अर्थ के होने पर ही हुआ है, अर्थ के अभाव में नहीं । यहाँ तो हमें यह बतलाना है कि अर्थ के अभाव में भी ज्ञान हो जाता है । किसी भी संस्कृत टीकाकर ने ऐसा नहीं लिखा है कि—

केशेषु उण्डुकज्ञानं केशोण्डुकज्ञानम् ।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि केशोण्डुक कोई वस्तु है जिसके अभाव में भी केशोण्डुक ज्ञान हो जाता है । अत: ज्ञान को अर्थ का कार्य मानने पर केशोण्डुकज्ञान के द्वारा व्यभिचार आता है । तथा यहाँ संशय ज्ञान के द्वारा भी व्यभिचार आता है । संशयज्ञान अर्थ के होने पर नहीं होता है । यदि संशय ज्ञान अर्थ के होने पर होता तो वह भ्रान्तज्ञान कैसे कहलाता ?

संशय ज्ञान के विषयभूत स्थाणु और पुरुष—इन दो अर्थों का एक ही स्थान में सद्भाव भी संभव नहीं है । इससे यही सिद्ध होता है कि संशय ज्ञान अर्थ के अभाव में होता है । उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यही है कि ज्ञान अर्थ का कार्य नहीं है ।

कुछ लोगों का ऐसा मत है कि जो ज्ञान का कारण है वही ज्ञान का विषय होता है । उनके मत में एक दोष यह भी है कि तब योगिज्ञान से पहले होने वाले अर्थों की ही योगिज्ञान से परिच्छित्ति (ज्ञान) होगी । योगिज्ञान के काल में होने वाले तथा भविष्यकाल में होने वाले अर्थों की योगिज्ञान के द्वारा परिच्छित्ति नहीं हो सकेगी । क्योंकि वे योगिज्ञान के कारण नहीं होते हैं । नैयायिक ईश्वर के ज्ञान को नित्य मानते हैं । उनके मत में ईश्वर के ज्ञान का कारण कोई अर्थ नहीं है । फिर भी ईश्वर के ज्ञान के द्वारा वे अर्थ परिच्छेद्य (विषय) होते हैं जो ईश्वर ज्ञान के कारण नहीं हैं ।

नैयायिक तम (अन्धकार) को पृथक् पदार्थ नहीं मानते हैं । उनके अनुसार आलोक का अभाव ही तम है । अतः वे कहते हैं कि सूत्र में दिया गया 'तमोवत्' दृष्टान्त गलत है । यहाँ हम (जैन) नैयायिक से ऐसा भी कह सकते हैं कि आलोक भी कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, किन्तु तम के अभाव का नाम ही आलोक है । यथार्थ बात तो यह है कि आलोक और तम दोनों का ही पृथक् अस्तित्व है । अतः सूत्र में दिया गया 'तमोवत्' दृष्टान्त गलत नहीं है । इत्यादि प्रकार से विचार करने पर ज्ञान में अर्थकारणता का निरास हो जाता है ।

आलोककारणतावाद

जिस प्रकार अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है उसी प्रकार आलोक भी ज्ञान का कारण नहीं है । यहाँ पहली बात तो यह है कि ज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य होने से आलोक ज्ञान का कारण नहीं हो सकता है । जैसे अन्धकार ज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य होता है वैसे आलोक भी ज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य होता है । अतः अन्धकार की तरह आलोक ज्ञान का कारण नहीं है । दूसरी बात यह है कि जिनके चक्षु विशेष प्रकार के अंजन से युक्त हैं ऐसे पुरुषों को तथा रात्रि में विचरण करने वाले मार्जार आदि कुछ जानवरों को आलोक के अभाव में भी रात्रि में पदार्थों का ज्ञान हो जाता है । गहन

अन्धकार में हमको आलोक के बिना भी अन्धकार की प्रतीति होती ही है । यदि आलोक ज्ञान का कारण होता तो आलोक के अभाव में अन्धकार की प्रतीति कैसे होती ? यह कहना भी ठीक नहीं है कि अन्धकार नामक कोई पदार्थ नहीं है जो ज्ञान के द्वारा जाना जाता हो, लोक में अन्धकार का व्यवहार तो ज्ञान की अनुत्पत्ति मात्र में होता है । यदि ऐसा है तो अन्धकार का अभाव मानने वालों को आलोक का भी अभाव मानना पड़ेगा । हम कह सकते हैं कि आलोक कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, लोक में आलोक का व्यवहार तो विशद ज्ञान की उत्पत्तिमात्र में होता है । अत: आलोक की तरह तम भी प्रतीति सिद्ध है । इस प्रकार विचार करने पर ज्ञान में आलोक-कारणता का निरास हो जाता है ।

ज्ञान न तो अर्थ जन्य है और न आलोक जन्य है, फिर भी वह उनका प्रकाशक होता है । इसी बात को बतलाने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥ ८ ॥

अर्थात् ज्ञान अर्थ और आलोक से उत्पन्न न होकर भी उनका प्रकाशक (जाननेवाला) होता है, दीपक की तरह । यहाँ दीपक के दृष्टान्त द्वारा पूर्वोक्त विषय को स्पष्ट किया गया है । घटादि पदार्थ दीपक द्वारा प्रकाश्य हैं और दीपक उनका प्रकाशक है । किन्तु ऐसा नहीं है कि दीपक घटादि से उत्पन्न होकर घटादि का प्रकाशक होता हो । वह तो घटादि से उत्पन्न न होकर भी घटादि का प्रकाशक होता ही है । इसी प्रकार ज्ञान भी अर्थ और आलोक से उत्पन्न न होकर भी उनको जानता है । जिस प्रकार घट और प्रदीप दोनों ही अपने अपने कारणों से उत्पन्न होकर परस्पर की अपेक्षा से उनमें प्रकाश्य और प्रकाशक धर्म की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार अर्थ और ज्ञान भी स्वसामग्री विशेष से उत्पन्न होकर परस्पर की अपेक्षा से उनमें ग्राह्य और ग्राहक धर्म की व्यवस्था होती है ।

यहाँ कोई शंकाकार कह सकता है कि यदि ज्ञान की उत्पत्ति अर्थ से नहीं होती है तो ज्ञान के प्रतिनियत विषय की व्यवस्था कैसे होगी ? इसका उत्तर देने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥ ९ ॥

अर्थात् अपने आवरण के क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा ज्ञान प्रतिनियत विषय की व्यवस्था करता है । इसका तात्पर्य यह है कि हम लोगों के ज्ञान पर आवरण पड़ा हुआ है । जब हमारे ज्ञान में प्रतिनियत विषय से सम्बन्धित ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है तब वह प्रतिनियत अर्थ को जानता है, अन्य को नहीं । इसका निष्कर्ष यह है कि जब हमारे ज्ञान में घट-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है तब हमारा ज्ञान घट को जानता है और जब पटज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है तब वह पट को जानता है । इस प्रकार हमारे ज्ञान में स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यता विद्यमान रहती है और उस योग्यता के द्वारा ज्ञान प्रतिनियत अर्थ को जानता है ।

कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि जो ज्ञान का कारण है वह ज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य होता है । इस मान्यता में दोष बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥ १० ॥

अर्थात् ज्ञान के कारण को परिच्छेद्य मानने पर इन्द्रिय आदि के द्वारा व्यभिचार आता है । अतः जो ज्ञान का कारण होता है वह ज्ञान का विषय होता है, ऐसा मत समीचीन नहीं है । चक्षु आदि इन्द्रियाँ ज्ञान के कारण तो होती हैं किन्तु वे ज्ञान का विषय नहीं होती हैं । चक्षु इन्द्रिय से उत्पन्न चाक्षुषज्ञान घटादि पदार्थों को तो जानता है किन्तु स्वयं चक्षु इन्द्रिय को नहीं जानता है । अतः यहाँ इन्द्रिय के द्वारा व्यभिचार (दोष) आने के कारण ज्ञान के कारण को परिच्छेद्य मानना युक्तिसंगत नहीं है । यदि कहा जाय कि इन्द्रिय में योग्यता के न होने के कारण ज्ञान के द्वारा इन्द्रिय का ग्रहण नहीं होता है, तो फिर सर्वत्र योग्यता ही प्रतिनियतविषय की व्यवस्था करने वाली मान लीजिए, तदुत्पत्ति आदि मानने से क्या लाभ है ?

मुख्य प्रत्यक्ष का स्वरूप

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥ ११ ॥

सम्यग्दर्शनादिरूप अन्तरंग और देशाकालादिरूप बहिरंग सामग्री की विशेषता (समग्रता) से दूर हो गये हैं समस्त आवरण (ज्ञानावरणादि) जिसके ऐसे अतीन्द्रिय और पूर्णरूप से विशद ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं ।

मुख्यप्रत्यक्ष के दो भेद हैं— विकलप्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष। विकलप्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान। अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लिये हुए इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त रूपी पदार्थों में होती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे की मन की अवस्थाओं का जो ज्ञान होता है वह मन:पर्ययज्ञान है। मन:पर्ययज्ञानी दूसरे के मन में स्थित चिन्तित, अर्द्धचिन्तित और अचिन्तित अर्थ को जानता है। मन:पर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है। इन दोनों ज्ञानों का विषय सीमित होता है। इसीलिए ये दोनों ज्ञान विकल मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं। ये दोनों ज्ञान कतिपय रूपी पदार्थों को ही जानते हैं। किन्तु इनका जितना भी विषय होता है उस विषय में ये पूर्णरूप से विशद होते हैं। इसी कारण इनकी गणना मुख्य प्रत्यक्ष में की गई है।

केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म का पूर्ण क्षय हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इसका विषय जीव, पुद्गल आदि सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें हैं। अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं और केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। ये तीनों ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं। अतीन्द्रिय होने से तथा अपने विषय में पूर्ण विशद होने से इनको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। मुख्य प्रत्यक्ष आत्ममात्र जन्य होता है। इसकी उत्पत्ति में इन्द्रिय आदि अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती है।

कर्मों में पौद्गलिकत्व सिद्धि

जैनदर्शन की मान्यता है कि कर्म पौद्गलिक हैं। किन्तु अन्य दर्शनों ने ऐसा नहीं माना है। आत्मा के ज्ञानादि गुणों को जो आच्छादित करता है उसे आवरण कहते हैं। ऐसा आवरण कौन हो सकता है ? शरीर, देश, काल आदि को आवरण नहीं माना जा सकता है। परन्तु इनसे भिन्न ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को ही आवरण कहा गया है। संसारी प्राणियों का

ज्ञान अपने विषय में सावरण होता है । हम कह सकते हैं कि जो ज्ञान अपने विषय में प्रवृत्ति नहीं करता है वह सावरण है । जैसे कामला आदि रोग से दूषित व्यक्ति का चाक्षुषज्ञान एक चन्द्र में प्रवृत्ति न करने के कारण सावरण है । उसे एक चन्द्र के स्थान में दो चन्द्र दिखते हैं । तथा जो अपने विषय में अस्पष्ट ज्ञान है वह भी सावरण है । जैसे कुहरे से आच्छादित वस्तुओं का ज्ञान ।

आत्मा के ज्ञानादि गुणों के आच्छादक कर्म हैं और वे कर्म पौद्गलिक हैं । यहाँ कोई शंका कर सकता है कि पौद्गलिक होने से कर्म मूर्त हैं और मूर्त ज्ञानावरणादि अमूर्त आत्मा का आवरण कैसे कर सकता है ? इसके उत्तर में हमारा कथन यह है कि मूर्त के द्वारा भी अमूर्त का आवरण देखा जाता है । मदिरा मूर्त है और उसके पीने पर ज्ञान या चैतन्य पर उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । मद्यपान करने वाला व्यक्ति अपनी सुध-बुध भूल जाता है । यह सब मद्यपान के प्रभाव से ही होता है । अत: मूर्त कर्मों द्वारा अमूर्त आत्मा का आवरण होने में कोई विरोध नहीं है ।

यहाँ यौग (नैयायिक-वैशेषिक) कहते हैं कि धर्म और अधर्म संज्ञक कर्म तो आत्मगुण हैं । वे पौद्गलिक नहीं हो सकते हैं । उनका ऐसा कथन सर्वथा गलत है । यदि धर्माधर्मरूप अथवा अदृष्टरूप कर्म आत्मगुण हैं तो वे आत्मा के परतन्त्र होने में निमित्त नहीं हो सकते हैं । यह तो स्पष्ट ही है कि शरीर आदि हीनस्थान का परिग्रह (स्वीकार) करने के कारण आत्मा परतन्त्र है । कारागार की तरह दु:ख का हेतु होने से शरीर को हीनस्थान कहा गया । और हीनस्थान को धारण करने के कारण आत्मा परतन्त्र है । अत: जैनदर्शन का यह कथन सत्य है कि आत्मा की परतन्त्रता में निमित्त होने के कारण कर्म पौद्गलिक हैं । ऐसी आशंका भी ठीक नहीं है कि अनादिकालीन परम्परा से चले आये कर्म का निरोध कैसे संभव है ? क्योंकि संवर और निर्जरा के द्वारा कर्मों का निरोध और क्षय किया जा सकता है । संवर से आने वाले कर्मों का निरोध किया जाता है और निर्जरा से संचित कर्मों का क्षय हो जाता है । इसलिए सन्तान की अपेक्षा से अनादि होने पर भी सम्यग्दर्शनादि का परम प्रकर्ष हो जाने पर ज्ञानावरणादि कर्मों का पूर्ण रूप से प्रक्षय हो जाता है ।

सर्वज्ञत्वविचार

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि इस संसार में कोई पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं ? इस विषय में मीमांसकों की मान्यता है कि कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है ।

पूर्वपक्ष—

मीमांसकों का कहना है कि सत् पदार्थ के उपलम्भक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का विषय न होने के कारण कोई भी पुरुष सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है । जिस पदार्थ की सत्ता है उसका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होता है । किन्तु सर्वज्ञ का ज्ञान तो किसी भी प्रमाण से नहीं होता है । प्रत्यक्ष से तो सर्वज्ञ की सिद्धि होती नहीं है । क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रिय सम्बद्ध और वर्तमान अर्थ को ही जानता है । हम प्रत्यक्ष से अन्य पुरुष में विद्यमान ज्ञान को नहीं जान सकते हैं । तब अनादि, अनन्त, अतीत, अनागत, वर्तमान और सूक्ष्मादि स्वभावयुक्त सकल पदार्थों को साक्षात् करने वाले ज्ञानविशेष (केवलज्ञान) को तथा ऐसे ज्ञानयुक्त पुरुष को प्रत्यक्ष से कैसे जान सकते हैं । अनुमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ को सिद्ध नहीं किया जा सकता है । यदि सर्वज्ञ के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला कोई हेतु हो तो उस हेतु से सर्वज्ञ का अनुमान किया जा सकता है । किन्तु ऐसा कोई हेतु उपलब्ध नहीं है । इसलिए सर्वज्ञ अनुमान द्वारा साध्य नहीं है । सर्वज्ञ को आगम प्रमाण से भी सिद्ध नहीं कर सकते हैं । इस विषय में दो विकल्प होते हैं—नित्य आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि होगी या अनित्य आगम से ? नित्य आगम (वेद) सर्वज्ञ का साधक नहीं है । वह तो 'यह करो और यह मत करो' इत्यादि प्रकार से विधि और निषेध रूप कार्य का ही प्रतिपादक है । एक बात यह भी है कि वेद अनादि है और सर्वज्ञ सादि है । तब अनादि आगम में सादि सर्वज्ञ की बात कैसे हो सकती है ? अनित्य आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि मानने पर प्रश्न होगा कि वह आगम सर्वज्ञ प्रणीत है या अन्य पुरुष प्रणीत ? सर्वज्ञ की सिद्धि के बिना सर्वज्ञ प्रणीत आगम संभव नहीं है और अन्य पुरुष प्रणीत आगम उन्मत्तवाक्य की तरह अप्रमाण है । ऐसी स्थिति में अनित्य आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि संभव नहीं है ।

इसीप्रकार उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

उपमान से सर्वज्ञ की सिद्धि तभी संभव है जब पहले उपमानभूत कोई सर्वज्ञ पुरुष प्रत्यक्ष से ज्ञात हो । तदनन्तर उपमानभूत पुरुष के सादृश्य से अन्य पुरुष में सर्वज्ञत्व की सिद्धि की जा सकती है । परन्तु उपमानभूत कोई पुरुष विशेष उपलब्ध नहीं होता है । तब उपमान सर्वज्ञ साधक कैसे हो सकता है । अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती है । यदि ऐसा कोई अर्थ उपलब्ध हो जो सर्वज्ञ के सद्भाव के बिना नहीं हो सकता है तो उस अर्थ के द्वारा सर्वज्ञ की कल्पना की जा सकती है । किन्तु ऐसा कोई अर्थ उपलब्ध ही नहीं है । धर्मादि का उपदेश तो सर्वज्ञत्व के बिना भी हो सकता है । इस प्रकार प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है । अब शेष बचता है अभाव प्रमाण और अभाव प्रमाण से तो सर्वज्ञ का अभाव ही सिद्ध होता है ।

मीमांसक सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिए कुछ अन्य तर्क भी देते हैं । उनका कहना है कि किसी पुरुष में ज्ञान का इतना अतिशय नहीं हो सकता है कि वह अखिल पदार्थों का साक्षात्कार कर सके । जहाँ पर भी अतिशय देखा जाता है वह अपने विषय या सीमा का उल्लंघन करके नहीं होता है । चक्षु का अतिशय दूरवर्ती या सूक्ष्म अर्थ के देखने में हो सकता है, परन्तु शब्द का ज्ञान करने में चक्षु का अतिशय संभव नहीं है । जो व्यक्ति आकाश में दस हाथ ऊपर उछल सकता है वह सैकड़ों अभ्यास करने पर भी एक योजन ऊपर नहीं उछल सकता है । सर्वज्ञ का निषेध करने में मीमांसकों का तात्पर्य केवल इतना है कि कोई पुरुष धर्मज्ञ नहीं हो सकता है । यदि वह धर्म को छोड़कर अन्य समस्त पदार्थों का साक्षात्कार करता है तो इसमें मीमांसकों को कोई आपत्ति नहीं है । इसी विषय में उन्होंने कहा है—

धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते ।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥

अर्थात् सर्वज्ञ के निषेध करने में केवल धर्मज्ञत्व का निषेध ही मीमांसकों को अभीष्ट है । यदि कोई पुरुष धर्म के अतिरिक्त अन्य सब अर्थों को जानता है तो उसे कौन रोकता है । यथार्थ बात तो यह है कि सर्वज्ञ का जो काम है उसे करने में वेद ही समर्थ है । इसी विषय में

शाबरभाष्य में बतलाया गया है—

"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलं नान्यत् किंचनेन्द्रियादिकम् ।"

अर्थात् वेद भूत, वर्तमान, भावी, सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, इत्यादि प्रकार के अर्थ को जानने में समर्थ है, अन्य इन्द्रियादि कोई भी ऐसे अर्थ को जानने में समर्थ नहीं है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि कोई पुरुष विशेष उक्त प्रकार के अर्थ को नहीं जान सकता है । जिस काल में सर्वज्ञ विद्यमान है उस काल में भी असर्वज्ञों द्वारा 'यह सर्वज्ञ है' ऐसा ज्ञान संभव नहीं है । क्योंकि सर्वज्ञ के द्वारा ज्ञेय अखिल अर्थों के ज्ञान से रहित असर्वज्ञ पुरुष सर्वज्ञ का ज्ञान कैसे कर सकते हैं ? इत्यादि प्रकार से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिए मीमांसकों ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया है ।

उत्तरपक्ष—

मीमांसकों ने सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिए अपने पक्ष के समर्थन में जो कुछ कहा है वह युक्तिसंगत नहीं है । सब से पहले उन्होंने कहा है कि सर्वज्ञ की सिद्धि प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से नहीं होती है । उनका ऐसा कथन सत्य नहीं है । क्योंकि अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं है । सर्वज्ञ साधक अनुमान इस प्रकार है—

'कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभाववत्त्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यथापगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षाकारि'

अर्थात् कोई आत्मा सकल पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला है, क्योंकि उसका स्वभाव सकलपदार्थों के ग्रहण करने का है तथा उसके प्रतिबन्धक जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनका प्रक्षय हो गया है । जैसे तिमिर आदि रोग-रूप प्रतिबन्ध से रहित चाक्षुषज्ञान रूप का साक्षात्कार करता है ।

मीमांसक स्वयं मानते हैं कि आत्मा का स्वभाव सकल पदार्थों के साक्षात्कार करने का है । तभी तो वे कहते हैं कि वेद के द्वारा पुरुषों को अखिल पदार्थों का ज्ञान हो जाता है । व्याप्तिज्ञान के द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि आत्मा का स्वभाव सकल पदार्थों को जानने का है । धूम और वह्नि में जो व्याप्तिज्ञान होता है वह सकलदेशवर्ती और सकलकालवर्ती धूम

और वह्नि में होता । ऐसा तभी संभव है जब आत्मा में सकलदेशवर्ती और सकलकालवर्ती धूम और वह्नि के जानने का स्वभाव हो ।

सर्वज्ञ का साधक एक अनुमान और भी है जो इस प्रकार है—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् पावकादिवत् ।

सूक्ष्म परमाणु आदि, अन्तरित राम, रावणादि और दूरवर्ती सुमेरु आदि पदार्थ किसी पुरुष के प्रत्यक्ष होते हैं, प्रमेय होने से, अग्नि आदि की तरह । जो भी प्रमेय है वह किसी के प्रत्यक्ष भी होता है । जैसे कि पर्वत के नीचे रहने वाले लोगों के लिए पर्वत में स्थित वह्नि प्रमेय अथवा अनुमेय है, परन्तु पर्वत पर स्थित पुरुष तो उसका प्रत्यक्ष करता ही है । इसीप्रकार जिन सूक्ष्मादि पदार्थों को हम अनुमान से जानते हैं उनको प्रत्यक्ष से जानने वाला कोई पुरुष अवश्य होना चाहिए और जो उनको प्रत्यक्ष से जानता है वही सर्वज्ञ है ।

ऐसा भी नहीं है कि ज्ञान का अपने विषय में परम प्रकर्ष संभव न हो । ज्ञान का स्वभाव पदार्थों को जानने का है । परन्तु उस पर आवरण होने के कारण वह अपने द्वारा जानने योग्य पदार्थों को नहीं जान पाता है । और जब ज्ञानावरणादि आवरणों की प्रतिपक्षभूतसामग्री सम्यग्दर्शनादि का परम प्रकर्ष हो जाता है तब सम्पूर्ण आवरण के हट जाने पर ज्ञानादि गुणों का भी परम प्रकर्ष हो जाता है । इसी विषय में किसी उच्चकोटि के दार्शनिक ने कितना अच्छा कहा है—

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने ।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ॥

अर्थात् जब आत्मा का स्वभाव ज्ञेय को जानने का है तो वह प्रतिबन्ध (आवरण) के दूर हो जाने पर अज्ञ कैसे रह सकता है ? अर्थात् वह अज्ञ नहीं रह सकता है, वह तो पदार्थों को जानेगा ही । जैसे कि अग्नि का स्वभाव वस्तुओं के दहन करने का है तो वह प्रतिबन्ध के न रहने पर दाह्य वस्तुओं को क्यों नहीं जलायेगी, अवश्य ही जलायेगी । यह दूसरी बात है कि मणि, मन्त्रादि के द्वारा प्रतिबन्धित अग्नि इन्धन को नहीं जला पाती है । इत्यादि प्रकार से हम पहले सामान्य सर्वज्ञ की सिद्धि करते हैं । तदनन्तर हम यह भी कहते हैं कि अर्हन्त भगवान् ही सर्वज्ञ हैं, क्योंकि उनके वचन

प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरोधी हैं । उनके वचनों में किसी भी प्रमाण से विरोध नहीं आता है । इस प्रकार विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि भी हो जाती है ।

यहाँ ऐसी शंका करना ठीक नहीं है कि अतीत तथा अनागत पदार्थों का कोई निश्चित स्वरूप न होने के कारण सर्वज्ञ के द्वारा उन पदार्थों का ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि जिस प्रकार वर्तमान कालवर्ती पदार्थों का अस्तित्व पाया जाता है उसी प्रकार अतीत और अनागत कालवर्ती पदार्थों का सत्त्व भी संभव है । यह कहना भी ठीक नहीं है कि सर्वज्ञ के द्वारा एक ही क्षण में सब पदार्थों का ग्रहण हो जाने पर द्वितीयादि क्षणों में वह अज्ञ हो जायेगा । ऐसा तो तब हो सकता है जब द्वितीयादि क्षणों में पदार्थों का अथवा सर्वज्ञ के ज्ञान का अभाव हो । किन्तु ऐसा है नहीं । सर्वज्ञ का ज्ञान और सब पदार्थ तो अनन्त हैं । अतः सर्वज्ञ उन पदार्थों को प्रत्येक समय जानता है । मीमांसकों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि सर्वज्ञ के विद्यमान रहने पर भी असर्वज्ञों के द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकने के कारण सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं माना जा सकता है । क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि विषय का परिज्ञान न होने पर विषयी (ज्ञान या ज्ञाता) का भी परिज्ञान न हो । अन्यथा जो पुरुष सम्पूर्ण वेदार्थ को नहीं जानता है उसके द्वारा जैमिनी आदि में सकल वेदार्थ के परिज्ञान का निश्चय कैसे होगा ? मीमांसक मानते हैं कि जैमिनी सकल वेदार्थ के परिज्ञाता हैं । इसी प्रकार असर्वज्ञ हम लोग भी कह सकते हैं कि सर्वज्ञ सकल पदार्थों का परिज्ञाता है ।

अन्त में हमको इतना ही कहना है कि सर्वज्ञ के सद्भाव में बाधक प्रमाणों का असंभव सुनिश्चित होने के कारण अशेषार्थवेदी सर्वज्ञ की सत्ता सुनिश्चत है । प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण सर्वज्ञ की सत्ता का बाधक नहीं है । प्रत्यक्ष से सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है । जो पुरुष प्रत्यक्ष से ऐसा जानता हो कि सर्वत्र सर्वदा कोई सर्वज्ञ नहीं है तो ऐसा जानने वाला स्वयं सर्वज्ञ हो जायेगा । अनुमान से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने में वक्तृत्वात्, पुरुषत्वात्, रागादिदोषदूषितत्वात्—इत्यादि हेतु दिये जाते हैं । ये सब हेतु विरुद्ध आदि दोषों से दूषित होने के कारण तज्जन्य अनुमान सर्वज्ञ बाधक नहीं हो सकता है । वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व में कोई विरोध भी नहीं है ।

आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता

है । यहाँ तीन विकल्प संभव हैं—सर्वज्ञ प्रणीत आगम, अन्यप्रणीत आगम और अपौरुषेय आगम । इनमें से सर्वज्ञ प्रणीत आगम से तो सर्वज्ञ का सद्भाव ही सिद्ध होता है । अन्य प्रणीत आगम तो रथ्यापुरुष के वाक्य की तरह प्रमाण ही नहीं है । तब उसके द्वारा सर्वज्ञ का अभाव कैसे सिद्ध होगा ? यदि अपौरुषेय आगम वेद जैमिनी आदि के लिए सर्वज्ञाभाव का प्रतिपादन करता है तो हम सब के लिए भी वैसा ही करना चाहिए, किन्तु ऐसा है नहीं । सर्वज्ञाभाव बतलाने वाला कोई वेदवाक्य भी दृष्टिगोचर नहीं होता है । इसलिए आगम से सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है । उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि उपमान और उपमेय का प्रत्यक्ष होने पर उनमें सादृश्य के कारण उपमान की प्रवृत्ति होती है । इस समय उपमानभूत और उपमेयभूत सब पुरुषों का प्रत्यक्ष तो किसी को होता नहीं है । यदि ऐसा होता तो यह कहा जा सकता है कि जैसे ये पुरुष सर्वज्ञ नहीं हैं वैसे ही अन्य पुरुष भी सर्वज्ञ नहीं हैं । अत: उपमान प्रमाण सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं है । अर्थापत्ति भी सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करने में असमर्थ है । क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है जो सर्वज्ञाभाव के बिना न होता हो । अभाव प्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता है । अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति तभी होती है जब निषेध्य का स्मरण हो और निषेध्य के आधार का ज्ञान हो । यहाँ सर्वज्ञ निषेध्य है और सकल देश तथा काल निषेध्य का आधार है । आज तक न तो किसी ने सर्वज्ञ को देखा है जिससे उसका स्मरण हो और न किसी को सकल देश-काल का ज्ञान है । तब अभाव प्रमाण सर्वज्ञ के अभाव को कैसे सिद्ध करेगा ? इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में बाधक प्रमाणों का असंभव सुनिश्चित होने के कारण सर्वज्ञ का अस्तित्व मानना प्रमाण संगत है ।

ईश्वरकर्तृत्वविचार

यहाँ इस बात पर विचार करना है कि इस विश्व में कोई सृष्टिकर्ता है या नहीं । इस विषय में नैयायिक-वैशेषिकों का मत है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता है तथा वह सर्वज्ञ और अनादिमुक्त है ।

पूर्वपक्ष—

नैयायिक मानते हैं कि ईश्वर पृथिवी, शरीर आदि कार्यों का कर्ता है

और इसकी सिद्धि वे अनुमान प्रमाण से करते हैं । ईश्वर में कर्तृत्व साधक अनुमान इस प्रकार है—

क्षित्यादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वात् घटादिवत् ।

क्षिति, पर्वत, वृक्ष आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान के द्वारा निर्मित हैं, क्योंकि ये कार्य हैं, जो कार्य होता है वह किसी बुद्धिमान के द्वारा निर्मित होता है, जैसे घट । जो भी कार्य होता है उसका कोई न कोई बुद्धिमान् कर्ता अवश्य होता है । इस बात को सब जानते हैं कि घट एक कार्य है और उसका कर्ता कुंभकार है । कर्ता के बिना घट-पट आदि कार्यों की उत्पत्ति कभी नहीं देखी गई है । इसीप्रकार पृथिवी, पर्वत आदि कार्यों का कर्ता कोई बुद्धिमान् अवश्य होना चाहिए । और पृथिवी आदि कार्यों का जो कर्ता है वही ईश्वर है । यहाँ कार्यत्व हेतु से पृथिवी आदि में बुद्धिमान् कर्ता की सिद्धि की गई है । पृथिवी आदि में कार्यत्व की सिद्धि भी सावयवत्व हेतु से होती है । जो भी पदार्थ सावयव (अवयवसहित) होता है वह कार्य भी होता है, जैसे प्रासाद । यत: क्षित्यादि सावयव हैं इसलिए वे कार्य अवश्य हैं ।

यहाँ कोई वादी नैयायिक से कह सकता है कि क्षिति आदि से जन्य वनस्पति आदि कार्यों की उत्पत्ति में क्षिति आदि का ही अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है । इस कारण इन से अतिरिक्त किसी अन्य कारण ईश्वर की कल्पना करना ठीक नहीं है । ईश्वर दृश्य भी नहीं है, तब उसको कर्ता क्यों माना जाता है । इस विषय में नैयायिकों का कहना है कि ऐसा मानने पर तो धर्म और अधर्म में भी कार्य के प्रति कारणता सिद्ध नहीं होगी । अदृष्ट (धर्माधर्म) भी कार्य के प्रति कारण होता है और इसी अदृष्ट के कारण जगत में प्रत्येक वस्तु किसी के सुख का और किसी के दु:ख का कारण होती है । क्षित्यादि सामग्री से उत्पन्न होने वाले कार्यों का कोई बुद्धिमान् कर्ता अवश्य है, किन्तु वह कुंभकारादि की तरह उपलब्धिलक्षणप्राप्त (दृश्य) नहीं है, इसीलिए उसका उपलंभ नहीं होता है । हम लोगों के लिए ईश्वर का अनुपलंभ उसके असत् होने के कारण नहीं है किन्तु शरीरादि के अभाव के कारण है । ईश्वर अशरीर है और कुंभकार सशरीर है । सशरीर होने से कुंभकार का उपलंभ होता है और अशरीर होने से

ईश्वर का उपलंभ नहीं होता है । शरीर के अभाव में कर्तृत्व का अभाव नहीं माना जा सकता है । क्योंकि शरीर के साथ कर्तृत्व का कोई अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है । यथार्थ में कर्तृत्व का आधार ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न है, सशरीरता या अशरीरता नहीं । शरीर होने पर भी जो व्यक्ति घटादि कार्य को करना नहीं जानता है वह घटादि का कर्ता नहीं हो सकता है । जानने पर भी इच्छा के अभाव में और इच्छा होने पर भी प्रयत्न के अभाव में कोई किसी कार्य का कर्ता नहीं देखा गया है ।

नैयायिक ईश्वर को सृष्टि कर्ता होने के साथ ही सर्वज्ञ भी मानते हैं और ईश्वर में सर्वज्ञता की सिद्धि सम्पूर्ण कार्यों को करने के कारण करते हैं । ईश्वर संसार के समस्त कार्यों का कर्ता तभी हो सकता है जब वह सब कार्यों के उपादानादि समस्त कारणों का ज्ञाता हो । यदि वह विश्व में होने वाले सब कार्यों के समस्त कारणों का ज्ञाता न हो तो वह पृथिवी आदि कार्यों को कर ही नहीं सकता है । अत: ईश्वर को सर्वज्ञ मानना आवश्यक है । आगम से भी ईश्वर में सर्वज्ञत्व की सिद्धि होती है । तथा हि—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात् ।

इत्यादि आगम बतलाता है कि ईश्वर सर्वज्ञ और व्यापक है । ईश्वर के चक्षु चारों ओर हैं । इसका मतलब यही है कि ईश्वर सब को जानता और देखता है । सर्वज्ञ होने के साथ ही ईश्वर अनादिमुक्त भी है । क्योंकि पृथिवी आदि कार्यों की परम्परा अनादि है और इस अनादिकार्यपरम्परा का कर्ता होने से ईश्वर अनादिमुक्त है । उसे सादिमुक्त मानने पर वह अनादि कार्यपरम्परा का कर्ता कैसे हो सकता है । अत: उसे अनादिमुक्त मानना आवश्यक है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता है, सर्वज्ञ है और अनादिमुक्त है ।

इस प्रकार प्रमाणसिद्ध ईश्वर करुणा के कारण प्राणियों के शरीर आदि की रचना में प्रवृत्ति करता है । यहाँ ऐसी शंका ठीक नहीं है कि जब ईश्वर करुणा के कारण शरीर आदि की रचना करता है तो उसे सुख के साधक शरीरादि की ही रचना करनी चाहिए, दु:ख के साधक शरीरादि की नहीं । इसका उत्तर यह है कि ईश्वर प्राणियों के अदृष्ट की सहायता से ही शरीरादि की रचना करता है । अत: पुण्यरूप या पापरूप जिसका जैसा अदृष्ट होता

है उसी के अनुसार वह उसी प्रकार के फल का उपभोग करने के लिए शरीरादि की रचना करता है । क्योंकि फल के उपभोग के बिना अदृष्ट का क्षय नहीं होता है और अदृष्ट के क्षय के बिना अपवर्ग (मोक्ष) भी नहीं मिल सकता है । यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि प्राणियों के अदृष्ट से ही सब कार्य उत्पन्न हो जायेंगे, ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है । इस विषय में नैयायिकों का कहना है कि केवल अदृष्ट से ही सब कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते हैं । क्योंकि अचेतन होने से अदृष्ट को भी एक चेतन अधिष्ठाता की आवश्यकता होती है और जो अचेतन कारणों का अधिष्ठाता है वही ईश्वर है । संसारी प्राणियों की आत्मा अचेतन कारणों का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है । क्योंकि अल्पज्ञ होने से उसको अदृष्ट, परमाणु आदि कारणों का ज्ञान संभव नहीं है । अत: तनु, करण, भुवनादि कार्यों के जो भी उपादान कारण हैं वे चेतनाधिष्ठित होकर ही अपना कार्य करते हैं । न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने इस विषय में न्यायवार्तिक में बतलाया है—

महाभूतादिव्यक्तं चेतनाधिष्ठितं प्राणिनां सुख दु:खादिनिमित्तं रूपादिमत्त्वात् तुर्यादिवत् । तथा पृथिव्यादीनि महाभूतानि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु धारणाद्यासु क्रियासु प्रवर्तन्ते अनित्यत्वात् वास्यादिवत् ।

अर्थात् पृथिवी आदि महाभूतरूप कार्य चेतन से अधिष्ठित होकर ही प्राणियों के सुख-दु:खादि में निमित्त होते हैं, रूपादिमान् होने से, तुरी (कपड़ा बुनने का एक औजार) आदि की तरह । तथा पृथिवी आदि महाभूत बुद्धिमान् कारण से अधिष्ठित होकर ही धारण आदि अपने कार्यों में प्रवृत्ति करते हैं, अनित्य होने से, वास्य (वसूला) आदि की तरह । तुरी, वास्य आदि चेतन से अधिष्ठित हुए बिना अपना काम नहीं कर सकते हैं । अत: सब अचेतन कारण ईश्वर से अधिष्ठित होकर ही अपना काम करते हैं । इस प्रकार से नैयायिकों ने ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व की सिद्धि की है ।

उत्तरपक्ष—

नैयायिक-वैशेषिकों ने ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध करने के लिए जो कुछ कहा है वह तर्कसंगत नहीं है । उन्होंने सावयवत्व हेतु से क्षित्यादि में कार्यत्व की सिद्धि की है और कार्यत्व हेतु से ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व की सिद्धि की गई है । किन्तु जब हम सावयवत्व और कार्यत्व हेतु का विचार करते हैं तो इनमें अनेक दोष आते हैं । सावयवत्व क्या है ? अवयवों के

साथ रहना अथवा अवयवों द्वारा उत्पन्न होना, इत्यादि विकल्पों द्वारा सावयवत्व हेतु को सदोष बतलाया गयाहै । गोत्वादि सामान्य अपने अवयवों के साथ रहता है, परन्तु वह कार्य नहीं है । उसे तो न्यायदर्शन में नित्य माना गया है । पृथिवी आदि कार्य अपने अवयव परमाणु आदि से उत्पन्न होने के कारण सावयव हैं, ऐसा मानने पर यह कहा जा सकता है कि परमाणु आदि अवयवों की सिद्धि प्रत्यक्ष से तो होती नहीं है, तब क्षित्यादि परमाणुओं से उत्पन्न होते हैं, इसको भी कैसे सिद्ध करेंगे । अत: सावयवत्व की सिद्धि न होने पर उसके द्वारा क्षित्यादि में कार्यत्व की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी ।

यहाँ नैयायिकों से यह पूछा जा सकता है कि क्षित्यादि में कार्यत्व सर्वथा है या कथंचित् । सर्वथा कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा से सब पदार्थ अकार्य हैं । उनमें कथंचित् कार्यत्व मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि उनका कर्ता कथंचित् बुद्धिमान् है, सर्वथा नहीं । नैयायिकों ने क्षित्यादि कार्यों के कर्ता को बुद्धिमान् माना है । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि बुद्धिमान् से बुद्धि भिन्न है या अभिन्न । बुद्धि को बुद्धिमान् से भिन्न मानने पर यह बुद्धि उसकी है, आकाशादि की नहीं, इसका निश्चय कैसे होगा । बुद्धि को आत्मा से अभिन्न मानने पर आत्मामात्र अथवा बुद्धिमात्र का ही अस्तित्व रहेगा, दोनों का नहीं । यह भी प्रश्न है कि उसकी बुद्धि क्षणिक है या अक्षणिक । यदि बुद्धि क्षणिक है तो द्वितीय क्षण में उसका प्रादुर्भाव कैसे होगा । किसी कार्य का प्रादुर्भाव समवायी आदि तीन कारणों से होता है । ईश्वर में बुद्धि के उत्पादक असमवायी कारण आत्ममन:संयोग और निमित्त कारण शरीरादिक नहीं हैं । तब ईश्वर में द्वितीय आदि क्षणों में बुद्धि कैसे उत्पन्न होगी ।

यहाँ नैयायिक कहते हैं कि यह सत्य है कि हम लोगों की बुद्धि समवायादि तीन कारणों के होने पर ही होती है, किन्तु ईश्वर की बुद्धि हम लोगों की बुद्धि से विलक्षण है । अत: वह समवायादि तीन कारणों के अभाव में भी उत्पन्न हो जाती है । यदि ऐसा है तो यहाँ हम कह सकते हैं कि क्षित्यादिक कार्य भी घटादि कार्यों से विलक्षण हैं । इसलिए क्षित्यादिक की उत्पत्ति बुद्धिमान् कारण के बिना मान लेने में क्या आपत्ति है । इस दोष से बचने के लिए यदि नैयायिक ईश्वर की बुद्धि को अक्षणिक मान लेते हैं

तो इस विषय में हम यही कहेंगे कि हम लोगों की तरह ईश्वर की बुद्धि भी क्षणिक है । ईश्वर की बुद्धि अक्षणिक है और हमारी बुद्धि क्षणिक है, इसका हेतु क्या है । इस विषयमें नैयायिकों का कहना है कि हम लोगों की बुद्धि में क्षणिकतारूप विशेषता को और ईश्वर की बुद्धि में अक्षणिकतारूप विशेषता को मानना आवश्यक है । ऐसा मानने में ही ईश्वर का ईश्वरत्व है । यदि ऐसा है तो हम भी यह कह सकते हैं कि घटादि कार्य कर्ता के द्वारा होते हैं और क्षित्यादि कार्य कर्ता के बिना ही हो जाते हैं, ऐसा मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

हम यह मान भी लें कि प्रत्येक कार्य बुद्धिमत्कारणपूर्वक होता है, फिर भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि नवीन कूप, प्रासाद आदि में जिस प्रकार का बुद्धिमत्कारणपूर्वक कार्यत्व देखा जाता है उस प्रकार का बुद्धिमत्कारणपूर्वक कार्यत्व क्षित्यादि कार्यों में क्यों दृष्टिगोचर नहीं होता है । हम लोगों ने जीर्ण कूप, प्रासाद आदि के निर्माण कार्य को नहीं देखा है, फिर भी उनमें हमको कृतबुद्धि होती है कि इनका निर्माण किसी ने किया है । परन्तु क्षित्यादि कार्यों में हम लोगों को कृतबुद्धि कभी होती ही नहीं है । यहाँ यह भी विचारणीय है कि शरीरसहित होने के कारण ही कुंभकार में घटकर्तृत्व देखा जाता है । इसी प्रकार ईश्वर को भी शरीर सहित मानना चाहिए । तभी उसको क्षित्यादि कार्यों का कर्ता मानना संगत होगा । और ईश्वर को सशरीर मानने पर कुंभकारादि की तरह दृश्य भी मानना पड़ेगा ।

नैयायिकों ने जो यह कहा है कि कर्तृत्व का आधार ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न है, सशरीरता या अशरीरता नहीं । उनका उक्त कथन भी ठीक नहीं है । यदि ईश्वर शरीररहित है तो कर्तृत्व का आधार ज्ञानादि भी उसमें नहीं बनेंगे । क्योंकि इनकी उत्पत्ति में आत्मा समवायी कारण है, आत्ममन:संयोग असमवायी कारण है और शरीरादि निमित्त कारण हैं । इन कारणों के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है । यदि निमित्त कारण शरीर के बिना भी ज्ञान आदि की उत्पत्ति मानी जावे तो बुद्धिमान कारण के बिना भी क्षित्यादि की उत्पत्ति मान लीजिए । नैयायिकों का कथन है कि अचेतन कारण चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्य की उत्पत्ति करते हैं । जैसे दण्ड, चक्र आदि कुंभकार से अधिष्ठित होकर ही घट की

उत्पत्ति करते हैं । इसी प्रकार क्षित्यादि की उत्पत्ति में परमाणु आदि अचेतन कारणों का अधिष्ठाता ईश्वर होता है । यहाँ हम नैयायिकों से कहेंगे कि अचेतन की तरह चेतन भी तो चेतनान्तर (दूसरे चेतन) से अधिष्ठित होकर कार्य में प्रवृत्ति करता है । जैसे शिविका (पालकी) को ढोने वाले लोग दूसरे चेतन से अधिष्ठित होकर अपना काम करते हैं । इसी प्रकार ईश्वर का अधिष्ठाता भी कोई चेतनान्तर होना चाहिए ।

नैयायिक मानते हैं कि क्षित्यादि कार्यों में बुद्धिमत्कारण का अनुमान किया जाता है । इस विषय में हमारा कहना है कि कार्यमात्र से तो कारणमात्र का अनुमान होता है, बुद्धिमत्कारण का नहीं । क्योंकि कार्यत्व की व्याप्ति बुद्धिमत्कारण के साथ नहीं है । अतः क्षित्यादि का कर्ता अनीश्वर और असर्वज्ञ भी हो सकता है । ऐसे ही कर्ता की घटादि में व्याप्ति सिद्ध है । अखिल कार्यों को करने के कारण ईश्वर में सर्वज्ञता मानना भी ठीक नहीं है । क्योंकि अखिल कार्यों को करने वाले एक कर्ता की सिद्धि करने वाला कोई प्रमाण नहीं है । तथा 'विश्वतश्चक्षुः' इत्यादि आगम से भी ईश्वर में सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती है । ईश्वर के चारों ओर चक्षु हैं, चारों ओर मुख हैं, इत्यादि मानने में अनेक दोष आते हैं । नैयायिकों का यह कहना भी सर्वथा असंगत है कि ईश्वर करुणा के कारण प्राणियों के शरीर आदि की रचना में प्रवृत्त होता है । यदि ऐसा है तो सुखदायक शरीर आदि की ही रचना होना चाहिए, दुःखदायक शरीरादि की नहीं । जो करुणावान् है वह प्राणियों को दुःख देने वाले साधनों का निर्माण क्यों करेगा । धर्माधर्म (पुण्य-पाप) की सहायता से कार्य करने वाले ईश्वर को दुःखदायक शरीरादि की रचना करने वाला मानना उचित नहीं है । क्योंकि धर्म और अधर्म की उत्पत्ति भी तो ईश्वर के द्वारा ही हुई है । ईश्वर ने धर्म और अधर्म को बनाया ही क्यों ? ऐसा कहना भी उचित नहीं है कि धर्म और अधर्म के फल का उपभोग कर लेने पर उनका क्षय हो जाता है और तदनन्तर प्राणियों को अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है । ईश्वर ने पहले धर्म और अधर्म का उत्पादन किया, फिर उनका क्षय किया, इससे क्या लाभ हुआ । यह तो वैसा ही काम हुआ कि किसी ने पहले गड्ढा खोदा और पुनः उसको भर दिया । यदि ईश्वर की प्रवृत्ति अपवर्ग के विधान के लिए होती है तो वह प्राणियों के अपूर्व कर्मों के संचय में निमित्त क्यों बनता है । यहाँ हम

यह भी कह सकते हैं कि धर्माधर्म के फल को भोगने वाले प्राणी ही अदृष्ट की सहायता से सुख-दुःख दायक शरीरादि के उत्पादक होते हैं । अतः इसके लिए अप्रत्यक्ष ईश्वर की कल्पना करने से कोई लाभ नहीं है ।

नैयायिक कहते हैं कि जिस प्रकार किसी महाप्रासाद के निर्माण करने में किसी एक सूत्रधार से नियंत्रित होकर अनेक कारीगर काम करते हैं, उसी प्रकार एक ईश्वर से नियंत्रित होकर प्राणी सुखादि अनेक कार्यों को करते हैं ।

उनका ऐसा कथन समीचीन नहीं है । ऐसा कोई नियम नहीं है कि सम्पूर्ण कार्यो का कर्ता कोई एक ही व्यक्ति हो । तथा ऐसा भी कोई नियम नहीं हैं कि अनेक व्यक्ति किसी एक सूत्रधार से नियंत्रित होकर ही कार्य करें । वास्तव में कार्यकर्तृत्व अनेक प्रकार से देखा जाता है । कहीं एक व्यक्ति एक कार्य का कर्ता होता है । जैसे जुलाहा पट का कर्ता होता है । कहीं एक ही पुरुष अनेक कार्यों का कर्ता होता है । जैसे कुंभकार घट, सुराही, सकोरा आदि अनेक कार्यों का कर्ता है । कहीं अनेक पुरुष मिलकर एक कार्य को करते हैं । जैसे अनेक पुरुष मिलकर शिविका को ढोते हैं । यह भी आवश्यक नहीं है किसी महाप्रासाद के निर्माण में अनेक कारीगर एक अधिष्ठाता से नियंत्रित होकर ही कार्य करें । वे स्वतंत्ररूप से भी अपने अपने विभाग का काम कर सकते हैं ।

यहाँ एक प्रश्न यह है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर एक ही समय में सब कार्यों को क्यों नहीं कर देता है ? इसका उत्तर नैयायिकों द्वारा यह दिया जाता है कि जब उसे सहकारी कारण मिलते हैं तब वह कार्य करता है और सहकारी कारणों के अभाव में कार्य नहीं करता है । इस पर हमारा कहना यह है कि सहकारी कारणों की उत्पत्ति भी तो ईश्वर के अधीन है । तब वह सब सहकारी कारणों की उत्पत्ति एक साथ क्यों नहीं कर लेता । नैयायिकों के द्वारा जो यह कहा गया है कि पृथिवी आदि महाभूतरूप कार्य चेतना-धिष्ठित होकर ही प्राणियों के सुख-दुःखादि में निमित्त होते हैं, वह भी असंगत है । क्योंकि जिस प्रकार का चेतनाधिष्ठित रूपादिमत्त्व तथा अनित्यत्व तुरी, वास्य आदि में देखा जाता है वैसा क्षित्यादि में दृष्टिगोचर नहीं होता है । इत्यादि प्रकार से विचार करने पर ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है ।

उपरिलिखित सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि ईश्वर में अशेष जगत् के कर्तृत्व का साधक कोई निर्दोष प्रमाण नहीं होने के कारण न तो वह सृष्टिकर्ता है, न सर्वज्ञ है और न अनादिमुक्त है ।

प्रकृतिकर्तृत्वविचार

पूर्वपक्ष—

सांख्यदर्शन के अनुसार मूल तत्त्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष । प्रकृति को प्रधान भी कहते हैं । प्रकृति एक अचेतन तथा त्रिगुणात्मक है । सत्त्व, रज और तम ये तीन प्रकृति के गुण हैं । सांख्यों की मान्यता है कि प्रकृति से ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है । प्रकृति के द्वारा जगत् की सृष्टि का जो क्रम है वह इस प्रकार है—

प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

अर्थात् सबसे पहले प्रकृति से महत् (बुद्धि) तत्त्व की उत्पत्ति होती है । महत् से अहंकार की उत्पत्ति होती है । मैं सुभग हूँ, दर्शनीय हूँ इत्यादि प्रकार से अहंकर अभिमान रूप होता है । अहंकार से सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जो इस प्रकार हैं—स्पर्शनादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्रायें । और अन्त में पाँच तन्मात्राओं द्वारा पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है जो इस प्रकार है—शब्द से आकाश की, स्पर्श से वायु की, रूप से अग्नि की, रस से जल की तथा गन्ध से पृथिवी की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार सांख्यदर्शन में प्रकृति से २३ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है । इनमें प्रकृति और पुरुष को मिलाकर सांख्यदर्शन में कुल २५ तत्त्व माने गये हैं ।

प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं और महत् आदि २३ तत्त्वों को व्यक्त कहते हैं । मूल प्रकृति को विकार रहित माना गया है । अर्थात् प्रकृति अन्य तत्त्वों को तो उत्पन्न करती है, किन्तु वह अन्य किसी तत्त्व से उत्पन्न नहीं होती है । महत्, अहंकार और पाँच मन्त्रायें ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों कहलाते हैं । ये तत्त्व दूसरे तत्त्वों को उत्पन्न करने के कारण प्रकृति कहलाते हैं और ये तत्त्व स्वयं दूसरे तत्त्वों से उत्पन्न होने के कारण

विकृति माने गये हैं । किन्तु ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच भूत ये १६ तत्त्व केवल विकृति (विकार) हैं । ये दूसरे तत्त्वों से उत्पन्न तो होते हैं किन्तु किसी अन्य तत्त्व को उत्पन्न नहीं करते हैं ।

पुरुष तत्त्व—

इन सबसे विलक्षण एक पुरुष तत्त्व है जो न प्रकृति है और न विकृति है । वह न तो किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है । वह चेतन है किन्तु ज्ञान गुण से रहित है । पुरुष अनेक, व्यापक, अपरिणामी, निष्क्रिय, अकर्ता, भोक्ता और दृष्टामात्र है । सांख्यदर्शन में एक विशेष बात यह है कि ज्ञान प्रकृति का धर्म है, पुरुष का नहीं । प्रकृति कर्त्री है और पुरुष भोक्ता है । शुक्ल (पुण्य) कर्म और कृष्ण (पाप) कर्म प्रकृति के ही परिणाम हैं । बन्ध और मोक्ष प्रकृति के ही होते हैं, पुरुष के नहीं । सर्वज्ञत्व प्रकृति का ही धर्म है, पुरुष का नहीं ।

प्रकृति की सिद्धि निम्नलिखित पाँच हेतुओं से की गई है—

भेदानां परिणामात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ॥

(१) संसार के समस्त पदार्थों में परिमाण पाया जाता है । (२) उनमें सत्त्व आदि गुणों का समन्वय पाया जाता है । (३) कारण की शक्ति से ही कार्य में प्रवृत्ति होती है । (४) कारण और कार्य का विभाग देखा जाता है । (५) तथा प्रलय काल में कार्य का उसी कारण में विलय देखा जाता है । अतः अपरिमित, व्यापक और स्वतंत्र मूल कारण प्रकृति को मानना आवश्यक है ।

सत्कार्यवाद—

सांख्यदर्शन का एक विशेष सिद्धान्त यह है कि यहाँ घटादि कार्य को सत् माना गया है, असत् नहीं । सांख्य उत्पत्ति को आविर्भाव (प्रकट होना) और विनाश को तिरोभाव (छिप जाना) कहते हैं । मृत्पिण्ड में घट पहले से विद्यमान रहता है और कुंभकार के द्वारा घट का केवल आविर्भाव किया जाता है, उत्पत्ति नहीं । इसीप्रकार दण्ड के प्रहार द्वारा घट का केवल तिरोभाव किया जाता है, विनाश नहीं । सांख्य ने निम्नलिखित पाँच युक्तियों से सत्कार्यवाद की सिद्धि की है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

(१) जो असत् है उसको कोई उत्पन्न नहीं करता है । (२) घट, पट आदि प्रत्येक कार्य के लिए प्रतिनियत उपादान का ग्रहण किया जाता है । जैसे तेल की उत्पत्ति के लिए तिलों का ही ग्रहण किया जाता है, बालुका का नहीं । (३) सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति संभव नहीं है । जैसे तृण, बालुका, लोष्ठ आदि से रजत, सुवर्ण आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । (४) समर्थ कारण से ही समर्थ कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है, असमर्थ से नहीं । जैसे तन्तुओं से ही पट की उत्पत्ति होती है, तृण से नही । (५) यह भी देखा जाता है कि कारण जैसा होता है कार्य भी वैसा ही होता है । गेंहूँ के बीज से गेहूँ की ही उत्पत्ति होती है, धान की नहीं । अतः उपर्युक्त हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि वस्त्र उत्पन्न होने से पहले तन्तुओं में विद्यमान रहता है और घट उत्पन्न होने से पहले मिट्टी में विद्यमान रहता है । यही सत्कार्यवाद है ।

सेश्वरसांख्य—

सांख्यदर्शन के अन्तर्गत एक और विशेष मत है जिसे सेश्वरसांख्य कहते हैं । इसे योगदर्शन भी कहते हैं । इसकी विशेषता यह है कि उक्त २५ तत्त्वों के अतिरिक्त इसमें एक ईश्वर भी माना गया है । इस कारण इसको सेश्वरसांख्य कहते हैं । इसकी मान्यता है कि अचेतन होने के कारण प्रधान चेतन अधिष्ठाता के बिना महत् आदि कार्यों की उत्पत्ति नहीं कर सकता है । इसलिए ईश्वर ही प्रधान की सहायता से सृष्टि के कार्यों को करता है । यह ईश्वर अनादिमुक्त है ।

उत्तरपक्ष—

सांख्य ने प्रकृति के द्वारा जो सृष्टिक्रम बतलाया है वह युक्तिसंगत नहीं है । प्रकृति से महत् आदि २३ तत्त्वों की उत्पत्ति बतलाई गई है । किन्तु महत् आदि प्रकृति रूप ही हैं, प्रकृति से भिन्न नहीं । दूसरे शब्दों में महत् आदि प्रकृति से अव्यतिरिक्त हैं । तब उनमें कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है । क्योंकि जो जिससे सर्वथा अव्यतिरिक्त होता है वह उसका कार्य अथवा कारण नहीं हो सकता है । हम कह सकते हैं कि प्रधान से

सर्वथा अभिन्न होने के कारण महत् आदि प्रधान के कार्य नहीं हैं । इसी प्रकार महत् आदि से अभिन्न होने के कारण ही प्रधान महत् आदि कार्यों का कारण नहीं हो सकता है । इसलिए मूल प्रकृति को कारण मानना, पाँच भूतों और ग्यारह इन्द्रियों को कार्य ही मानना तथा बुद्धि, अहंकार और पाँच तन्मात्राओं को कारण और कार्य दोनों मानना, यह सब सिद्ध नहीं हो सकता है । एक बात यह भी है कि दो पदार्थों में कार्यकारणभाव का ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही होता है । किन्तु प्रधान से महत् आदि की उत्पत्ति का निश्चायक अन्वय-व्यतिरेक किसी प्रमाण से ज्ञात न होने के कारण प्रधान और महदादि में कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है । जो पदार्थ सर्वथा नित्य है उसमें किसी के प्रति कारणभाव हो भी नहीं सकता है । क्योंकि सर्वथा नित्य प्रधान न तो क्रम से कार्य कर सकता है और न अक्रम से । दोनों ही पक्षों में अनेक दोष आने के कारण सर्वथा नित्य वस्तु क्रम से या अक्रम से कार्य नहीं कर सकती है । इस दोष को दूर करने के लिए यदि सांख्य प्रकृति में परिणमन स्वीकार करते हैं तो प्रकृति में सर्वथा नित्यत्व के व्याघात का प्रसंग आता है, जो सांख्यों को अनिष्ट है ।

सांख्य ने सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए जो पाँच हेतु दिये हैं वे असत्कार्यवाद में भी दिये जा सकते हैं । हम कह सकते हैं—

न सदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

यहाँ 'न' शब्द का अन्वय 'सत्कार्यम्' के साथ है । अर्थात् कार्य सत् नहीं है किन्तु असत् है । क्योंकि जो सत् है उसको करना तो व्यर्थ ही है, वह तो पहले से ही विद्यमान है । इत्यादि प्रकार से सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए उक्त पाँचों हेतुओं के द्वारा हम असत्कार्यवाद को भी सिद्ध कर सकते हैं । सत्कार्यवाद के सिद्धान्त में प्रश्न किया जा सकता है कि कार्य सर्वथा सत् है या कथंचित् । प्रथम विकल्प ठीक नहीं है । यदि क्षीर में दधि सर्वथा सत् है तो फिर दधि के उत्पादक कारणों द्वारा क्षीर से किस वस्तु की उत्पत्ति की जाती है । उसमें दधि तो पहले से ही विद्यमान है । अतः जो सब प्रकार से सत् होता है वह किसी से जन्य नहीं होता है, जैसे प्रधान । अब यदि कार्य को कथंचित् सत् माना जावे तो जैनमत का प्रसंग

प्राप्त होता है । कार्य द्रव्यरूप से सत् है और पर्यायरूप से असत् है । इसलिए सत् मिट्टी से असत् घटादि पर्यायों की उत्पत्ति होती है, ऐसा जैनमत है ।

सांख्यों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि कारण कार्य की उत्पत्ति न करके उसकी अभिव्यक्ति करते हैं । क्योंकि यहाँ भी प्रश्न उपस्थित होता है कि अभिव्यक्ति सत् है या असत् । यदि अभिव्यक्ति सत् है तो वह कैसे की जा सकती है, वह तो पहले से ही है । अभिव्यक्ति को असत् मानने पर भी वही दोष आता है कि आकाशकुसुम की तरह अभिव्यक्ति को किया ही नहीं जा सकता है । इस प्रकार अभिव्यक्तिपक्ष दूषित हो जाता है । सत्कार्यवाद को मानने के कारण सांख्य उत्पत्ति को आविर्भाव और विनाश को तिरोभाव कहते हैं । किन्तु ये दोनों बातें भी असंगत हैं । जब तक वस्तु में पूर्वपर्याय का त्याग और उत्तरपर्याय की उत्पत्ति नहीं होगी तब तक आविर्भाव और तिरोभाव भी नहीं बन सकता है । पूर्व पर्याय का त्याग और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति मानने पर सांख्यों को जैनमत का प्रसंग अनिवार्य है । साख्यों ने 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादि हेतुओं से सब पदार्थों का एकमात्र कारण प्रधान की जो सिद्धि की है वह भी तर्कसंगत नहीं है । क्योंकि उक्त हेतुओं का अविनाभाव एक कारण के साथ सिद्ध नहीं होता है । घट-पटादि कार्यो को अनेक कारणपूर्वक होने में कोई विरोध भी नहीं है । इस प्रकार प्रकृति में सकल जगत् का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है ।

सांख्यदर्शन में अचेतन प्रकृति में ज्ञान, बन्ध, मोक्ष आदि मानना तथा चेतन पुरुष में ज्ञान, बन्ध, मोक्ष आदि नहीं मानना कितना हास्यास्पद है । प्रकृति को कर्त्री और पुरुष को केवल भोक्ता मानना, पुरुष को चेतन मानकर भी ज्ञान गुण से रहित मानना सर्वथा गलत है । यथार्थ में पुरुष कर्ता और भोक्ता दोनों है । पुरुष ही कर्मबन्ध का कर्ता है और पुरुष ही कर्मबन्ध काटकर मोक्ष प्राप्त करता है । ऐसा जैनदर्शन का अकाट्य सिद्धान्त है ।

सेश्वरसांख्यमत में ईश्वर प्रधान की अपेक्षा से सृष्टि के समस्त कार्यों का कर्ता माना गया है । अकेला प्रधान और अकेला ईश्वर कार्य करने में समर्थ नहीं है । परन्तु दोनों परस्पर सापेक्ष होकर कार्य करते हैं । सेश्वरसांख्य का उक्त कथन तर्कसंगत नहीं है । जब प्रधान और ईश्वर में पृथक् पृथक् कर्तृत्व नहीं बनता है तब दोनों मिलकर भी कर्ता नहीं हो सकते हैं । दोनों

एक साथ मिलकर तभी कार्य कर सकते हैं जब वे एक दूसरे में कोई अतिशय उत्पन्न करें । किन्तु दोनों के नित्य होने से उनमें अतिशय उत्पन्न नहीं हो सकता है । एक प्रश्न यह भी है कि यदि वे दोनों एक साथ मिलकर कार्य करते हैं तो सब कार्यों को एक ही समय में क्यों नहीं उत्पन्न कर देते हैं ?

इस दोष को दूर करने के लिए सेश्वरसांख्य का कहना है कि प्रधान में पाये जाने वाले सत्त्व आदि तीन गुण कार्य की उत्पत्ति में सहकारी कारण होते हैं और ये गुण क्रमवर्ती हैं । अतः कार्य भी क्रम से ही होते हैं । जब ईश्वर को रजोगुण की सहायता मिलती है तब वह सृष्टि करता है, जब उसको सत्त्वगुण की सहायता मिलती है तब उसकी स्थिति करता है और जब ईश्वर को तमोगुण की सहायता मिलती है तब वह सर्व जगत् का प्रलय करता है ।

इस कथन में भी अनेक दोष पाये जाते हैं । यहाँ हम पूछेंगे कि जब प्रधान और ईश्वर सर्ग, स्थिति और प्रलय इनमें से किसी एक कार्य को करते हैं तब उनमें शेष दो कार्यों के करने की शक्ति रहती है या नहीं । यदि शक्ति रहती है तो सृष्टिकाल में भी स्थिति और प्रलय का प्रसंग प्राप्त होता है । इसीप्रकार स्थितिकाल में उत्पाद और विनाश का तथा विनाशकाल में स्थिति और उत्पाद का प्रसंग बना ही रहता है । यदि एक कार्य करने के समय उनमें शेष दो कार्यों के करने की शक्ति नहीं है तो हम यह भी कहेंगे कि उसी एक कार्य को ही सदा होना चाहिए और शेष दो कार्यों की उत्पत्ति कभी नहीं होना चाहिए । क्योंकि उनके उत्पादन में उनकी शक्ति ही नहीं है । इस प्रकार सेश्वरसांख्य मत निरस्त हो जाता है ।

मोक्षस्वरूपविचार

प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने मोक्ष को माना है, किन्तु मोक्ष के स्वरूप और कारणों के विषय में प्रत्येक दर्शन का मत भिन्न-भिन्न है । अब यहाँ इसी बात पर विचार किया जा रहा है ।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में मोक्ष

पूर्वपक्ष—

न्यायदर्शन में दुःख के अत्यन्त विमोक्ष को मोक्ष कहा गया है और

मोक्ष का कारण तत्त्वज्ञान को माना गया है । प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है और मिथ्याज्ञान के अभाव में क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का नाश हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । मिथ्याज्ञान के निवृत्त हो जाने पर मिथ्याज्ञानमूलक रागादि नहीं होते हैं । रागादि के अभाव में रागादि से होने वाली मन, वचन और काय की प्रवृत्ति नहीं होती है और प्रवृत्ति के अभाव में धर्म और अधर्म की उत्पत्ति नहीं होती है । धर्माधर्म के अभाव में पुनर्जन्म नहीं होता है और पुनर्जन्म के अभाव में दुःख का क्षय हो जाता है । यही मोक्ष है । मोक्ष को अपवर्ग भी कहते हैं । पूर्व कर्मों का तथा आरब्ध कर्मों का सुख-दुःखरूप फल का क्षय उपभोग से ही होता है । कहा भी है—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि

अर्थात् सैकड़ों करोड़ कल्पकाल में भी कर्मफल के उपभोग के बिना कर्मों का क्षय नहीं होता है । कर्मक्षय के विषय में भगवद्गीता में एक दूसरा ही मत बतलाया गया है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुते क्षणात् ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईन्धन को क्षणमात्र में नष्ट में कर देती है उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को क्षणमात्र में भस्म कर देती है । इसका तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञानियों के संचित कर्मों का क्षय तत्त्वज्ञान से ही हो जाता है । न्याय-वैशेषिक दर्शन की एक विशेषता यह है कि इस दर्शन के अनुयायी मोक्ष में आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ विशेष गुणों का अभाव मानते हैं । वे कहते हैं कि आत्मा के इन नौ विशेष गुणों की सन्तान का मोक्ष में अत्यन्त उच्छेद हो जाता है । न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन में मोक्ष की मान्यता प्रायः एक जैसी है ।

उत्तरपक्ष—

नैयायिक-वैशेषिकों का उक्त कथन समीचीन नहीं है । उक्त मत के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का अर्थ है स्वरूप की हानि । बुद्धि, सुख आदि को आत्मा के विशेष गुण मानना और मोक्ष में इनका अभाव मानना यह कहाँ

तक उचित है ? मोक्ष में दु:ख, इच्छा, द्वेष आदि का अभाव मानना तो उचित है, किन्तु यदि मोक्ष में ज्ञान और सुख का भी अभाव हो जाता है तो वहाँ आत्मा का कौनसा स्वरूप शेष रह जाता है ? तत्त्वज्ञान के द्वारा क्रमश: मिथ्याज्ञानादि की निवृत्ति हो जाने पर धर्माधर्म और उसके कार्य शरीरादि के नहीं होने पर भी मोक्ष में अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखादि का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है । यह कथन भी ठीक नहीं है कि प्रारब्ध कर्मों का क्षय उपभोग से होता है । क्योंकि कर्मफल के उपभोग के समय नवीन कर्म के आगमन के निमित्तभूत मन, वचन और काय का व्यापार होने के कारण नवीन कर्मों का आस्रव कैसे रुकेगा और संचित कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कैसे होगा ? 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निः' इत्यादि जो कहा है वह भी तभी ठीक है जब संवररूप चारित्र से वृद्धिंगत सम्यग्ज्ञानरूप अग्नि का सकलकर्मक्षय में सामर्थ्य माना जावे । संसार के कारण मिथ्यादर्शनादि तीन हैं, केवल मिथ्याज्ञान नहीं । केवल सम्यग्ज्ञान से मिथ्यादर्शनादि तीन की निवृत्ति नहीं हो सकती है । अत: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र की पूर्णता ही मोक्ष का मार्ग है और अनन्तज्ञान, सुखादि की उपलब्धि ही मोक्ष है ।

नैयायिक-वैशेषिक ने जैसा मोक्ष माना है वैसा मोक्ष तो कोई स्वप्न में भी प्राप्त करना नहीं चाहेगा । किसी वैष्णव दार्शनिक ने नैयायिक-वैशेषिकों द्वारा अभिमत मोक्ष के विषय में उपहास करते हुए कहा है—

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
वैशेषिकोक्तमोक्षात् सुखलेशविवर्जितात् ॥

अर्थात् मुझे शृगाल बनकर वृन्दावन के सरस निकुंजों में जीवन बिताना स्वीकार है, परन्तु में वैशेषिक दर्शन की सुखरहित मुक्ति को नहीं चाहता हूँ ।

सांख्यदर्शन में मोक्ष

पूर्वपक्ष—

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान हो जाने पर पुरुष का अपने चैतन्यमात्र स्वरूप में अवस्थान हो जाने का नाम मोक्ष है । इस दर्शन में प्रकृति और पुरुष के संसर्ग का नाम ही संसार है । जब तक

प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान नहीं होता तभी तक संसार की स्थिति है । प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान के होते ही पुरुष प्रकृति के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले सांसारिक दुःखों से छूट जाता है । वास्तव में बन्ध और मोक्ष प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं । पुरुष तो स्वभाव से बन्धरहित और मुक्त है । प्रकृति उस नर्तकी के समान है जो रंगस्थल में उपस्थित दर्शकों के सामने अपनी कला को दिखलाकर रंगस्थल से दूर हट जाती है । इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को अपना व्यापार दिखलाकर पुरुष के सामने से हट जाती है । यथार्थ में प्रकृति से सुकुमार अन्य कोई दूसरा नहीं है । प्रकृति इतनी लज्जाशील है कि एक बार पुरुष के द्वारा 'यह प्रकृति दुष्ट है' इस रूप में देखे जाने पर वह पुनः पुरुष के सामने नहीं आती है । अर्थात् वह पुरुष से फिर संसर्ग नहीं करती है तथा पुरुष के प्रति व्यापार करने से विरत हो जाती है । प्रकृति को दुष्टरूप से देख लेने पर पुरुष भी उसकी उपेक्षा करने लगता है । अतः प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान हो जाने पर पुरुष अपने चैतन्यमात्र स्वरूप में स्थित हो जाता है, यही मोक्ष है । इस दर्शन में अज्ञान से बन्ध तथा ज्ञान से मोक्ष माना गया है । सांख्यकारिका में कहा गया है—

ज्ञानेन चापवर्गः विपर्ययादिष्यते बन्धः ।

उत्तरपक्ष—

उक्त मत सर्वथा समीचीन नहीं है । इस मत में सबसे बड़ा दोष यह है कि पुरुष को चेतन मान कर भी ज्ञानरहित माना है और ज्ञान को अचेतन प्रकृति का धर्म माना गया है । अचेतन प्रकृति पुरुष के प्रति व्यापार कैसे करेगी ? अचेतन प्रकृति को यह ज्ञान कैसे होगा कि मैं पुरुष के द्वारा दुष्टरूप से जानी गई हूँ । अचेतन प्रकृति पुरुष के प्रति व्यापार करने से कैसे विरत होगी ? ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानना भी सर्वथा गलत है । वास्तव में ज्ञान तो चेतन का धर्म है, अचेतन का नहीं । चेतन पुरुष को ज्ञान का स्वसंवेदन होता है किन्तु अचेतन घटादि को ज्ञान का कभी भी स्वसंवदेन नहीं होता है । इससे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान चेतन पुरुष का ही धर्म है । पुरुष का स्वरूप चैतन्यमात्र नहीं है, किन्तु अनन्तज्ञानादिसम्पन्न चैतन्य-विशेष पुरुष का वास्तविक स्वरूप है । और इस अनन्तज्ञानदर्शनादिसम्पन्न चैतन्यविशेष में पुरुष के स्थित हो जाने का नाम मोक्ष है ।

मीमांसादर्शन में मोक्ष

पूर्वपक्ष—

मीमांसादर्शन में दो प्रकार के कर्म बतलाये गये हैं—काम्य (करणीय) कर्म और निषिद्ध (अकरणीय) कर्म । जिसको स्वर्ग की इच्छा हो वह अग्निष्टोम यज्ञ करे । 'अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' । यह काम्य कर्म है । सुरा को न पियो, ब्राह्मण वध मत करो' इत्यादि निषिद्ध कर्म हैं । जिन कर्मों के करने का विधान है उनके न करने से प्रत्यवाय (दोष) होता है और जिन कर्मों के करने का निषेध है उनके करने से भी प्रत्यवाय होता है । इस प्रत्यवाय को दूर करने के लिए नित्य कर्म होमादि और नैमित्तिक कर्म (विशेष अवसर पर किया जाने वाला अग्निष्टोमादि) का विधान किया गया है । यह भी बतलाया गया है कि मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए ।

यहाँ मोक्ष को कैवल्य कहा गया है और कैवल्य की प्राप्ति का उपाय यह बतलाया है कि नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठानों के द्वारा पाप का क्षय करता हुआ और अभ्यास से ज्ञान को विमल करता हुआ नर ज्ञान का परम प्रकर्ष हो जाने पर कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त करता है । इसी विषय में कहा गया है—

नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।
मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ॥
नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥
अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः ।
काम्ये निषिद्धे च परं प्रवृत्तिप्रतिषेधतः ॥

उत्तरपक्ष—

मीमांसकों का मोक्षविषयक उक्त मत सर्वथा गलत नहीं है । इसमें कुछ सार तत्त्व अवश्य है । उन्होंने जो यह माना है कि केवलज्ञान की उत्पत्ति के पहले काम्य और निषिद्ध कर्मों (क्रियाओं) का परिहार करके नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं का आचरण ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय में निमित्त होने से केवलज्ञान की प्राप्ति का हेतु होता है, वह हमारे अनुकूल है । परन्तु केवल कैवल्य का लाभ ही मोक्ष नहीं है । चार घातिया कर्मों के

नष्ट हो जाने पर केवलज्ञान प्राप्त करने वाला नर जीवनमुक्त कहलाता है। इसे अर्हन्त अवस्था कहते हैं। इसके कुछ समय बाद बचे हुए चार अघातिया कर्मों का भी नाश हो जाता है। तब जीवनमुक्त जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इसी सर्वथा कर्ममुक्त अवस्था का नाम पूर्ण मोक्ष है।

वेदान्तदर्शन में मोक्ष

पूर्वपक्ष—

वेदान्तदर्शन में मोक्ष को आनन्दरूप माना गया है। अत्यन्त प्रियबुद्धि का विषय होने से आत्मा का स्वभाव आनन्दरूप है। और अनादिकालीन अविद्या के नाश से मोक्ष में आनन्दरूपता की अभिव्यक्ति होती है। कहा भी है—

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते।

अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है और मोक्ष में उसकी अभिव्यक्ति होती है। वेदान्तदर्शन में केवल ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता है और संसार के सब पदार्थ मायिक हैं। अर्थात् माया के कारण ही उनकी सत्ता प्रतीत होती है। नाना जीवों तथा ईश्वर की सत्ता भी माया (अविद्या) के कारण ही है। यथार्थ में एक ब्रह्म ही सत्य है। जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता है तभी तक नाना जीवों की पृथक् सत्ता है और ब्रह्मज्ञान होते ही यह जीव अपनी पृथक् सत्ता को खोकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। यही जीव का मोक्ष है।

उत्तरपक्ष—

वेदान्तदर्शन के अनुयायी वेदान्तियों का उक्त कथन कथंचित् सत्य है, सर्वथा नहीं। मोक्ष में आनन्द की अभिव्यक्ति मानना तो ठीक है किन्तु आत्मा का स्वभाव केवल आनन्द है और उसको प्राप्त करना ही मोक्ष है, ऐसा मानना ठीक नहीं है। आत्मा का स्वरूप केवल आनन्द ही नहीं है, आनन्द (सुख) के साथ ज्ञान-दर्शन भी आत्मा का स्वरूप है। मोक्ष में केवल आनन्द की ही प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु अनन्त सुख की प्राप्ति के साथ ही अनन्त ज्ञानादि की भी प्राप्ति होती है। मोक्ष में आनन्दरूपता की प्राप्ति अनादिकालीन अविद्या के नाश से होती है, यह कथन भी हमें अभीष्ट है। क्योंकि अष्ट प्रकार के कर्मरूप अनादिकालीन अविद्या का नाश हो

जाने पर अनन्तसुखज्ञानादिस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है कि यह जीव मोक्ष में अपनी पृथक् सत्ता को खोकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। सब जीवों की सत्ता स्वतन्त्र है और मोक्ष में भी इस जीव की स्वतन्त्र सत्ता पूर्ववत् बनी रहती है।

बौद्धदर्शन में मोक्ष

पूर्वपक्ष—

बौद्धदर्शन में आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है। यहाँ आत्मा के स्थान में विज्ञान की सत्ता स्वीकार की गई है। विज्ञान को चित्त भी कहते हैं। संसार अवस्था में इस विज्ञान की सन्तति चालू रहती है और जब नैरात्म्य के अभ्यास द्वारा इस चित्तसन्तति का निरोध हो जाता है तब चित्तसन्तति के उच्छेद को निर्वाण कहा गया है। इस मत के अनुसार निर्वाण निरोध रूप है। निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक तभी तक जलता रहता है जब तक उसमें तेल और बत्ती का अस्तित्व है। तथा तेल और बत्ती के समाप्त हो जाने पर दीपक स्वतः शान्त हो जाता है। उसी प्रकार नैरात्म्य के अभ्यास द्वारा तृष्णा आदि क्लेशों के समाप्त हो जाने पर चित्तसन्तति भी समाप्त हो जाती है, यही निर्वाण है। इस मत के अनुसार निर्वाण या मोक्ष दुःखाभावरूप है। यह मत बौद्धों के हीनयान सम्प्रदाय का है।

बौद्धों का एक दूसरा भी मत है जो मानता है कि विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति का नाम मोक्ष है। अर्थात् मोक्ष में ज्ञान की सन्तति का सर्वथा अभाव नहीं होता है, किन्तु वहाँ विशुद्ध ज्ञान का अस्तित्व पाया जाता है। संसार अवस्था में ज्ञान रागादि दोषों से दूषित रहता है और नैरात्म्य आदि विशिष्ट भावना के अभ्यास से रागादि दोषों का विनाश हो जाने पर मोक्ष में विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। अतः मोक्ष अवस्था में विशुद्ध ज्ञान का सद्भाव बना रहता है। यह मत बौद्धों के महायान सम्प्रदाय का है।

उत्तरपक्ष—

मोक्ष के विषय में बौद्धों की कल्पना दो प्रकार की है—एक हीनयानी कल्पना और दूसरी महायानी कल्पना। मोक्षविषयक हीनयानी कल्पना तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती है। चित्तसन्तति के सर्वथा निरोध को निर्वाण कहना तर्कसंगत नहीं है। जब निर्वाण में कुछ भी शेष नहीं

रहता है तब ऐसे निर्वाण को मानने से लाभ ही क्या है । वास्तविक निर्वाण तो वह है जिसमें आत्मा अपने अनन्तज्ञानादि गुणों की अनुभूति में सदा लीन रहता है । महायानी बौद्धों की यह मान्यता तो ठीक है कि मोक्ष अवस्था में विशुद्ध ज्ञान बना रहता है, किन्तु यह तभी संभव है जब चित्त सन्तति सान्वय हो । क्योंकि जो बद्ध है वही मुक्त होता है और ऐसा तभी संभव है जब चित्तसन्तति सान्वय हो । चित्तसन्तति को निरन्वय मानने पर तो बद्ध कोई होता है और मुक्त कोई दूसरा होता है । जिसने कर्मबन्ध किया था वह अन्य था और जो कर्ममुक्त हुआ है वह बद्ध से अन्य कोई दूसरा ही है । अत: चित्तसन्तति मानना आवश्यक है । ऐसा मानने पर ही मोक्ष में विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति संभव है । यदि चित्तसन्तति शब्द में सन्तान शब्द का अर्थ वास्तविक है तो आत्मा ही सन्तान शब्द का वाच्य होगा । तब चित्तसन्तति और आत्मा दोनों पर्यायवाची ही सिद्ध होते हैं । यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मोक्ष में केवल विशुद्ध ज्ञान की ही सत्ता नहीं रहती है किन्तु इसके साथ अनन्त सुखादि की भी सत्ता रहती है ।

जैनदर्शन में मोक्ष

जैनदर्शन में ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों के आत्यन्तिक क्षय का नाम मोक्ष है । कर्मों का क्षय कर्मबन्ध के हेतुओं का अभाव हो जाने से तथा निर्जरा से होता है । इसी विषय में तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ।

अर्थात् मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के पाँच हेतु हैं । जब सम्यग्दर्शनादि के द्वारा मिथ्यादर्शनादि का अभाव कर दिया जाता है तब मिथ्यादर्शनादि के द्वारा आने वाले कर्मों का आस्रव (आगमन) रुक जाता है । इसी का नाम संवर है । संवर के द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है । तदनन्तर निर्जरा द्वारा पूर्व में संचित कर्मों का क्षय किया जाता है । यहाँ स्मरणीय है कि इसकी प्रक्रिया चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होती है और इसकी समाप्ति चौदहवें गुणस्थान में होती है । यही कारण है कि चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में यह जीव अष्ट कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर लोक के अग्रभाग में पहुँच कर वहाँ सिद्धशिला में स्थित हो जाता है । जीव का स्वभाव अनन्तज्ञानादिरूप है और यह स्वभाव

संसार अवस्था में कर्मों से आच्छादित रहता है । किन्तु कर्ममुक्त जीव अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न होता है और वह अनन्तकाल तक सिद्धशिला में विराजमान रहता है । तथा वह कभी भी वहाँ से पुनः लौटकर संसार में नहीं आता है । जैनदर्शन की यह विशेषता है कि उसने मुक्त जीव का निवास लोक के अग्रभाग में माना है, किन्तु अन्य किसी दर्शन ने ऐसा नहीं माना है ।

मोक्ष के साधन

प्रायः समस्त दर्शनों ने ज्ञान को मोक्ष का और अज्ञान को बन्ध का अथवा संसार का साधन माना है । किन्तु जैनदर्शन ने सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता को मोक्ष का साधन या मार्ग माना है । सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग होते हैं, पृथक् पृथक् नहीं । सम्यग्दर्शनादि का प्रारंभ चतुर्थ गुणस्थान से होता है और इनकी पूर्णता चौदहवें गुण स्थान में होती है । तथा उस समय यह जीव कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाता है ।

मोक्षमार्ग के विषय में तत्त्वार्थसूत्र में बतलाया गया है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

केवलिभुक्ति विचार

ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है । और जो पुरुष केवलज्ञान से सम्पन्न होता है उसे केवली, अर्हन्त तथा जीवनमुक्त कहते हैं । यहाँ विचारणीय विषय यह है कि अर्हन्त अवस्था में केवली भगवान् कवलाहार (ग्रासरूप आहार) करते हैं या नहीं । श्वेताम्बर मतानुयायियों की मान्यता है कि केवली हम लोगों की तरह कवलाहार करते हैं । यदि ऐसा है तो बुभुक्षाजन्य पीड़ा से आक्रान्त होने के कारण केवली में अनन्तसुख का विरह मानना पड़ेगा । तथा अनन्तसुख का विरह होने से केवली में अनन्तचतुष्टय का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा ? यह तो श्वेताम्बर भी मानते हैं कि केवली अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न होता है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि भोजन को सुख के अनुकूल होने के कारण केवली में अनन्तसुख का अभाव नहीं होगा । क्योंकि हम लोगों

के सुख को कादाचित्क होने से उसकी उत्पत्ति पञ्चेन्द्रियों के विषयों द्वारा होती है । परन्तु यदि केवली के सुख को भी ऐसा ही माना जाय तो उसमें अनन्तता का व्याघात होगा ही । रागद्वेषरहित होने के कारण भी कवलाहार ग्रहण करने के लिए केवली का प्रयास नहीं हो सकता है । यदि केवली कवलाहार करते हैं तो रथ्यापुरुष की तरह उनमें सरागता का प्रसंग प्राप्त होता है । अभिलाषा से आहार में प्रवृत्ति होने के कारण और अरुचि से निवृत्ति होने के कारण केवली में वीतरागता कैसे बनेगी ? यहाँ यह बात जानने योग्य है कि मोहनीय कर्म के सद्भाव में भोजनादि को करने वाले प्रमत्तगुणस्थानवर्ती साधु परमार्थ से वीतराग नहीं होते हैं । इसीलिए वे कवलाहार करते हैं ।

अब यदि ऐसा माना जाय कि अतिशय विशेष के कारण अभिलाषा के अभाव में भी केवली कवलाहार करते हैं तो फिर उनमें कवलाहार के अभावरूप अतिशय को मान लेने में क्या आपत्ति है । जब अतिशय मानना ही है तो कवलाहार के अभाव का अतिशय मान लीजिए । यह कहना भी ठीक नहीं है कि आहार के अभाव में केवली की देहस्थिति नहीं बन सकेगी । यदि ऐसी बात है तो हम यहाँ पूछेंगे कि ऐसा कहकर आप (श्वेताम्बर) केवली में सामान्य आहार को सिद्ध करना चाहते हैं या कवलाहार को । इनमें से प्रथम विकल्प तो हम लोगों (दिगम्बरों) के अनुकूल है । क्योंकि हमने माना है कि सयोगकेवली पर्यन्त सब जीव आहारक होते हैं । अत: केवली में कवलाहार के अभाव में भी कर्म— नोकर्म के आदानरूप आहार पाया ही जाता है । आगम में आहार छह प्रकार का बतलाया गया है—

णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥

—भावसंग्रह गाथा ११० (देवसेन)

अर्थात् नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार (उष्माहार) और मानसिक आहार ये आहार के छह भेद हैं । ऐसा नहीं है कि कवलाहार करने वाले जीव ही आहारक होते हैं । ऐसा मानने पर तो एकेन्द्रिय जीव, अण्डज जीव और देव इन सब को अनाहारक मानना पड़ेगा जो आगम विरुद्ध है ।

कौन जीव आहारक होते हैं और कौन अनाहारक होते हैं इस विषय में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोमट्टसार जीवकाण्ड में बतलाया है—

विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो समुद्घदो अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा ॥

—गोमट्ट० जीवकाण्ड गाथा ६६६

अर्थात् विग्रहगति को प्राप्त चारों गति के जीव, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करने वाले सयोगकेवली, अयोगकेवली और समस्त सिद्ध जीव अनाहारक (आहार रहित) होते हैं । इनके अतिरिक्त शेष सब जीव आहारक होते हैं ।

विशेष—

दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण के भेद से केवलीसमुद्घात चार प्रकार का होता है । इन चारों के करने में ८ समय लगते हैं । प्रतर और लोकपूरण समुद्घात के समय केवल कार्मणयोग रहने के कारण तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में केवली भगवान् अनाहारक रहते हैं । और शेष पाँच समयों में वे आहारक होते हैं ।

इसी प्रकार विग्रहगति को प्राप्त जीव एक समय या दो समय अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है और चौथे समय में नियम से आहारक हो जाता है ।

अब यदि आप (श्वेताम्बर) देहस्थिति न बन सकने का तर्क देकर केवली में कवलाहार सिद्ध करना चाहतें हैं तो हमारा प्रश्न यह है कि देव कवलाहार नहीं करते हैं, फिर भी उनकी देहस्थिति कैसे बनी रहती है ? इस पर आप कहना चाहेंगे कि देवों का शरीर वैक्रियिक है और केवली का शरीर औदारिक है । वैक्रियिक शरीर होने के कारण देव कवलाहार नहीं करते हैं और औदारिक शरीर होने के कारण केवली कवलाहार करते हैं। इसके उत्तर में हमारा कहना यह है कि केवली का शरीर औदारिक नहीं है । किन्तु परमौदारकि है । इस कारण केवली अवस्था में केशादि की वृद्धि के अभाव की तरह भुक्ति का भी अभाव रहता है । औदारिक शरीर होने के कारण केवली में कवलाहार मानने वालों के यहाँ केवली का

प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय कैसे सिद्ध होगा । हम कह सकते हैं कि हम लोगों के प्रत्यक्ष की तरह केवली का प्रत्य्क्ष भी इन्द्रियजन्य है । इसी प्रकार वक्ता होने के कारण कवली कौ सराग भी मानना पड़ेगा । ऐसा नहीं हो सकता है कि आप केवली में कवलाहार तो मानें तथा इन्द्रियप्रत्यक्षत्व और सरागता न मानें । जिस प्रकार केवली भगवान् का शरीर परमौदारिक होने के कारण सप्तधातुरूप् मल से रहित होता है, उसी प्रकार कवलाहार के बिना भी शरीर की स्थिति होने में कोई विरोध नहीं है । कवलाहार और शरीरस्थिति में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है । सुना जाता है कि बाहुबली आदि महापुरुषों को एक वर्ष तक आहार न मिलने पर भी उनकी शरीरस्थिति में कोई व्याघात नहीं हुआ । निष्कर्ष यह है कि शरीरस्थिति का प्रधान कारण आयु कर्म है । कवलाहार तो सहायकमात्र है । छद्मस्थ अवस्था की तरह केवली अवस्था में भी कवलाहार मानने वालों को उनमें आँख की पलक का बन्द होना तथा नख, केशादि की वृद्धि भी मानना चाहिए । किन्तु वे ऐसा मानते नहीं हैं ।

यदि ऐसा कहा जाय कि वेदनीय कर्म के सद्भाव के कारण केवली में कवलाहार की सिद्धि होती है, तो इस कथन में कथंचित् सत्य है, सर्वथा नहीं । इस कथन से इतना ही सिद्ध हो सकता है कि वेदनीय कर्म अपना फल देता है । इससे यह कैसे सिद्ध होता है कि वह भुक्तिरूप फल देता है । यथार्थ बात यह है कि केवली में मोहनीय कर्म के अभाव के कारण सातावेदनीय तथा असातावेदनीय अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते हैं । अत: मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर वेदनीय आदि अघातिया कर्मों में अपने कार्य को करने की सामर्थ्य नहीं रहती है । यदि कर्मों का उदय परनिरपेक्ष होकर कार्य करे तो प्रमत्त आदि गुणस्थानों में तीन वेदों और कषायों का उदय होने से मैथुन आदि का प्रसंग भी प्राप्त होगा । ऐसी स्थिति में मन के संक्षोभ के कारण क्षपक श्रेणी का आरोहण और शुक्लध्यान की प्राप्ति कैसे होगी ? तथा इनके बिना कर्मों का क्षपण कैसे होगा ? एक बात यह भी है कि बुभुक्षा मोहनीय निरपेक्ष वेदनीय का कार्य नहीं हो सकती है । भोजन करने की इच्छा का नाम बुभुक्षा है । और इच्छा मोहनीय कर्म का कार्य है । तब बुभुक्षा केवल वेदनीय कर्म का कार्य कैसे

हो सकती है । तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म के अभाव में केवली में बुभुक्षा होती ही नहीं है ।

थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि वेदनीय कर्म केवली में बुभुक्षारूप फल को देता है और इसके फलस्वरूप केवली भोजन करते हैं । तब प्रश्न उपस्थित होता है कि केवली समवसरण में स्थित रहकर भोजन करते हैं अथवा चर्यामार्ग से जाकर भोजन करते हैं । प्रथम पक्ष मानने पर केवली धर्म के मार्ग को नष्ट करने वाले कहलायेंगे । क्योंकि साधारण गृहस्थ भी धर्मायतन में भोजन नहीं करते हैं तो केवली भगवान् समवसरण में भोजन कैसे करेंगे ? द्वितीय पक्ष यह है कि वे चर्यामार्ग से जाकर भोजन करते हैं । यहाँ भी दो विकल्प होते हैं । क्या वे घर घर में भिक्षा के लिए जाते हैं अथवा एक ही घर में भिक्षालाभ जानकर प्रवृत्ति करते हैं । प्रथम विकल्प मानने पर घर घर घूमने वाले जिन अज्ञानी कहलायेंगे । क्योंकि उनको इतना भी ज्ञान नहीं है कि भिक्षा का लाभ कहाँ होगा । और द्वितीय विकल्प स्वीकार करने पर केवली में भिक्षा की शुद्धि नहीं बनती है । क्योंकि सबसे अच्छा भोजन कहाँ मिलेगा ऐसा जानकर वे उसी घर में चले जायेंगे । यहाँ यह भी विचारणीय है कि केवली भगवान् भोजन करते समय मांस, विष्ठा (टट्टी) आदि अशुचि पदार्थों का साक्षात्कार करते हुए आहार को कैसे ग्रहण करेंगे । यह भी जानने योग्य बात है कि केवली भोजन करते समय एकाकी भोजन करते हैं अथवा शिष्यों से परिवृत्त (घिरे हुए) होकर भोजन करते हैं । प्रथम पक्ष में यह दोष है कि शिष्यों को छोड़कर श्रावकों के घर में अकेले जाकर भोजन करने से वे दीन कहलायेंगे । और शिष्यों से परिवृत्त होकर भोजन करने में उन्हें सावद्य (सदोष) होने का प्रसंग आता है । एक प्रश्न यह भी है कि केवली भोजन करके प्रतिक्रमणादि करते हैं या नहीं । यदि वे प्रतिक्रमण करते हैं तो दोषवान् सिद्ध होते हैं । और प्रतिक्रमण न करने पर भोजन क्रिया से उत्पन्न दोष का निवारण कैसे होगा ?

अच्छा अब आप यह बतलाइये कि केवली भोजन किसलिए करते हैं । (१) शरीर के उपचय के लिए (२) ज्ञान, ध्यान और संयम की सिद्धि के लिए (३) क्षुधा की वेदना के प्रतिकार के लिए अथवा (४) प्राणों की

रक्षा के लिए । शरीर के उपचय के लिए कवलाहार मानना ठीक नहीं है । क्योंकि लाभान्तराय के क्षय से उनको प्रतिसमय विशिष्ट परमाणुओं का लाभ होता ही रहता है और इससे शरीर का उपचय बना रहता है । ज्ञानादि की सिद्धि के लिए केवली को आहार करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि उनमें सकलार्थविषयक केवलज्ञान और यथाख्यातचारित्र सर्वदा विद्यमान रहता है । तथा निर्मनस्क होने से उनमें ध्यान होता ही नहीं है । क्षुधा की वेदना के प्रतिकार के लिए केवली में आहार मानना भी ठीक नहीं है । क्योंकि अनन्तसुखसम्पन्न केवली में क्षुधा की वेदना होती ही नहीं है । प्राणों की रक्षा के लिए केवली में आहार की कल्पना करना निरर्थक है । क्योंकि चरम शरीर होने के कारण उनकी अकालमृत्यु होती ही नहीं है ।

यहाँ ऐसी आशंका व्यर्थ है कि केवली में भोजन का अभाव मानने पर 'एकादश जिने परीषहा:' इस आगम वाक्य का विरोध प्राप्त होगा । क्योंकि जिन (केवली) में क्षुधा आदि जो ग्यारह परीषह बतलायी गई हैं वे उपचारमात्र से हैं और उपचार का कारण है वेदनीय कर्म का सद्भाव । यदि परमार्थ से केवली में क्षुधादि परीषहों का सद्भाव हो तो बुभुक्षा की तरह रोग, वध, तृणस्पर्श आदि परीषहों का सद्भाव भी उनमें मानना पड़ेगा । तथा इन परीषहों द्वारा उत्पन्न पीड़ा के कारण उनको बड़ा भारी दु:ख प्राप्त होगा । तब दु:खी होने से वे हम लोगों की तरह 'जिन' नहीं हो सकते हैं । अत: हम कह सकते हैं कि केवली भगवान् अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न होने के कारण क्षुधादि परीषह से रहित होते हैं ।

आप लोग कहते हैं कि भोजन करते समय भगवान् अदृश्य रहते हैं । यदि ऐसा है तो उनके अदृश्य रहने का कारण क्या है ? क्या वे अयुक्तसेवी होने के कारण एकान्त में भोजन करते हैं अथवा विद्याविशेष के द्वारा अपना तिरोधान कर लेते हैं । प्रथम पक्ष में परस्त्री के प्रति गमन करने वाले पुरुष की तरह केवली को अयुक्तसेवी होने का दोष आता है । यदि केवली अपने तिरोधान के लिए विद्याविशेष का उपयोग करते हैं तो वे निर्ग्रन्थ नहीं रह सकते हैं । क्योंकि निर्ग्रन्थ ऐसा काम नहीं करते हैं । यदि केवली भोजन करते समय अदृश्य रहते हैं तो श्रावक उनको आहार दान कैसे देंगे ? इत्यादि प्रकार से विचार करने पर केवली में कवलाहार सिद्ध नहीं

होता है । अत: अर्हन्त अवस्था में अनन्तचतुष्टय का सद्भाव होने के कारण कवलाहार का अभाव मानना ही श्रेयस्कर है ।

स्त्रीमुक्ति विचार

श्वेताम्बर मतानुयायियों की मान्यता है कि पुरुष की तरह स्त्री भी मोक्ष प्राप्त करने की अधिकारिणी है । वे अनुमान प्रमाण से स्त्रीमुक्ति की सिद्धि करते हैं । स्त्रीमुक्ति साधक अनुमान इस प्रकार है—

अस्ति स्त्रीणां मोक्षोऽविकलकारणत्वात् ।

अर्थात् स्त्रियों को मोक्ष होता है, क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के सम्पूर्ण कारण उनमें पाये जाते हैं ।

उक्त कथन तर्कसंगत नहीं है । क्योंकि स्त्रियों में मोक्ष के कारण ज्ञानादि का परम प्रकर्ष नहीं पाया जाता है । उनमें सप्तम नरक में जाने के कारणभूत पाप का परम प्रकर्ष भी नहीं पाया जाता है । ऐसा नियम है कि जिस वेद (लिङ्ग) में मोक्ष के हेतुओं का परम प्रकर्ष होता है उस वेद में सप्तम नरक में गमन के कारणभूत पाप का परम प्रकर्ष भी होता ही है । पुरष में ये दोनों बातें पायी जाती हैं । किन्तु इस नियम के विपरीत ऐसा नियम नहीं है कि जिसमें सप्तम नरक में जाने के हेतुओं का परम प्रकर्ष पाया जाता है उसमें मोक्ष के हेतुओं का भी परम प्रकर्ष होता हो । श्वेताम्बर भी इस बात को मानते हैं कि नपुंसक में सप्तम नरक में जाने के हेतुओं का परम प्रकर्ष पाये जाने पर भी मोक्ष के हेतुओं का परम प्रकर्ष नहीं होता है । श्वेताम्बर आगम में भी यह माना गया है कि स्त्री में सप्तम नरक में जाने के कारणभूत पाप का परम प्रकर्ष नहीं होता है । इसी बात को प्रमाण मान कर हम यह कहते हैं कि स्त्री में मोक्ष के कारण ज्ञानादि का परम प्रकर्ष भी नहीं होता है । फिर भी यदि आप स्त्री में मोक्ष के हेतुओं का परम प्रकर्ष मानते हैं तो सप्तम नरक में जाने के हेतुभूत पाप का परम प्रकर्ष भी मानिए । यथार्थ बात यह है कि पुरुष में मोक्ष के हेतु ज्ञानादि का जैसा परम प्रकर्ष पाया जाता है, वैसा परम प्रकर्ष स्त्री में नहीं पाया जाता है । अन्यथा नपुंसक में भी ज्ञानादि का परम प्रकर्ष मानना पड़ेगा और तब नपुसंक को भी मोक्ष का प्रसंग प्राप्त होगा, जो कि दोनों सम्प्रदायों को अनिष्ट है । इस प्रकार स्त्रियों में मोक्ष के अविकल कारणों का सद्भाव सिद्ध नहीं होता है ।

मोक्ष का हेतु संयम भी स्त्रियों में असंभव ही है । जब उनका संयम सांसारिक ऋद्धियों का भी हेतु नहीं है तब वह सम्पूर्ण कर्मों के विप्रमोक्षरूप मोक्ष का हेतु कैसे हो सकता है ? सचेल संयम होने के कारण भी गृहस्थ के संयम की तरह स्त्री का संयम मोक्ष का हेतु नहीं है । स्त्रियों का निर्वस्त्र संयम न तो देखा गया है और न आगम में बतलाया गया है । ऐसा भी नहीं है कि पुरुषों का अचेल संयम और स्त्रियों का सचेल संयम दोनों ही मोक्ष के हेतु होते हैं । ऐसा मानने पर कारण के भेद से मुक्ति में भी भेद मानना पड़ेगा । सचेल संयम को मुक्ति का हेतु मानने पर पंचम गुणस्थानवर्ती देशसंयमियों को भी मुक्ति का प्रसंग प्राप्त होगा ।

आर्यिकाएं साधुओं के द्वारा वन्दनीय न होने के कारण भी मोक्ष के हेतुभूत संयम वाली नहीं हैं । साधु आर्यिका की वन्दना नहीं करते हैं किन्तु आर्यिकाएं ही साधु की वन्दना करती हैं । इस विषय में आगम में बतलाया गया है—

वरससयदिक्खियाए अज्जाये अज्ज दिक्खिओ साहू ।
अभिगमणवंदणणमंसणविणएण सो पुज्जो ॥

—उपदेशमाला गाथा १५ (धर्मदासगणि)

अर्थात् सौ वर्ष से दीक्षित आर्यिका के द्वारा आज दीक्षित साधु अभिगमन, वन्दन, नमस्करण और विनय से पूज्य होता है ।

बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह युक्त होने के कारण भी स्त्रियाँ मोक्ष के हेतुभूत संयम वाली नहीं हैं । वस्त्रग्रहणरूप बाह्य परिग्रह स्वशरीर में अनुरागादिरूप अन्तरंग परिग्रह का अनुमान कराता है । ऐसा भी नहीं है कि शरीर की गर्मी से होने वाली वायुकायिक आदि जीवों की हिंसा के निवारण के लिए आर्यिका वस्त्रधारण करती हो । यदि ऐसा है तो पुरुषों का अचेलकरूपव्रत हिंसा कहलायेगा । तब तो अर्हन्त आदि मुक्ति के पात्र नहीं हो सकेंगे । इसके विपरीत सवस्त्र गृहस्थ ही मुक्ति के पात्र होंगे । आर्यिका के द्वारा वस्त्र के ग्रहण करने पर भी वस्त्र से अनावृत पाणि, पाद आदि की गर्मी से जन्तुओं की हिंसा का निवारण कैसे होगा ? यहाँ यह भी स्मरणीय है कि वस्त्र अनेक सूक्ष्म जन्तुओं का अधिकरण (आधार) होता है । यदि जन्तुओं की रक्षा के लिए वस्त्रग्रहण उचित माना जावे तो

अनेक प्राणियों की रक्षा के लिए विहार (गमन) का त्याग भी करना चाहिए। यह भी देखिए कि वस्त्र के ग्रहण करने में याचन, सीवन (सिलना) प्रक्षालन, शोषण (सुखाना) चौरहरण, (चोरी) आदि कितनी ही बातें मन में संक्षोभ को उत्पन्न करने वाली होती हैं। ऐसी स्थिति में आर्यिकाओं में बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्यागरूप संयम कैसे बनेगा ? वस्त्रग्रहण तो संयम का उपघातक ही होता है ।

यहाँ कोई वादी शंका कर सकता है कि जन्तु रक्षा के लिए पीछी का धारण करना, रोग की निवृत्ति के लिए औषधि का ग्रहण करना आदि क्रियाओं में भी दोष होता ही है । तब वस्त्र की तरह इनका निषेध क्यों नहीं किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि कोमल पीछी के ग्रहण से सूक्ष्म जन्तुओं का उपघात न होकर उनकी रक्षा होती है । पीछी का ग्रहण शरीर में मूर्च्छा का सूचक भी नहीं है । इसी प्रकार रोग दूर करने में समर्थ औषधि के लेने से रोग दूर होता है, चर्या में कोई बाधा नहीं आती है तथा औषधि नैर्ग्रन्थ्य अवस्था की विरोधी भी नहीं है । जैनसिद्धान्त के अनुसार उद्गमादि ४६ दोष रहित आहार, औषधि आदि का ग्रहण रत्नत्रय की आराधना का हेतु होता है ।

साधु में पीछी, औषधि आदि के ग्रहण से रागादि अन्तरंग और वेशभूषादि बहिरंग परिग्रह का सद्भाव नहीं माना जा सकता है । पीछी, औषधि आदि तो मोक्ष के हेतुभूत संयम के उपकारक ही होते हैं । अवसर आने पर परम नैर्ग्रन्थ्य की सिद्धि के लिए पीछी तथा औषधि का भी त्याग कर दिया जाता है । दो दिन, तीन दिन आदि के क्रम से मुमुक्षुओं के द्वारा पिण्ड (आहार) का भी त्याग कर दिया जाता है । परन्तु आर्यिकाओं के द्वारा वस्त्र का त्याग तो जीवन पर्यन्त कभी भी नहीं किया जाता है । इस प्रकार स्त्रियों में मोक्ष के हेतुभूत संयम का अभाव सिद्ध होता है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि स्त्रियों में मोक्ष के अविकल कारण नहीं पाये जाते हैं । अतः पूर्वोक्त अनुमान प्रमाण स्त्रीमुक्ति का साधक नहीं हो सकता है ।

आगम प्रमाण से भी स्त्रीमुक्ति की सिद्धि नहीं होती है । ऐसा कोई आगम ही नहीं है जो स्त्रीमुक्ति को सिद्ध करता हो । निम्नलिखित आगम से भी स्त्रीमुक्ति की सिद्धि नहीं होती है—

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥

—प्राकृतसिद्धभक्ति (आचार्य कुन्दकुन्द)

अर्थात् पुरुषवेद का अनुभव करने वाले जो पुरुष क्षपक श्रेणी में आरूढ हैं और ध्यान में लीन हैं वे सिद्ध हो जाते हैं । तथा शेष स्त्रीवेद और नपुंसक-वेद वाले भी इस प्रकार मोक्ष जाते हैं । आगम की उक्त गाथा से भी स्त्रीमुक्त की सिद्धि नहीं होती है ।

उक्त गाथा का विशेषार्थ इस प्रकार है—

पुरुषवेद के समान अन्यवेदों का उदय होने पर भी पुरुष ही मोक्ष जाते हैं । उदय भाव का होता है, द्रव्य का नहीं । मोहनीय कर्म के उदय से भाववेद होता है और नाम कर्म के उदय से द्रव्यवेद होता है । द्रव्यवेद नाम कर्म का कार्य है और भाववेद मोहनीय कर्म का कार्य है । अत: जो बाह्य में पुरुषरूप द्रव्यवेद वाले हैं और अन्तरंग में स्त्रीवेद या नपुंसकवेद का अनुभव कर रहे हैं ऐसे पुरुष ही मोक्ष जाने के पात्र होते हैं । जो बाह्य में द्रव्य स्त्री और द्रव्य नपुंसक हैं वे मोक्ष नहीं जा सकते हैं । जहाँ भी ऐसा कथन है कि स्त्रीवेद के उदय वाले जीव मोक्ष जाते हैं वहाँ मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला भाववेद ही विवक्षित है द्रव्यवेद नहीं । तात्पर्य यह है कि स्त्री के शरीर को धारण करनेवाली द्रव्य स्त्री कभी भी मोक्ष नहीं जा सकती है ।

आगम में यह भी बतलाया गया है कि रत्नत्रय के आराधक जीव की जघन्य से सात-आठ भवों में और उत्कर्ष से दो-तीन भवों में मुक्ति हो जाती है । जबसे यह जीव रत्नत्रय का आराधक हो जाता है तब से सब प्रकार की स्त्रियों में उसकी उत्पत्ति होती ही नहीं है । तब स्त्रीमुक्ति का प्रश्न कहाँ शेष रहता है ? मोक्ष तो उत्कृष्ट ध्यान का फल है और स्त्रियों में उत्कृष्ट ध्यान संभव न होने के कारण उनका मोक्ष प्राप्त करना असंभव है । अन्त में हम यही कहेंगे कि स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि वे पुरुष से भिन्न हैं, जैसे कि नपुंसक । अत: सप्रमाण यह सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ मोक्ष प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं है ।

ज्ञान को सावरण और इन्द्रियजन्य मानने में क्या हानि है ? इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ॥ १२ ॥

ज्ञान को आवरण सहित और इन्द्रियजन्य मानने पर अपने विषय में प्रतिबन्ध (रुकावट) की संभावना होने के कारण उसको वैसा मानना ठीक नहीं है । यदि ज्ञान को आवरण सहित और इन्द्रियजन्य माना जाय तो अपने विषय में उसकी निर्बाध प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । उसमें सदा ही प्रतिबन्ध की संभावना बनी रहेगी । आवरणसहित ज्ञान सकल पदार्थों को नहीं जान सकता है । वह तो जितने अंश में आवरण दूर होगा उतने ही अंश में पदार्थों को जानेगा । अत: एक ऐसा ज्ञान मानना आवश्यक है जो पूर्णरूप से निरावरण हो । तभी वह सकल पदार्थों का साक्षात्कार कर सकता है । इन्द्रियजन्य ज्ञान सम्बद्ध और वर्तमान अर्थ को ही ग्रहण करता है । वह भूत और भविष्यत् अर्थ को जान ही नहीं सकता है । वर्तमान अर्थों में भी वह सीमित अर्थ को ही जानता है । इसलिए एक ऐसा ज्ञान मानना आवश्यक है जो निरावरण और अतीन्द्रिय हो । तभी वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालवर्ती समस्त पदार्थों को किसी प्रतिबन्ध के बिना जान सकता है ।

• द्वितीय परिच्छेद समाप्त •

तृतीय परिच्छेद

इस परिच्छेद में परोक्ष प्रमाणों का वर्णन किया गया है । सर्वप्रथम परोक्ष प्रमाण का लक्षण बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

परोक्षमितरत् ॥ १ ॥

द्वितीय परिच्छेद में बतलाया गया है कि विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । उस ज्ञान से जो भिन्न (अविशद) है उसे परोक्ष कहते हैं । विशद ज्ञान में किसी दूसरे ज्ञान का व्यवधान नहीं होता है, किन्तु अविशद ज्ञान ज्ञानान्तर से व्यवहित होता है । इसलिए उस ज्ञान को परोक्ष कहते हैं ।

अब परोक्ष के भेद और उनके कारणों को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥ २ ॥

परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम । तथा प्रत्यक्षादि इनके कारण हैं । अर्थात् स्मृति का कारण प्रत्यक्ष है । प्रत्यभिज्ञान का कारण प्रत्यक्ष और स्मृति है । तर्क का कारण प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान है । अनुमान का कारण प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क है । आगम का कारण श्रावणप्रत्यक्ष, स्मृति और संकेत है ।

स्मृति का स्वरूप और कारण बतलाने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥ ३ ॥

स्मृति का आकार (स्वरूप) है—तत् (वह) और इसका कारण है धारणारूप संस्कार का उद्बोध (प्रकट होना) । धारणा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का एक भेद है और इसी को यहाँ संस्कार कहा गया है । जब हम किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष करते हैं तो उसके बाद आत्मा में उस पदार्थ का धारणारूप संस्कार पड़ जाता है और जब किसी निमित्त के द्वारा वह संस्कार जागृत हो जाता है तब पहले देखे हुए पदार्थ की स्मृति होती है ।

स्मृति का स्वरूप समझाने के लिए उदाहरण देते हैं—

यथा स देवदत्त इति ॥ ४ ॥

जैसे वह देवदत्त । किसी ने एक वर्ष पहले देवदत्त को देखा था और देवदत्त को देखने वाले पुरुष के हृदय में उस देवदत्त का धारणारूप संस्कार पड़ गया था । किसी कारण विशेष के द्वारा आज वह संस्कार जागृत हो गया । तब पूर्व दृष्ट देवदत्त का स्मरण इस रूप में होता है—वह देवदत्त ।

स्मृतिप्रामाण्य विचार

संवादक होने के कारण स्मृति प्रमाण है । जो भी ज्ञान संवादक होता है वह प्रमाण कहलाता है, जैसे प्रत्यक्षादि ज्ञान।स्मृति का विषय अनुभूत अर्थ होता है । स्मृति शब्द का वाच्यार्थ है—अनुभूत अर्थ को विषय करने वाला ज्ञान । ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि अनुभूत अर्थ को विषय करने के कारण गृहीतग्राही होने से स्मृति अप्रमाण हो जायेगी । क्योंकि स्मृति में भिन्न प्रकार का ज्ञान पाया जाता है । प्रत्यक्ष में वस्तु का जैसा विशदरूप से प्रतिभास होता है वैसा स्मृति में नहीं होता है । स्मृति में तो अनुभूत अर्थ का प्रतिभास अविशदरूप से होता है । यदि अनुभूत अर्थ को विषय करने के कारण स्मृति अप्रमाण है तो अनुमान से अग्नि को जान लेने के बाद अग्नि का जो प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है वह भी अप्रमाण हो जायेगा । स्मृति के विषय में विसंवाद भी नहीं पाया जाता है । किसी ने पृथिवी के अन्दर धन आदि का निक्षेप कर दिया और कालान्तर में स्मृति के द्वारा उसकी प्राप्ति हो जाती है । अतः अविसंवादक होने से स्मृति प्रमाण है । यदि कहीं विसंवाद देखा जाता है तो वह प्रत्यक्षाभास की तरह स्मृत्याभास है । समारोप का व्यवच्छेदक होने के कारण भी स्मृति प्रमाण है । लोकव्यवहार में स्मृति के आधार पर अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं । इत्यादि अनेक कारणों से स्मृति में प्रामाण्य सिद्ध होता है ।

अब प्रत्यभिज्ञान के स्वरूप और कारण को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।
तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥ ५ ॥

वर्तमान पर्याय का दर्शन और पूर्व पर्याय का स्मरण होने से दोनों पर्यायों (अवस्थाओं) का संकलनरूप (एकत्व, सादृश्य आदि के ग्रहणरूप) जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं ।

प्रत्यभिज्ञान के कारण दो हैं—दर्शन (प्रत्यक्ष) और स्मरण । उसका आकार इस प्रकार होता है—यह वही है, यह उसके सदृश है, यह उससे विलक्षण है, और यह उसका प्रतियोगी है । इत्यादि प्रकार से प्रत्यभिज्ञान के कई भेद होते हैं । यह वही है, यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान है । यह उसके सदृश है, यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है । यह उससे विलक्षण है, यह वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान है । यह उसका प्रतियोगी है, यह प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान है ।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण बतलाते हैं—

यथा स एवायं देवदत्तः ॥ ६ ॥

जैसे यह वही देवदत्त है । इसका तात्पर्य यह है कि एक वर्ष पहले जिस देवदत्त को देखा था आज वही देवदत्त पुनः दिख गया । तब उसमें ऐसा ज्ञान होता है कि यह वही देवदत्त है जिसको पहले देखा था । यहाँ देवदत्त की पूर्व में दृष्ट पर्याय का स्मरण होता है और वर्तमान पर्याय का प्रत्यक्ष होता है । तब दोनों पर्यायों का संकलनरूप एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है कि दोनों पर्यायों में रहनेवाला देवदत्त एक ही है, भिन्न भिन्न नहीं । यही एकत्व प्रत्यभिज्ञान है ।

सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण बतलाते हैं—

गोसदृशो गवयः ॥ ७ ॥

जैसे गवय गाय के सदृश होता है । हम प्रतिदिन गाय को देखते हैं, किन्तु वन्य प्राणी गवय को हमने आज तक नहीं देखा । परन्तु गवय गाय के सदृश होता है, ऐसा हमने सुना है । तदनन्तर कभी वन में जाने पर गाय के सदृश प्राणी को देख कर हम जान लेते हैं कि यह गवय है । गौ और गवय (नील गाय) में सादृश्य होने के कारण उत्पन्न होने वाला यह ज्ञान सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहलाता है ।

वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण बतलाते हैं—

गोविलक्षणो महिषः ॥ ८ ॥

जैसे महिष (भैंस) गाय से विलक्षण है । हम प्रतिदिन गाय और भैंस दोनों को देखकर यह जान लेते हैं कि इन दोनों में समानता न होकर वैलक्षण्य पाया जाता है । यही वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान है ।

प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण बतलाते हैं—

इदमस्माद् दूरम् ॥ ९ ॥

जैसे यह इससे दूर है । किसी निकटवर्ती वस्तु को देखने के बाद जब दूरवर्ती वस्तु का दर्शन होता है तब ऐसा ज्ञान होता है कि यह इससे दूर है । यहाँ निकटता और दूरता की दृष्टि से दो वस्तुओं की तुलना की गई है । दूरवर्ती वस्तु निकटवर्ती वस्तु की प्रतियोगी है । इसलिए इसको प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान कहा गया है ।

सामान्य प्रत्यभिज्ञान का उदारहण बतलाते हैं—

वृक्षोऽयमित्यादि ॥ १० ॥

जैसे यह वृक्ष है । जो व्यक्ति वृक्ष को नहीं जानता है उसे किसी ने बतलाया कि 'शाखादिमान् वृक्षः' वृक्ष शाखादि से युक्त होता है । तदनन्तर शाखादियुक्त वस्तु को देखने पर उसे ज्ञान होता है कि वृक्ष शब्द का वाच्य अर्थ यह वस्तु है । यहाँ संज्ञा (वृक्ष शब्द) और संज्ञी (वृक्ष अर्थ) में वाच्य-वाचक-सम्बन्ध का ज्ञान होता है । यह भी एक प्रत्यभिज्ञान है । इसे सामान्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । इसी प्रकार और भी कई प्रत्यभिज्ञान होते हैं ।

प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्य विचार

पूर्वपक्ष—

मीमांसकों का कहना है कि प्रत्यक्षस्वरूप होने के कारण प्रत्यभिज्ञान को परोक्ष मानना गलत है । प्रत्यभिज्ञान में अन्य प्रत्यक्षों की तरह इन्द्रियों का अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है । स्मरणपूर्वक होने के कारण इसमें प्रत्यक्षत्व का अभाव नहीं माना जा सकता है । स्मरण के पश्चात् होने पर भी जब सत् पदार्थ के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है तभी प्रत्यभिज्ञान होता है । इसलिए इसको प्रत्यक्ष मानने में कोई विरोध नहीं है । इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है, चाहे वह ज्ञान स्मृति के पहले हो या बाद में । अतः प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष ही है, परोक्ष नहीं ।

उत्तरपक्ष—

मीमांसकों का उक्त कथन समीचीन नहीं है । क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में इन्द्रियों का अन्वय-व्यतिरेक नहीं पाया जाता है । यदि वह इन्द्रियों के

अन्वय-व्यतिरेक से उत्पन्न होता है तो प्रथम बार में देवदत्त का दर्शन होने पर इसको उत्पन्न हो जाना चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है । ऐसा मानना भी गलत है कि स्मृति की सहायता से इन्द्रियाँ प्रत्यभिज्ञान को उत्पन्न करती हैं । क्योंकि प्रत्यक्ष स्मृतिनिरपेक्ष होता है । यदि इसे स्मृतिसापेक्ष माना जाय तो इसके द्वारा अपूर्व अर्थ का साक्षात्कार कैसे होगा ? मीमांसक तो अपूर्व अर्थ के ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं । यहाँ यह भी विचारणीय है कि वर्तमान अर्थ ही इन्द्रियों से सम्बद्ध होता है । प्रत्यभिज्ञान का विषय वर्तमान अर्थ नहीं है, किन्तु पूर्वोत्तरपर्यायवर्ती एकत्वादि इसका विषय है । प्रत्यभिज्ञान में किसी व्यवधान के बिना प्रतिभासन लक्षण वैशद्य भी नहीं पाया जाता है । इस ज्ञान में पूर्व पर्याय के स्मरण का और उत्तर पर्याय के दर्शन का व्यवधान पाया जाता है । इसलिए प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता है । इस प्रकार अविशद होने के कारण प्रत्यभिज्ञान को परोक्ष मानना ही युक्तिसंगत है ।

बौद्धपक्ष—

यहाँ बौद्धों का कथन है कि प्रत्यभिज्ञान एक ज्ञान नहीं है, किन्तु दो ज्ञान हैं । 'स:' (वह) ऐसा उल्लेख स्मरणरूप है और 'अयम्' (यह) ऐसा उल्लेख प्रत्यक्षरूप है । इनसे व्यतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान नहीं है जिसे प्रत्यभिज्ञान कहा जाय । इन दोनों ज्ञानों में ऐक्य भी नहीं माना जा सकता है । अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमान में भी ऐक्य मानना पड़ेगा । अत: प्रत्यभिज्ञान एक ज्ञान न होकर दो ज्ञान हैं ।

उत्तरपक्ष—

बौद्धों का उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाला तथा पूर्वोत्तरपर्यायवर्ती एक द्रव्य को विषय करने वाला जो संकलनात्मक एक ज्ञान होता है वही प्रत्यभिज्ञान है और यह स्मरण तथा प्रत्यक्ष दोनों से भिन्न है । स्मरण अतीत और वर्तमान पर्यायवर्ती द्रव्य का संकलन नहीं कर सकता है, वह तो मात्र अतीत पर्याय को विषय करता है । इसी प्रकार प्रत्यक्ष भी केवल वर्तमान पर्याय को विषय करता है, वह अतीत पर्याय को विषय नहीं कर सकता है । तब दोनों पर्यायों में रहने वाले एक द्रव्य को विषय करने वाला कोई पृथक् ज्ञान

होना चाहिए और ऐसा जो ज्ञान है वही प्रत्यभिज्ञान है । गृहीतग्राहित्व का दोषारोपण करके प्रत्यभिज्ञान में अप्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता है । क्योंकि प्रत्यभिज्ञान का विषयभूत जो एक द्रव्य है वह स्मृति और प्रत्यक्ष से ग्राह्य नहीं होता है । इसलिए प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही न होकर अगृहीतग्राही है । प्रत्यभिज्ञान का बाधक कोई प्रमाण भी नहीं है । अत: प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और वह प्रत्यक्षादि से भिन्न है ।

मीमांसक और नैयायिक सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को उपमान कहते हैं । मीमांसकों का मत है कि गोदर्शन के संस्कार वाले व्यक्ति के वन में जाने पर गवय के दर्शन के बाद गाय का स्मरण होने पर 'अनेन समान: स:'— गाय गवय के समान है, इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह उपमान है । यहाँ सादृश्यविशिष्ट गौ अथवा गौविशिष्ट सादृश्य उपमान का प्रमेय होता है ।

मीमांसकों का उक्त कथन समीचीन नहीं है । क्योंकि चाहे एकत्व की प्रतीति हो अथवा सादृश्य की प्रतीति हो, दोनों ही संकलनात्मक होने के कारण प्रत्यभिज्ञान ही हैं । जिस प्रकार 'स एवायम्'—यह वही है, यहाँ उत्तर पर्याय की पूर्व पर्याय से एकता की प्रतीति होती है, उसी प्रकार 'अनेन सदृश: स:'—वह इसके समान है, ऐसी सादृश्य प्रतीति भी प्रत्यभिज्ञान ही है । यदि एकत्वज्ञान को प्रत्यभिज्ञान और सादृश्यज्ञान को उपमान माना जाय तो 'अनेन विलक्षण: स:'—वह इससे विलक्षण है, ऐसा जो वैलक्षण्य का ज्ञान होता है वह कौनसा प्रमाण होगा ? इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान और उपमान से भिन्न ही मानना पड़ेगा । क्योंकि इसका विषय न तो एकत्व है और न सादृश्य है ।

उपमान के विषय में नैयायिक का मत मीमांसक के मत से कुछ भिन्न है । किन्तु दोनों में मूल बात एक ही है । नैयायिकमतानुसार 'गौरिव गवय:'—गवय गाय के समान होता है, इस उपमान वाक्य को जिस व्यक्ति ने सुना है उसको वन में जाने पर गौसदृश प्राणी का दर्शन होता है । तदनन्तर 'अयं गवयशब्दवाच्य:'—यह प्राणी गवय शब्द का वाच्य है, उसे ऐसी जो संज्ञा (गवय शब्द) और संज्ञी (गवय प्राणी) के वाच्य-वाचक सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह उपमान कहलाता है ।

नैयायिक का उक्त मत मीमांसक मत के निराकरण से ही निरस्त हो जाता है । जिस प्रकार एक बार घट को देखने के बाद पुन: उसी का दर्शन होने पर 'स एवायं घट: '—यह वही घट है, ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है, उसी प्रकार 'गोसदृशो गवय: '—गवय गाय के सदृश है, ऐसा ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान ही है । सादृश्यज्ञान को उपमान मानने पर 'गोविलक्षणो महिष: '—भैंस गाय से विलक्षण है, इस ज्ञान को कौनसा प्रमाण माना जायेगा ? न्यायसूत्र में उपमान का लक्षण इस प्रकार है—

प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ।

अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ गाय के साधर्म्य से 'यह गवय शब्द वाच्य है' ऐसा संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का जो ज्ञान होता है वह उपमान कहलाता है । तब प्रसिद्ध अर्थ के वैधर्म्य से जो ज्ञान होता है वह कौनसा प्रमाण कहलायेगा ? इसी प्रकार यह वृक्ष शब्द का वाच्य है, इत्यादि स्थलों में जो संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह कौनसा प्रमाण होगा ? अत: सादृश्यज्ञान को पृथक् उपमान प्रमाण मानने वाले नैयायिकों को और भी अनेक प्रमाण मानना पड़ेंगे । हमारे (जैनों के) मत में तो ये सब ज्ञान प्रत्यभिज्ञान स्वरूप ही हैं । इस प्रकार यहाँ प्रत्यभिज्ञान में प्रामाण्य सिद्ध करने के साथ ही उपमान का प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव भी सिद्ध कर दिया गया है ।

तर्क का स्वरूप

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥ ११ ॥

उपलंभ और अनुपलंभ के निमित्त से होने वाले व्याप्ति के ज्ञान को ऊह कहते हैं । ऊह शब्द तर्क शब्द का पयार्यवाची है । साध्य और साधन में अविनाभाव का नाम व्याप्ति है । अविनाभाव का अर्थ है—साध्य के बिना साधन का नहीं होना । व्याप्ति का ज्ञान साध्य और साधन के उपलंभ और अनुपलंभ के द्वारा होता है । साध्य के होने पर ही साधन का होना उपलंभ है और साध्य के अभाव में साधन का न होना अनुपलंभ है । उपलंभ और अनुपलंभ का तात्पर्य दर्शन और अदर्शन से नहीं है, किन्तु निश्चय और अनिश्चय से है । इस कारण अतीन्द्रिय साध्य-साधन में अविनाभाव का निश्चय और अनिश्चय आगम तथा अनुमान से होने में कोई

बाधा नहीं आती है । इस प्राणी में धर्मविशेष (पुण्य) का सद्भाव है, क्योंकि इसमें विशिष्ट सुखादि पाया जाता है । यहाँ अतीन्द्रिय साध्य-साधन में व्याप्ति का ज्ञान आगम से होता है । सूर्य में गमनशक्ति का सम्बन्ध है, अन्यथा उसमें गतिमत्त्व नहीं बन सकता है । यहाँ अतीन्द्रिय साध्य-साधन में व्याप्ति का ज्ञान अनुमान से होता है । तात्पर्य यह है कि उपलंभ और अनुपलंभ निमित्तक व्याप्ति का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं होता है किन्तु अनुमान और आगम से भी होता है । उपलंभ और अनुपलंभ तर्क के कारण हैं । इसके अतिरिक्त स्मरण और प्रत्यभिज्ञान भी इसके कारण हैं ।

यह व्याप्तिज्ञान किस प्रकार होता है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवत्येवेति ॥ १२ ॥

साधन साध्य के होने पर ही होता है । इसे तथोपपत्ति कहते हैं । तथा साध्य के अभाव में साधन कभी नहीं होता है । इसे अन्यथानुपपत्ति कहते हैं । इन दोनों प्रकारों से व्याप्तिज्ञान होता है । इसी बात को उदाहरण द्वारा बतलाते हैं—

यथाग्नावेव धूमस्तस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥ १३ ॥

अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के अभाव में धूम कभी नहीं होता है । यहाँ अग्नि साध्य है और धूम साधन है तथा इन दोनों में व्याप्ति पाई जाती है । इस व्याप्ति का ज्ञान तर्क प्रमाण द्वारा ही होता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं । यहाँ ध्यान देने योग्य एक विशेष बात यह है कि जैनदर्शन ने ही व्याप्ति के ज्ञान के लिए तर्क प्रमाण को माना है तथा अन्य किसी दर्शन ने व्याप्तिग्राहक तर्क प्रमाण को नहीं माना है ।

तर्कप्रामाण्य विचार

यहाँ बौद्धों का कथन है कि तर्क तो प्रमाण ही नहीं है । तब तर्क के कारण और स्वरूप बतलाने से क्या लाभ है । वास्तव में तो दो ही प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान । यहाँ हम बौद्धों से पूछना चाहते हैं कि तर्क अप्रमाण क्यों है—गृहीतग्राही होने से अथवा विसंवादी होने से ? इनमें से प्रथम पक्ष मानना ठीक नहीं है । यदि किसी अन्य प्रमाण से व्याप्ति का ग्रहण होता हो तो व्याप्तिग्राहक तर्क को गृहीतग्राही माना जा सकता है ।

किन्तु व्याप्ति का ग्रहण न तो प्रत्यक्ष से होता है और न अनुमान से। साध्य-साधन में व्याप्ति का ज्ञान सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है। प्रत्यक्ष निकटवर्ती और वर्तमान वस्तु को ही विषय करता है। तब उसके द्वारा सार्वदेशिक और सार्वकालिक व्याप्ति का ज्ञान कैसे संभव है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अविचारक होने के कारण भी सकल धूम और सकल अग्नि के विषय में विचार (निश्चय) नहीं कर सकता है। अनुमान से भी व्याप्ति का ग्रहण संभव नहीं है। क्योंकि अनुमान व्याप्तिग्रहण पूर्वक होता है। तब जिस अनुमान से व्याप्तिग्रहण करेंगे उस अनुमान में भी व्याप्तिग्रहण अन्य अनुमान से होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसंग प्राप्त होता है। अत: प्रत्यक्ष और अनुमान से व्याप्तिग्रहण न हो सकने के कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि तर्क गृहीतग्राही होने से अप्रमाण है। तर्क के विषय में कोई विसंवाद भी नहीं होता है। साध्य-साधन में जो अविनाभाव सम्बन्ध है वह तर्क का विषय है। तर्क के इस विषय में कभी कोई विसंवाद नहीं होता है। अत: तर्क अपने विषय में अविसंवादी है। यदि तर्क अविसंवादी न हो तो अनुमान भी अविसंवादी नहीं हो सकता है। क्योंकि अनुमान तर्कपूर्वक होता है। प्रमाणों का अनुग्राहक होने के कारण भी तर्क में प्रामाण्य मानना आवश्यक है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा एकदेश से ज्ञात हुए साध्य-साधन सम्बन्ध को तर्क सार्वदेशिक और सार्वकालिक रूप से पुष्ट करता है। इस कारण तर्क प्रमाणों का अनुग्राहक कहा जाता है। समारोप का व्यवच्छेदक होने के कारण भी तर्क में प्रामाण्य सिद्ध होता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर तर्क में प्रामाण्य पूर्णरूप से सिद्ध हो जाता है।

अनुमान का लक्षण

साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥ १४ ॥

साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। धूम साधन है और अग्नि साध्य है। साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण ही साधन साध्य का ज्ञान कराता है। पर्वत में धूम को देखकर वहाँ अग्नि का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है। अविनाभाव शब्द का अर्थ है—साध्य के बिना साधन का न होना। अविनाभाव को

अन्यथानुपपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्व भी कहते हैं । साधन और हेतु ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं ।

हेतु का लक्षण

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥ १५ ॥

साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है उसे हेतु कहते हैं । अग्नि के साथ धूम का अविनाभाव तर्क प्रमाण के द्वारा निश्चित हो जाता है । अतः धूम को हेतु कहते हैं । धूम के द्वारा पर्वत में अग्नि को सिद्ध किया जाता है । इसलिए अग्नि साध्य है । यह तो पहले ही बतलाया जा चुक है कि साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बन्ध होता है ।

त्रैरूप्य निरास

पूर्वपक्ष—

बौद्ध त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानते हैं । वे कहते हैं कि हेतु के तीन रूप (तीन विशेषतायें) होते हैं जो इस प्रकार हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व । हेतु को पक्ष में रहना चाहिए, सपक्ष में भी रहना चाहिए, किन्तु विपक्ष में कभी नहीं रहना चाहिए । 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्वात्' । यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होने से । इस अनुमान में पर्वत पक्ष है, महानस (भोजनशाला) सपक्ष है और नदी विपक्ष है । बौद्धन्याय में हेतु के तीन रूप होने से हेत्वाभास भी तीन होते हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक । पक्षधर्मत्व के द्वारा असिद्ध का, सपक्षसत्त्व के द्वारा विरुद्ध का और विपक्षासत्त्व के द्वारा अनैकान्तिक हेत्वाभास का निराकरण किया जाता है । इस प्रकार त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानना आवश्यक है । ऐसा बौद्धों का मत है ।

उत्तरपक्ष—

बोद्धों का उक्त कथन समीचीन नहीं है । पदार्थके असाधारण स्वभाव को लक्षण कहते हैं, जैसे कि अग्नि का लक्षण उष्णता है । त्रैरूप्य में असाधारणता नहीं है । क्योंकि यह हेतु और हेत्वाभास दोनों में पाया जाता है । यह सत्य है कि धूम हेतु में पक्षधर्मत्वादि तीनों रूप पाये जाते हैं, किन्तु हेत्वाभास में भी ये तीन रूप देखे जाते हैं । किसी ने कहा—'बुद्धोऽसर्वज्ञः

वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवत्' । बुद्ध असर्वज्ञ हैं, वक्ता होने से, रथ्यापुरुष (सामान्य पुरुष) की तरह । इस अनुमान में वक्तृत्व हेतु हेत्वाभास होने के कारण बुद्ध में असर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं कर पाता है । बौद्ध भी बुद्ध को असर्वज्ञ नहीं मानते हैं । वक्तृत्व हेतु में पक्षधर्मत्वादि तीनों रूप विद्यमान होने पर भी यह हेतु बुद्ध में असर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं कर सकता है । क्योंकि इसका साध्य के साथ अविनाभाव नहीं है । इसके विपरीत जिस हेतु में साध्य के साथ अविनाभाव है, किन्तु पक्षधर्मत्वादि तीन रूप नहीं हैं वह भी अपने साध्य का गमक होता है । जैसे 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्'— एक मुहूर्त के बाद शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका नक्षत्र का उदय है । यहाँ कृत्तिकोदय रूप हेतु में पक्षधर्मत्वादि तीन रूप नहीं रहते हैं, फिर भी यह हेतु अपने साध्य की सिद्धि करता है । उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि जिस हेतु का अपने साध्य के साथ अविनाभाव है उसमें तीन रूप मानने से क्या लाभ है ? और जिस हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव नहीं है उसमें भी तीन रूप होने का कोई लाभ नहीं है । अर्थात् दोनों ही स्थितियों में पक्षधर्मत्वादि तीन रूपों का होना व्यर्थ ही है । कहा भी है—**अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।**

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥

असिद्ध आदि तीन हेत्वाभासों के निराकरण के लिए भी पक्षधर्मत्वादि तीन रूपों का मानना आवश्यक नहीं है । क्योंकि असिद्ध आदि तीन हेत्वाभासों का निराकरण तो साध्य-साधन में अविनाभाव होने से ही हो जाता है । इस प्रकार बौद्धों के द्वारा अभिमत त्रैरूप्य हेतु का लक्षण सिद्ध नहीं होता है ।

पाञ्चरूप्य निरास

नैयायिक पाञ्चरूप्य को हेतु का लक्षण मानते हैं । वे कहते हैं कि हेतु के पाँच रूप होते हैं जो इस प्रकार हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व । इनमें से प्रथम तीन रूप तो वही हैं जो बौद्धों ने माने हैं । यहाँ दो रूप नये हैं । अबाधितविषयत्व का मतलब यह है कि हेतु का जो विषय (साध्य) है उसे किसी प्रमाण से बाधित नहीं होना चाहिए । कोई कहता है कि अग्नि अनुष्ण है, द्रव्य होने

से, जल की तरह । यहाँ द्रव्यत्व हेतु अग्नि में अनुष्णत्व को सिद्ध नहीं कर सकता है । क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष से अग्नि में अनुष्णत्व बाधित हो जाता है । अत: यह आवश्यक है कि हेतु का विषय अबाधित हो, तभी वह हेतु साध्य की सिद्धि करता है । असत्प्रतिपक्षत्व का तात्पर्य यह है कि इस हेतु का जो साध्य है उसके प्रतिपक्षभूत (विरोधी) साध्य को सिद्ध करने वाला कोई दूसरा हेतु नहीं होना चाहिए । जैसे एक व्यक्ति ने कहा—'अनित्य: शब्द: नित्यधर्मानुपलब्धे: घटवत्'—शब्द अनित्य है, नित्य धर्म की अनुपलब्धि होने से, घट की तरह । ऐसा सुनकर दूसरा व्यक्ति कहता है—'नित्य: शब्द: अनित्यधर्मानुपलब्धे:'—शब्द नित्य है, अनित्य धर्म की अनुपलब्धि होने से, आत्मा की तरह । यहाँ नित्यधर्मानुपलब्धिरूप हेतु शब्द में अनित्यत्व सिद्ध नहीं कर सकता है, क्योंकि इसका प्रतिपक्षभूत अनित्यधर्मानुपलब्धिरूप हेतु विद्यमान है । अत: यह आवश्यक है कि एक हेतु का प्रतिपक्षभूत कोई दूसरा हेतु न हो, तभी वह हेतु साध्य की सिद्धि कर सकता है । हेतु के पाँच रूप होते हैं और इन रूपों के अभाव में क्रमश: असिद्ध, विरूद्ध, अनैकान्तिक, कालात्यापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास होते हैं । इसलिए जिस हेतु में उक्त पाँचों रूप पाये जाते हैं वही अपने साध्य का साधक होता है । ऐसा नैयायिकों का मत है ।

नैयायिकों का उक्त मत सर्वथा असमीचीन है । पहले बौद्धाभिमत त्रैरूप्य का निराकरण हो चुका है । यहाँ विचारणीय बात यह है कि जब त्रैरूप्य हेतु का लक्षण सिद्ध नहीं होता है तब पाञ्चरूप्य हेतु का लक्षण कैसे हो सकता है । जैसे जिस व्यक्ति के पास १० रुपया नहीं हैं उसके पास १०० रुपया होने की संभावना कैसे की जा सकती है । अत: त्रैरूप्य के निराकरण से ही पाञ्चरूप्य का भी निराकरण हो जाता है । साध्य के साथ अविनाभाव को छोड़कर अबाधितविषयत्व आदि हेतु का अन्य कोई रूप संभव ही नहीं है । यथार्थ बात यह है कि अविनाभाव ही हेतु का एकमात्र निर्दोष लक्षण है, त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य नहीं । जहाँ अविनाभाव है वहाँ पाञ्चरूप्य के न होने पर भी हेतु अपने साध्य की सिद्धि करता है । अत: अविनाभाव को ही हेतु का निर्दोष लक्षण मानना चाहिए । पाञ्चरूप्य की कल्पना करने से क्या लाभ है । कहा भी है—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ॥

इस प्रकार नैयायिकों के द्वारा अभिमत पाञ्चरूप्य हेतु का लक्षण सिद्ध नहीं होता है ।

अविनाभाव का लक्षण

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥ १६ ॥

सहभावनियम और क्रमभावनियम को अविनाभाव कहते हैं । कुछ साधन और साध्यों में सहभावनियम होता है और कुछ में क्रमभावनियम होता है ।

सहभाव कहाँ होता है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

सहचारिणोः व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥ १७ ॥

सहभाव का अर्थ है साथ साथ रहना । सहभावनियम उस साधन और साध्य में होता है जो सदा साथ साथ रहते हैं । जैसे रूप और रस सहचारी हैं । जब हम आमके पीले रूप को देखकर मीठे रस का अनुमान करते हैं तो यहाँ रूप और रस में सहभावनियम पाया जाता है । इसी प्रकार सहभावनियम उस साधन और साध्य में भी होता है जो व्याप्य और व्यापक हैं । जैसे शिंशपा (शीशम) और वृक्ष । शिंशपा व्याप्य है और वृक्ष व्यापक है । जब हम शिंशपा को देखकर उसमें वृक्ष का अनुमान करते हैं तो यहाँ शिंशपा और वृक्ष में सहभावनियम रहता है । इस प्रकार सहचारी साधन और साध्य में तथा व्याप्य और व्यापक रूप साधन और साध्य में सहभावनियमरूप अविनाभाव होता है ।

क्रमभावनियम कहाँ होता है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥ १८ ॥

क्रमभाव का अर्थ है क्रम से होना । क्रमभावनियम उस साधन और साध्य में होता है जो पूर्वचर और उत्तरचर हैं । जैसे कृत्तिकोदय और शकटोदय । जब हम कृत्तिका नक्षत्र के उदय को देखकर शकट नक्षत्र के उदय का अनुमान करते हैं तो यहाँ कृत्तिकोदय और शकटोदय में क्रमभावनियम पाया जाता है । इसी प्रकार कार्य और कारण में भी

क्रमभावनियम होता है । जैसे अग्नि और धूम में क्रमभावनियम है । धूम कार्य है और अग्नि कारण है । जब हम धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं तो यहाँ धूम और अग्नि में क्रमभावनियम रहता है । अग्नि से धूम उत्पन्न होता है । पहले अग्नि होती है फिर उससे धूम उत्पन्न होता है । यही इनमें क्रमभाव है । इस प्रकार पूर्वचर और उत्तरचर साधन और साध्य में तथा कार्य और कारण रूप साधन और साध्य में क्रमभावनियमरूप अविनाभाव होता है ।

अविनाभाव का निर्णय कैसे होता है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

तर्कात् तन्निर्णयः ॥ १९ ॥

अविनाभाव का निर्णय तर्क प्रमाण से होता है । किस किस साधन और साध्य में अविनाभाव है इस बात का ज्ञान तर्क प्रमाण द्वारा होता है । प्रत्यक्षादि अन्य किसी प्रमाण से अविनाभाव का निर्णय संभव नहीं है, इस बात को पहले बतला चुके हैं ।

साध्य का लक्षण

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥ २० ॥

इष्ट, अबाधित और असिद्ध को साध्य कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि जो वादी को इष्ट है वही साध्य होता है, अनिष्ट नहीं । इसी प्रकार जो प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से बाधित न हो वह साध्य होता है । तथा जो अभी तक सिद्ध न हो वह साध्य होता है । सिद्ध वस्तु को साध्य नहीं बनाया जाता है, किन्तु असिद्ध को सिद्ध किया जाता है । इस प्रकार साध्य के लक्षण में इष्ट, अबाधित और असिद्ध ये तीन विशेषण दिये गये हैं ।

असिद्ध विशेषण की सार्थकता

सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥ २१ ॥

सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न अर्थों में साध्यत्व बतलाने के लिए असिद्ध पद (विशेषण) दिया गया है । यह स्थाणु है अथवा पुरुष है, इस प्रकार चलित प्रतिपत्ति (दोलायमान ज्ञान) के विषयभूत अर्थ को सन्दिग्ध कहते हैं । शुक्तिका में रजत का ज्ञान करानेवाले विपर्यय ज्ञान के विषयभूत

अर्थ को विपर्यस्त कहते हैं । और जिस अर्थ का स्वरूप ठीक से निश्चित न हो वह अर्थ अव्युत्पन्न कहलाता है । जैसे मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को तृणस्पर्श होने पर 'यह क्या है', ऐसा अनध्यवसायरूप ज्ञान होता है । ऐसे ज्ञान के विषयभूत अर्थ को अव्युत्पन्न कहते हैं । निष्कर्ष यह है कि जो अर्थ सन्दिग्ध हो, विपर्यस्त हो और अव्युत्पन्न हो उसको सिद्ध करने के लिए साधन का प्रयोग किया जाता है ।

इष्ट और अबाधित विशेषण की सार्थकता

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं माभूदितीष्टाबाधितवचनम् ॥ २२ ॥

अनिष्ट और अध्यक्षादि (प्रत्यक्षादि) से बाधित अर्थ में साध्यत्व न हो जाय इस बात को बतलाने के लिए इष्ट और अबाधित विशेषण का प्रयोग किया गया है । जिस व्यक्ति को शब्द में नित्यत्व अनिष्ट है वह शब्द में नित्यत्व सिद्ध नहीं करेगा । साध्य को प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होना चाहिए । जो साध्य प्रत्यक्षादि से बाधित है वह साध्य नहीं हो सकता है । साध्य में बाध्यत्व कई प्रकार से होता है । जैसे प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, आगमबाधित, स्ववचनबाधित और लोकबाधित । शब्द में अश्रावणत्व (जो कान से न सुना जाय) सिद्ध करना प्रत्यक्षबाधित है । क्योंकि श्रावणप्रत्यक्ष से यह सिद्ध होता है कि शब्द श्रावण है, अश्रावण नहीं । अतः साध्य को इष्ट और अबाधित कहने से यह सिद्ध होता है कि जो अनिष्ट है और प्रत्यक्षादि से बाधित है वह साध्य नहीं हो सकता है ।

साध्य के लक्षण में इष्ट विशेषण किसके लिए है और असिद्ध विशेषण किसके लिए है, इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥ २३ ॥

असिद्ध की तरह इष्ट विशेषण प्रतिवादी के लिए नहीं है । अर्थात् असिद्धविशेषण प्रतिवादी के लिए है और इष्ट विशेषण वादी के लिए है । वादी उसी को सिद्ध करता है जो उसे इष्ट होता है । इसी प्रकार साध्य उसीको बनाया जाता है जो प्रतिवादी को असिद्ध हो । वादी को तो वह सिद्ध होता है । इसीलिए वह प्रतिवादी के लिए असिद्ध साध्य की सिद्धि करता है ।

इष्ट विशेषण वादी के लिए क्यों कहा गया है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥ २४ ॥

अपने को अभिप्रेत अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा वक्ता को ही होती है और इच्छा का जो विषय होता है वह इष्ट कहलाता है । अर्थात् वक्ता (वादी) उसी विषय का प्रतिपादन करता है जो उसे इष्ट होता है । यह दूसरी बात है कि वादी जिस विषय को प्रतिवादी के लिए सिद्ध करता है वह विषय प्रतिवादी को इष्ट भी हो सकता है और अनिष्ट भी । अतः इष्ट विशेषण वादी के लिए है, प्रतिवादी के लिए नहीं ।

अब यह बतलाना है कि कहीं साध्य धर्म होता है और कहीं धर्मी—

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥ २५ ॥

कहीं धर्म साध्य होता है और कहीं धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है । व्याप्ति काल में धर्म (अग्नि) साध्य होता है । जब हम 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है', इस प्रकार से व्याप्ति का ग्रहण करते हैं तब वहाँ धर्म साध्य होता है । और जब हम 'पर्वत में अग्नि है, धूम होने से' इस प्रकार अनुमान का प्रयोग करते हैं तब धर्मविशिष्ट धर्मी (अग्निविशिष्ट पर्वत) साध्य होता है ।

अब यह बतलाया जा रहा है कि पक्ष धर्मी का पर्यायवाची शब्द है—

पक्ष इति यावत् ॥ २६ ॥

पक्ष धर्मी का ही दूसरा नाम है । धर्मी और पक्ष दोनों ही पर्यायवाची शब्द हैं । जहाँ साध्य को सिद्ध किया जाता है वह पक्ष कहलाता है । जैसे पर्वत में अग्नि को सिद्ध करते समय पर्वत पक्ष होता है । जिसमें धर्म रहता है वह धर्मी कहलाता है । पर्वत में अग्निरूप धर्म रहता है इसलिए उसे धर्मी कहते हैं ।

धर्मी प्रसिद्ध होता है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

प्रसिद्धो धर्मी ॥ २७ ॥

धर्मी वादी और प्रतिवादी सबके लिए प्रसिद्ध होता है, जैसे पर्वत रूप धर्मी सबके लिए प्रसिद्ध है । इस प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए । धर्मी

की प्रसिद्धि तीन प्रकार से होती है—कहीं विकल्प से, कहीं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से और कहीं दोनों से ।

विकल्पसिद्ध धर्मी में साध्य क्या होता है ?

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ॥ २८ ॥

विकल्पसिद्ध धर्मी में सत्ता और असत्ता साध्य होती हैं । जिस धर्मी का किसी प्रमाण से न तो अस्तित्व सिद्ध होता है और न नास्तित्व सिद्ध होता है उसे विकल्पसिद्ध धर्मी कहते हैं । जहाँ धर्मी विकल्प सिद्ध होता है वहाँ किसी का अस्तित्व और किसी का नास्तित्त्व सिद्ध किया जाता है । इसी बात को उदाहरण द्वारा बतलाते हैं—

अस्ति सर्वज्ञः नास्ति खरविषाणमिति ॥ २९ ॥

सर्वज्ञ है और खरविषाण (गधे का सींग) नहीं है) यहाँ सर्वज्ञ और खरविषाण विकल्पसिद्ध धर्मी हैं । इनकी सिद्धि किसी प्रमाण से न होकर विकल्प (मनोविकल्प) से होती है । यहाँ सर्वज्ञ का अस्तित्व (सत्ता) और खरविषाण का नास्तित्व (असत्ता) सिद्ध किया जाता है । हम कहते हैं कि सर्वज्ञ है, क्योंकि उसमें बाधक प्रमाणों का अभाव सुनिश्चित है । इसी प्रकार हम कहते हैं कि खरविषाण नहीं है, क्योंकि दृश्य होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती है । इस प्रकार उक्त हेतुओं के द्वारा सर्वज्ञ की सत्ता और खरविषाण की असत्ता सिद्ध की जाती है ।

प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में साध्य क्या होता है ?

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ॥ ३० ॥

प्रमाणसिद्ध धर्मी में तथा उभयसिद्ध धर्मी में साध्यधर्म-विशिष्टता साध्य होती है । अर्थात् प्रमाण सिद्ध धर्मी में तथा उभयसिद्ध धर्मी में यह सिद्ध किया जाता है कि यह धर्मी साध्य धर्म से विशिष्ट (सहित) है । इसी बात को उदाहरण द्वारा बतलाते हैं—

अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ॥ ३१ ॥

जैसे यह देश अग्निमान् है और शब्द परिणामी है । यह देश प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध धर्मी है और शब्द उभयसिद्ध धर्मी है । श्रूयमाण शब्द तो श्रावणप्रत्यक्षसिद्ध धर्मी है किन्तु अन्य देश और अन्य काल में होने वाला शब्द विकल्पसिद्ध धर्मी है । इसलिए शब्द को उभयसिद्ध धर्मी कहा गया

है । इन दोनों धर्मियों में साध्यधर्मविशिष्टता साध्य होती है । अर्थात् यहाँ धर्मी में साध्यधर्म को सिद्ध किया जाता है । जैसे इस देश में अग्निमत्व को सिद्ध किया जाता है और शब्द में परिणामित्व (अनित्यत्व) को सिद्ध किया जाता है ।

व्याप्तिकाल में साध्य क्या होता है ?

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥ ३२ ॥

व्याप्तिकाल में तो साध्य धर्म ही होता है, साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी नहीं । जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, इस प्रकार से व्याप्तिज्ञान करते समय अग्निरूप धर्म ही साध्य होता है ।

व्याप्तिकाल में धर्मविशिष्ट धर्मी को साध्य मानने में क्या हानि है ?

अन्यथा तदघटनात् ॥ ३३ ॥

यदि व्याप्तिकाल में धर्मविशिष्ट धर्मी को साध्य माना जाय तो व्याप्ति नहीं बन सकती है । जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्निविशिष्ट पर्वत होता है, ऐसी व्याप्ति कभी नहीं होती है । अत: व्याप्तिकाल में धर्म ही साध्य होता है ।

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि अनुमान करते समय पक्ष का वचन अनावश्यक है । पक्ष तो वहाँ गम्यमान होता है । अर्थात् जब कोई कहता है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है और यहाँ धूम है, ऐसा कहने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि कोई प्रदेश अग्निमान् अवश्य है और जो प्रदेश अग्निमान् है वही पक्ष है । अत: पक्ष का वचन अनर्थक है ।

बौद्धों का उक्त कथन अनुचित है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं ।

पक्ष वचन की आवश्यकता

साध्यधर्माधार सन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥ ३४ ॥

यद्यपि अनुमान के प्रयोग में पक्ष गम्यमान होता है, तथापि साध्यधर्म के आधार में होने वाले सन्देह को दूर करने के लिए गम्यमान पक्ष का भी वचन आवश्यक है । साध्यधर्म का आधार क्या है ? अग्नि कहाँ है, पर्वत में या अन्यत्र ? ऐसा सन्देह होना स्वाभाविक है । अत: इस सन्देह को दूर

करने के लिए पक्ष का वचन आवश्यक है । इसी बात को उदाहरण द्वारा समझाते हैं—

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ॥ ३५ ॥

जैसे साध्यधर्मी (पर्वत) में साधनधर्म (धूम) के ज्ञान को कराने के लिए पक्षधर्म का उपसंहार किया जाता है । यहाँ पक्ष धर्म के उपसंहार का मतलब उपनय के प्रयोग से है । तात्पर्य यह है कि अनुमान के अंग या अवयव पाँच होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन । पर्वत में अग्नि है, यह प्रतिज्ञा है । धूमवान् होने से, यह हेतु है । जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, जैसे महानस, यह उदाहरण है । पर्वत में धूम है, यह उपनय है । इसलिए पर्वत में आग है, यह निगमन है । पर्वत में धूम है, ऐसा उपसंहार हम इसलिए करते हैं जिससे पर्वत में धूम होने की पुष्टि हो जावे । अन्यथा पर्वत धूमवान् है ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं । फिर उपनय के कथन की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार यदि हम पक्ष का प्रयोग नहीं करेंगे तो मन्दबुद्धिवालों को साध्यधर्म के आधार का ठीक से ज्ञान नहीं होगा । शास्त्र में प्रतिज्ञा का प्रयोग देखा ही जाता है, जैसे 'अग्निरत्र धूमात्'—यहाँ अग्नि है, धूम होने से । इसी प्रकार वाद के काल में भी पक्ष का प्रयोग मानना आवश्यक है ।

बौद्धों का उपहास करते हुए आचार्य इसी बात का समर्थन करते हैं—

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो वा न पक्षयति ॥ ३६ ॥

ऐसा कौनसा प्रामाणिक पुरुष है जो कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि के भेद से अथवा पक्षधर्मत्वादि तीन रूपों के भेद से हेतु को तीन प्रकार का बतलाकर और उसका समर्थन करते हुए भी पक्ष का प्रयोग न करे ।

बौद्धन्याय में हेतु तीन प्रकार का है । बौद्ध साध्य की सिद्धि के लिए पहले हेतु का प्रयोग करता है और फिर उसका समर्थन करता है । समर्थन करने का मतलब है हेतु को निर्दोष सिद्ध करना । यहाँ हम बौद्धों से कह सकते हैं कि हेतु का प्रयोग न करके केवल उसका समर्थन कर दीजिए । इतने से ही काम चल जायेगा । अत: हेतु का वचन व्यर्थ है । इस पर बौद्ध का उत्तर यह होगा कि हेतु के कथन के बिना हम किसका समर्थन करेंगे ? पहले हेतु का वचन आवश्यक है तभी उसका समर्थन हो सकता

है । बौद्धों के उक्त कथन से तो हमारा अभीष्ट सिद्ध हो जाता है । हम भी कह सकते हैं कि पक्ष के वचन के बिना कोई यह कैसे जानेगा कि साध्य का आधार क्या है ? अतः हेतु के वचन की तरह पक्ष का वचन भी आवश्यक है ।

नैयायिकों ने अनुमान के पाँच अंग माने हैं, किन्तु जैनों ने पक्ष और हेतु ये दो ही अंग माने हैं । इसी बात को यहाँ बतलाया जा रहा है—

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥ ३७ ॥

पक्ष और हेतु ये दो ही अनुमान के अंग हैं, उदाहरण अनुमान का अंग नहीं है । जैनन्याय में पक्ष और हेतु इन दो को ही अनुमान का अंग माना गया है । यहाँ उदाहरण आदि तीन अनुमान के अंग नहीं है । जो लोग उदाहरण को अनुमान का अंग मानते हैं उनसे यहाँ तीन विकल्प करके पूछा जा सकता है—(१) क्या साध्य की प्रतिपत्ति के लिए (२) हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव का निश्चय करने के लिए अथवा (३) व्याप्ति के स्मरण के लिए उदाहरण का प्रयोग किया जाता है । इनमें से प्रथम विकल्प का निराकरण करने के लिए सूत्र कहते हैं—

न हि तत् साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ॥ ३८ ॥

उदाहरण साध्य की प्रतिपत्ति का कारण नहीं है । अर्थात् उदाहरण के प्रयोग से साध्य की प्रतिपत्ति नहीं होती है । क्योंकि साध्य की प्रतिपत्ति में तो साध्य के साथ अविनाभावी हेतु का ही व्यापार होता है । तात्पर्य यह है कि साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले हेतु के प्रयोग से ही साध्य की प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाती है ।

द्वितीय विकल्प का निराकरण करने के लिए सूत्र कहते हैं—

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ॥ ३९ ॥

इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति होती है । हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव का निश्चय करने के लिए उदाहरण के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि विपक्ष में बाधक प्रमाण से ही अविनाभाव का निश्चय हो जाता है । हेतु को विपक्ष में नहीं रहना चाहिए । अर्थात् साध्य के अभाव में हेतु को नहीं रहना चाहिए । अतः यह हेतु विपक्ष में नहीं रहता है, ऐसा निश्चय हो जाने से ही हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव

का निश्चय हो जाता है । इसके लिए उदाहरण के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है ।

इसी विषय में और भी तर्क देते हुए सूत्र कहते हैं—

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिः तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥ ४० ॥

उदाहरण व्यक्तिरूप होता है और व्याप्ति सकल देश और सकल-कालवर्ती साध्य साधन को विषय करने के कारण सामान्यरूप होती है । धूम से अग्नि को सिद्ध करने में महानसादि दृष्टान्त व्यक्तिरूप होता है । अतः व्यक्तिरूप दृष्टान्त साध्य-साधन में सामान्यरूप व्याप्ति का निश्चय कैसे करा सकता है ? क्योंकि व्यक्तिरूप दृष्टान्त में भी व्याप्ति के विषय में विवाद होने पर अन्य दृष्टान्त की अपेक्षा होगी और उसमें भी अन्य दृष्टान्त की अपेक्षा होगी ? इस प्रकार अनवस्था दोष का समागम होगा । इसलिए व्यक्तिरूप उदाहरण साध्य-साधन में अविनाभाव का निश्चय नहीं करा सकता है ।

तृतीय विकल्प का निराकरण करने के लिए सूत्र कहते हैं—

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव व्याप्तिस्मृतेः ॥ ४१ ॥

व्याप्ति के स्मरण कराने के लिए भी उदाहरण का प्रयोग अनुपयोगी है । क्योंकि साध्य-साधन में जो व्याप्ति है उसका स्मरण तो साध्य के साथ अविनाभावी हेतु के प्रयोग से ही हो जाता है ।

केवल उदाहरण के प्रयोग से लाभ के स्थान में हानि की ही संभावना रहती है, इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ॥ ४२ ॥

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ॥ ४३ ॥

केवल उदाहरण का प्रयोग साध्यधर्मी (पक्ष) में साध्य को सिद्ध करने में सन्देह उत्पन्न करता है । यदि ऐसा न होता तो उदाहरण के बाद उपनय और निगमन के कथन की क्या आवश्यकता है । तात्पर्य यह है कि उक्त सन्देह को दूर करने के लिए ही उदाहरण के बाद उपनय और निगमन का प्रयोग किया जाता है ।

अब यह बतलाते हैं कि उपनय और निगमन भी अनुमान के अंग नहीं हैं—

न च ते तदङ्गे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ॥ ४४ ॥

उपनय और निगमन भी अनुमान के अंग नहीं हैं । क्योंकि साध्यधर्मी में हेतु और साध्य के वचन से ही किसी प्रकार का संशय नहीं रहता है । जब हम पक्ष में अविनाभावी हेतु और साध्य का प्रयोग करते हैं तो इतने मात्र से ही सब प्रकार का सन्देह दूर हो जाता है ।

अन्त में आचार्य बौद्धों के लिए कहते हैं—

समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वा अस्तु साध्ये तदुपयोगात् ॥ ४५ ॥

समर्थन को ही हेतु का श्रेष्ठ रूप (लक्षण) अथवा अनुमान का अंग मान लीजिए । क्योंकि साध्य को सिद्ध करने में उसी का उपयोग होता है । समर्थन का मतलब है—हेतु में असिद्ध आदि दोषों का परिहार करके अपने साध्य के साथ उसका अविनाभाव सिद्ध करना । बौद्ध हेतु का प्रयोग करने के बाद उसका समर्थन करते हैं । इसलिए यहाँ बौद्धों से ऐसा कहा है कि समर्थन को ही हेतु का रूप तथा अनुमान का अवयव मान लीजिए ।

जैनन्याय की दृष्टि में उदाहरण, उपनय और निगमन ये तीनों अनुमान के अंग नहीं हैं । इतना अवश्य है कि न्यायशास्त्र में जो व्युत्पन्न नहीं हैं उन्हें समझाने के लिए उदाहरण आदि का प्रयोग किया जा सकता है । इसी बात को निम्नलिखित सूत्र में बतलाया गया है—

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥ ४६ ॥

जो न्यायशास्त्र में बाल (अव्युत्पन्न) हैं उन्हें ज्ञान कराने के लिए उदाहरण, उपनय और निगमन का प्रयोग शास्त्र (वीतरागकथा) में ही स्वीकार किया गया है । किन्तु वाद (विजिगीषुकथा) में उनका प्रयोग अनुपयोगी है । क्योंकि वाद व्युत्पन्न व्यक्तियों में ही होता है । अतः उनके लिए पक्ष और हेतु का प्रयोग ही पर्याप्त है । उनके लिए उदाहरण आदि के प्रयोग की कोई आवश्यकता ही नहीं है ।

दृष्टान्त के भेद

दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥ ४७ ॥

दृष्टान्त दो प्रकार का है—अन्वयदृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त ।

अन्वयदृष्टान्त का स्वरूप—

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ॥ ४८ ॥

साध्य से व्याप्त साधन जहाँ प्रदर्शित किया जाता है वह अन्वयदृष्टान्त कहलाता है । जैसे अग्नि और धूम की व्याप्ति बतलाने में महानस अन्वयदृष्टान्त है । अन्वयदृष्टान्त का आकार इस प्रकार होता है—जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, जैसे महानस ।

व्यतिरेकदृष्टान्त का स्वरूप—

साध्याभावे साधनव्यतिरेको यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥ ४९ ॥

साध्य के अभाव में जहाँ साधन का अभाव बतलाया जाता है वह व्यतिरेक दृष्टान्त कहलाता है । व्यतिरेकदृष्टान्त का आकार इस प्रकार होता है—जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं होता है, जैसे महाह्रद ।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि दृष्टान्त और उदाहरण में क्या भेद है । किसी स्थान या वस्तु का नाम दृष्टान्त है । जैसे महानस और महाह्रद दृष्टान्त हैं । किन्तु दृष्टान्त को बतलाने के लिए जो वचन बोला जाता है वह उदाहरण कहलाता है । जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, जैसे महानस । इस प्रकार का वाक्य प्रयोग उदाहरण कहलाता है । दृष्टान्त वाच्य है और उदाहरण वाचक है ।

उपनय का स्वरूप

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥ ५० ॥

पक्ष में हेतु के उपसंहार (दुहराना) करने को उपनय कहते हैं । जैसे इस पर्वत में धूम है, ऐसा कहना उपनय है । अग्नि के अनुमानकाल में हेतु का प्रयोग करते समय यह बतला दिया जाता है कि पर्वत धूमवान् है । उपनय में उसी बात को फिर दुहराया जाता है ।

निगमन का स्वरूप

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥ ५१ ॥

प्रतिज्ञा के उपसंहार को निगमन कहते हैं । जैसे यह पर्वत अग्निमान्

है, ऐसा कहना निगमन है । अग्नि के अनुमानकाल में पहले ही यह बतला दिया जाता है कि पर्वत अग्निमान् है । इसी का नाम प्रतिज्ञा है । निगमन में उसी बात को फिर दुहराया जाता है ।

अनुमान के भेद

तदनुमानं द्वेधा ॥ ५२ ॥ स्वार्थपरार्थभेदात् ॥ ५३ ॥

जिस अनुमान का स्वरूप पहले बतलाया गया है उसके दो भेद हैं— स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । अपने लिए जो अनुमान किया जाता है वह स्वार्थानुमान है और पर के लिए जो अनुमान होता है वह परार्थानुमान है । ऐसा इन शब्दों का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है ।

स्वार्थानुमान का लक्षण

स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥ ५४ ॥

स्वार्थनुमान का लक्षण पहले बतला चुके हैं । अर्थात् पहले सूत्र संख्या १४ में बतलाया गया है कि साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं । यही स्वार्थानुमान है ।

परार्थानुमान का लक्षण

परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ॥ ५५ ॥

स्वार्थानुमान के विषयभूत अर्थ का परामर्श करने वाले वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं । स्वार्थानुमान का विषय है—साध्य और साधन । परार्थानुमान में भी पर को साधन से साध्य का ज्ञान कराया जाता है, किन्तु वह साध्य और साधन का परामर्श (विचार) करने वाले वचनों को बोलकर कराया जाता है । तात्पर्य यह है कि स्वार्थानुमान स्वयं के लिए होता है । इसलिए उसमें वचन प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती है । किन्तु परार्थानुमान पर को समझाने के लिए किया जाता है, इसलिए वहाँ वचनों का प्रयोग आवश्यक है ।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि अनुमान तो ज्ञानरूप होता है । तब परार्थानुमान को वचनरूप क्यों कहा ? इस शंका का उत्तर देने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥ ५६ ॥

ज्ञानरूप मुख्य अनुमान में हेतु होने के कारण स्वार्थानुमान के विषय को परामर्श करने वाले वचनों को भी उपचार से परार्थानुमान कहा गया है । अर्थात् वचन प्रयोग के बिना पर को परार्थानुमान नहीं हो सकता है । अत: वहाँ वचन का प्रयोग आवश्यक है । वचन के प्रयोग से ही पर को ज्ञानात्मक अनुमान उत्पन्न होता है । यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके वचन को परार्थानुमान कह दिया है । वास्तव में वचन अनुमान नहीं हैं, किन्तु अनुमान के कारण अवश्य हैं ।

हेतु के भेद

स हेतुर्द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥ ५७ ॥

पहले (सूत्र संख्या १५ में) जिस हेतु का लक्षण बतला आये हैं वह हेतु उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से दो प्रकार का है ।

उपलब्धि और अनुपलब्धि हेतु की विशेषता

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥ ५८ ॥

उपलब्धि विधिसाधक और प्रतिषेधसाधक दोनों होती है । इसी प्रकार अनुपलब्धि भी विधिसाधक और प्रतिषेधसाधक दोनों होती है । विधिसाधक का मतलब है—किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करने वाली और प्रतिषेधसाधक का मतलब है—किसी वस्तु की असत्ता को सिद्ध करने वाली । कुछ लोग मानते हैं कि उपलब्धि केवल विधिसाधक है तथा अनुपलब्धि केवल प्रतिषेधसाधक है । किन्तु ऐसा है नहीं । यहाँ बतलाया गया है कि उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों ही विधिसाधक भी हैं और प्रतिषेधसाधक भी ।

उपलब्धि के दो भेद हैं—अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि । इनमें से अविरुद्धोपलब्धि विधिसाधक है और विरुद्धोपलब्धि प्रतिषेधसाधक है ।

विधिसाधक अविरुद्धोपलब्धि के भेद

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचर-भेदात् ॥ ५९ ॥

विधिसाधक अविरुद्धोपलब्धि के व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर के भेद से छह भेद हैं । यहाँ अविरुद्धव्याप्योपलब्धि, अविरुद्धकार्योपलब्धि इत्यादि प्रकार से छह नाम समझ लेना चाहिए ।

यहाँ बौद्धों की आशंका है कि कार्य से कारण का अनुमान करना तो ठीक है किन्तु कारण के द्वारा कार्य का अनुमान नहीं किया जा सकता है । क्योंकि कारण का कार्य के साथ अविनाभाव नहीं है । कोई भी यह नहीं कह सकता है कि जहाँ कारण है वहाँ कार्य अवश्य होगा । इस आशंका के उत्तर में आचार्य सूत्र कहते हैं—

रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित् कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ॥ ६० ॥

आस्वाद्यमान रससे उसकी एक सामग्री (उत्पादक सामग्री) का अनुमान किया जाता है और उससे रूप का अनुमान होता है । ऐसा मानने वाले बौद्धों को कोई कारण हेतु इष्ट ही है, जिसमें सामर्थ्य का प्रतिबन्ध न हो और कारणान्तरों की विकलता न हो ।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—रात्रि के अन्धकार में कोई व्यक्ति आम्रफल का मीठा रस चख रहा है । इससे वह मीठे रस की जनक सामग्री का अनुमान करता है । वह सोचता है कि यह मीठा रस पूर्व रस और पूर्व रूप से उत्पन्न हुआ है । पूर्व रस और पूर्व रूप मीठे रस की जनक सामग्री है । तदनन्तर वह अनुमान करता है कि इस फल का रूप पीला होना चाहिए । क्योंकि पूर्व रूप मीठे रस की उत्पत्ति में तभी सहकारी कारण होता है जब उसने पहले अपने पीत रूप को उत्पन्न कर दिया हो । तात्पर्य यह है कि मीठे रस की उत्पत्ति में पूर्व रस उपादान कारण है और पूर्व रूप सहकारी कारण है । इसी प्रकार पीले रूप की उत्पत्ति में पूर्व रूप उपादान कारण है और पूर्व रस सहकारी कारण है । अतः पूर्व रूपक्षण सजातीय उत्तर रूपक्षण को उत्पन्न करके ही विजातीय उत्तर रसक्षण की उत्पत्ति में सहकारी होता है । इस प्रकार यहाँ मीठे रस की जनक सामग्री के अनुमान से पीले रूप का अनुमान किया गया है जो कारण से कार्य का अनुमान है और बौद्धों को इष्ट है । इतनी बात अवश्य है कि प्रत्येक कारण से कार्य का अनुमान नहीं होता है, किन्तु जहाँ कारण की सामर्थ्य मन्त्रादि

द्वारा प्रतिबन्धित न हो और जहाँ सहकारी कारणों की विकलता न हो वहाँ कारण कार्य को अवश्य उत्पन्न करता है ।

अब यहाँ यह बतलाना है कि पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं में साध्य के साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है, फिर भी वे अपने साध्य के गमक होते हैं । इसी बात को निम्नलिखित सूत्र में बतलाया गया है—

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ॥ ६१ ॥

जो साध्य और साधन पूर्वकालवर्ती और उत्तरकालवर्ती हैं उनमें न तो तादात्म्य सम्बन्ध होता है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है । क्योंकि काल के व्यवधान में ये दोनों सम्बन्ध नहीं होते हैं ।

शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध एक कालवर्ती वस्तुओं में ही होता है । अग्नि और धूम में तदुत्पत्ति सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध अनन्तर कालवर्ती वस्तुओं में ही होता है । ऐसा नहीं है कि प्रातःकाल अग्नि हो और सायंकाल धूम हो । निष्कर्ष यह है कि पूर्वचर हेतु और उत्तरचर हेतु का साध्य के साथ काल का व्यवधान होता है । फिर भी ये हेतु अपने साध्य का ज्ञान कराते ही हैं ।

बौद्ध काल के व्यवधान में भी कार्यकारण सम्बन्ध मानते हैं । इस बात का निराकरण करने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ॥ ६२ ॥

भावी मरण और अतीत जाग्रद्बोध अरिष्ट और उद्बोध के प्रति हेतु नहीं होते हैं । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— बौद्ध मानते हैं कि आगे होने वाला मरण आज होने वाले अरिष्ट (अपशकुन) का हेतु होता है । कितनी विचित्र बात है कि एक वर्ष बाद होने वाला मरण एक वर्ष पहले हुए अरिष्ट का हेतु होता है । यहाँ काल का व्यवधान तो है ही, इसके साथ यह भी विचित्रता है कि कार्य पहले हो गया और उसका कारण बहुत समय बाद अस्तित्व में आयेगा ।

इसी प्रकार बौद्धों की एक मान्यता यह भी है कि अतीत जाग्रद्बोध (सोने से पहले का ज्ञान) उद्बोध (प्रातःकाल जागने के समय का ज्ञान) का हेतु होता है । बौद्ध मानते हैं सुप्तावस्था में ज्ञान नहीं रहता है ।

अत: सोने के पहले जो ज्ञान था वही जागने के समय के ज्ञान का हेतु होता है । यहाँ भी काल के व्यवधान में कार्यकारण सम्बन्ध माना गया है । काल के व्यवधान में कार्यकारण सम्बन्ध मानना एक बड़ी ही विचित्र और गलत बात है । बौद्धों की यह बात भी सर्वथा गलत है कि सुप्तावस्था में ज्ञान नहीं रहता है ।

यहाँ कोई कह सकता है कि भावी मरण और अरिष्ट में तथा अतीत जाग्रद्‌बोध और उद्‌बोध में कार्यकारणभाव क्यों नहीं बन सकता है ? इसका उत्तर देने के लिए सूत्र कहते हैं—

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ॥ ६३ ॥

दो वस्तुओं में कार्यकारणभाव का होना कारण के व्यापार के आश्रित है । कारण का व्यापार होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है । ऐसा संभव नहीं है कि कारण का व्यापार न हो तो भी कार्य उत्पन्न हो जाय । यहाँ तो मरणरूप कारण के व्यापार के अभाव में ही अरिष्टरूप कार्य सम्पन्न हो जाता है । इसी प्रकार जाग्रद्‌बोधरूप कारण के व्यापार के बिना ही उद्‌बोध-रूप कार्य हो जाता है । ऐसा मानना सर्वथा प्रतीति विरुद्ध है । अत: दो वस्तुओं में कार्यकारणभाव तभी बन सकता है जब पहले कारण का व्यापार हो और उसके बाद कार्य की उत्पत्ति हो ।

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात् सहोत्पादाच्च ॥ ६४ ॥

सहचारी साध्य और साधन परस्पर का परिहार करके रहते हैं । इसलिए उनमें तादत्म्य नहीं होता है । जैसे घट और पट परस्पर का परिहार करके रहते हैं । इसलिए उनमें तादात्म्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है । रस और रूप परस्पर का परिहार करके रहते हैं । इसलिए उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है । परस्पर का परिहार करके रहने का मतलब है कि रस रूप नहीं है और रूप रस नहीं है । दोनों का पृथक् अस्तित्व है । रस और रूप की उत्पत्ति एक साथ होती है । अत: इन दोनों में तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं बन सकता है । जैसे एक साथ उत्पन्न होने वाले गाय के दोनों सीगों में तदुत्पत्ति सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है । तदुत्पत्ति सम्बन्ध का नाम ही कार्यकारण सम्बन्ध है ।

अब विधिसाधक अविरुद्धोपलब्धि के छह भेदों को उदाहरण द्वारा समझाते हैं । व्याप्य हेतु का उदाहरण इस प्रकार है—

परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टः यथा घटः, कृतकश्चायं तस्मात् परिणामी । यस्तु न परिणामी स न कृतकः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायं, तस्मात् परिणामीति ॥ ६५ ॥

शब्द परिणामी है, कृतक होने से । जो कृतक होता है वह परिणामी होता है, जैसे घट । यह अन्वय दृष्टान्त है । यत· शब्द कृतक है अत: वह परिणामी है । जो परिणामी नहीं है वह कृतक भी नहीं होता है । जैसे वन्ध्या का पुत्र । यह व्यतिरेक दृष्टान्त है । यत: शब्द कृतक है अत: वह परिणामी है । यहाँ शब्द में कृतकत्व हेतु के द्वारा परिणामित्व सिद्ध किया गया है । कृतकत्व हेतु परिणामी साध्य का व्याप्य है । अत: यह विधिसाधक अविरुद्धव्याप्योपलब्धि का उदाहरण है । यहाँ परिणामी साध्य और कृतकत्व हेतु के सम्बन्ध को अन्वय और व्यतिरेक दोनों दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है ।

कार्य हेतु का उदाहरण

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ॥ ६६ ॥

इस प्राणी में बुद्धि है, क्योंकि इसमें व्याहार, व्यापार आदि पाया जाता है । व्याहार (वचन बोलना) व्यापार (हस्तादि की चेष्टा) आदि को देख कर प्राणी में बुद्धि का अनुमान किया जाता है । बुद्धि परोक्ष है । अत: बुद्धि के कार्य को देखकर बुद्धि का अनुमान होता है । बुद्धि कारण है और व्याहार आदि उसके कार्य हैं । यहाँ कार्य को देखकर उसके कारण का अनुमान किया गया है । यह विधिसाधक अविरुद्धकार्योपलब्धि का उदाहरण है ।

कारण हेतु का उदाहरण

अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥ ६७ ॥

यहाँ छाया है, छत्र के होने से । छत्र छाया का कारण है । यहाँ छत्र (कारण) को देखकर छाया (कार्य) का अनुमान किया गया है । यह विधिसाधक अविरुद्धकारणोपलब्धि का उदाहरण है ।

पूर्वचर हेतु का उदाहरण

उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥ ६८ ॥

कृत्तिका नक्षत्र का उदय शकट नक्षत्र के उदय का पूर्वचर है । शकट नाम रोहिणी नक्षत्र का है । एक मुहूर्त बाद शकट नक्षत्र का उदय होगा क्योंकि इस समय कृत्तिका नक्षत्र का उदय है । यहाँ कृत्तिका नक्षत्र के उदय को देखकर भविष्य में होने वाले शकट नक्षत्र के उदय का अनुमान किया गया है । यह विधिसाधक अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि का उदाहरण है ।

उत्तरचर हेतु का उदाहरण

उदगाद् भरणिः प्राक् तत एव ॥ ६९ ॥

एक मुहूर्त पहले भरणी नक्षत्र का उदय हो चुका है, क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय है । कृत्तिका का उदय भरणी नक्षत्र का उत्तरचर है । अतः यहाँ कृत्तिका के उदय को देखकर यह अनुमान किया गया है कि भरणी नक्षत्र का पहले उदय हो चुका है । यह विधिसाधक अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि का उदाहरण है ।

सहचर हेतु का उदाहरण

अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ॥ ७० ॥

इस मातुलिङ्ग (पपीता) में रूप है, रस होने से । रूप और रस सहचारी हैं । कोई व्यक्ति रात्रि के अन्धेरे में फल के रस को चखकर उसके रूप का अनुमान करता है कि इसमें रूप अवश्य है । यह विधि-साधक अविरुद्ध सहचरोपलब्धि का उदाहरण है ।

प्रतिषेधसाधक विरुद्धोपलब्धि के भेद

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथेति ॥ ७१ ॥

प्रतिषेधसाधक विरुद्धोपलब्धि के अविरुद्धोपलब्धि की तरह छह भेद हैं जो इस प्रकार हैं—विरुद्धव्याप्योपलब्धि, विरुद्धकार्योपलब्धि, विरुद्ध-कारणोपलब्धि, विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि और विरुद्ध सहचरोपलब्धि । यहाँ प्रतिषेध्य से विरुद्ध के व्याप्य आदि की उपलब्धि पायी जाती है ।

विरुद्धव्याप्य हेतु का उदाहरण

नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥ ७२ ॥

यहाँ शीतस्पर्श नहीं हैं, उष्णता होने से । यहाँ शीतस्पर्श प्रतिषेध्य है । उसका विरुद्ध अग्नि है और अग्नि का व्याप्य है उष्णता । अत: यहाँ प्रतिषेध्य के विरुद्ध अग्नि के व्याप्य उष्णता की उपलब्धि होने से शीतस्पर्श का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक विरुद्धव्याप्योपलब्धि का उदाहरण है ।

विरुद्ध कार्य हेतु का उदाहरण

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥ ७३ ॥

यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, धूम होने से । यहाँ शीतस्पर्श प्रतिषेध्य है । उसका विरुद्ध अग्नि है और उसका कार्य धूम है । अत: यहाँ प्रतिषेध्य के विरुद्ध अग्नि के कार्य धूम की उपलब्धि होने से शीतस्पर्श का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक विरुद्धकार्योपलब्धि का उदाहरण है ।

विरुद्ध कारण हेतु का उदाहरण

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ॥ ७४ ॥

इस प्राणी में सुख नहीं है, हृदय में शल्य होने से । यहाँ सुख प्रतिषेध्य है । उसका विरुद्ध दु:ख है और उसका कारण हृदय में शल्य है । अत: यहाँ प्रतिषेध्य के विरुद्ध दु:ख के कारण हृदय में शल्य की उपलब्धि होने से इस प्राणी में सुख का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेध-साधक विरुद्धकारणोपलब्धि का उदाहरण है ।

विरुद्ध पूर्वचर हेतु का उदाहरण

नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ॥ ७५ ॥

एक मुहूर्त के अन्त में शकट नक्षत्र का उदय नहीं होगा, क्योंकि इस समय रेवती नक्षत्र का उदय है । यहाँ शकट का उदय प्रतिषेध्य है । उसका विरुद्ध अश्विनी नक्षत्र का उदय है और उसका पूर्वचर रेवती का उदय है । अत: यहाँ प्रतिषेध्य के विरुद्ध अश्विनी के पूर्वचर रेवती के उदय की उपलब्धि होने से एक मुहूर्त के अन्त में शकट के उदय का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि का उदाहरण है ।

विरुद्ध उत्तरचर हेतु का उदाहरण

नोदगाद् भरणिर्मुहूर्तात् पूर्वं पुष्योदयात् ॥ ७६ ॥

एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय नहीं हुआ । क्योंकि इस समय पुष्य नक्षत्र का उदय है । यहाँ भरणी का उदय प्रतिषेध्य है । उसका विरुद्ध है पुनर्वसु नक्षत्र का उदय और उसका उत्तरचर है पुष्य का उदय । अत: यहाँ प्रतिषेध्य के विरुद्ध पुनर्वसु के उत्तरचर पुष्य के उदय की उपलब्धि होने से एक मुहूर्त के पहले भरणी के उदय का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि का उदाहरण है ।

विरुद्ध सहचर हेतु का उदाहरण

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ॥ ७७ ॥

इस भित्ति (दीवाल) में परभाग का अभाव नहीं है, इस भाग के दिखने से । यहाँ परभाग का अभाव प्रतिषेध्य है । उसका विरुद्ध है परभाग का सद्भाव और उसका सहचर है अर्वाग्भाग (इस ओर का भाग) का दर्शन । यहाँ प्रतिषेध्य के विरुद्ध परभाग के सहचर अर्वाग्भाग की उपलब्धि होने से भित्ति में परभाग के अभाव का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक विरुद्धसहचरोपलब्धि का उदाहरण है ।

प्रतिषेधसाधक अविरुद्धानुपलब्धि के भेद

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारण-पूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदादिति ॥ ७८ ॥

प्रतिषेधसाधक अविरुद्धानुपलब्धि के स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर की अनुपलब्धि के भेद से सात भेद होते हैं ।

स्वभावानुपलब्धि का उदाहरण

नास्त्यत्र भूतले घट उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः ॥ ७९ ॥

इस भूतल में घट नहीं है, क्योंकि यहाँ उपलब्धिलक्षणप्राप्त घट की अनुपलब्धि है । यहाँ घट प्रतिषेध्य है और उसका स्वभाव उपलब्ध होने का है । उपलब्धिलक्षणप्राप्त का अर्थ है दृश्य । यदि यहाँ घट होता तो अवश्य दिखता । भूतल की उपलब्धि होने के जो कारण हैं वे ही कारण

घट की उपलब्धि होने के हैं । यदि यहाँ घट होता तो भूतल की तरह घट की भी उपलब्धि अवश्य होती । अत: यहाँ घट के स्वभाव (दृश्यत्व) की अनुपलब्धि होने से घट का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक स्वभावानुलब्धि का उदाहरण है । जिस प्रकार भूतल में घट का निषेध किया जाता है उस प्रकार पिशाच का निषेध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह उपलब्धिलक्षणप्राप्त नहीं है, किन्तु अनुपलब्धिलक्षणप्राप्त (अदृश्य) है ।

व्यापकानुपलब्धि का उदाहरण

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ॥ ८० ॥

यहाँ शिंशपा (शीशम का वृक्ष) नहीं है, वृक्ष की अनुपलब्धि होने से । यहाँ शिंशपा प्रतिषेध्य है । और उसका व्यापक है वृक्ष । शिंशपा व्याप्य है और वृक्ष व्यापक है । जब यहाँ व्यापक ही नहीं है तब व्याप्य कहाँ से होगा ? इस प्रकार यहाँ व्यापक वृक्ष की अनुपलब्धि से व्याप्य शिंशपा का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक व्यापकानुपलब्धि का उदाहरण है ।

कार्यानुपलब्धि का उदाहरण

नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥ ८१ ॥

यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्ययुक्त अग्नि नहीं है, धूम की अनुपलब्धि होने से । यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्ययुक्त अग्नि प्रतिषेध्य है । और अग्नि का कार्य है धूम । अत: यहां धूम की अनुपलब्धि से अग्नि का निषेध किया गया है । यदि यहाँ अप्रतिबद्धसामर्थ्य युक्त अग्नि होती तो वह धूम को अवश्य उत्पन्न करती । इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ ऐसी अग्नि तो हो सकती है जिसकी सामर्थ्य मन्त्रादि के द्वारा प्रतिबद्ध की गई हो, किन्तु अप्रतिबद्धसामर्थ्य युक्त अग्नि यहाँ नहीं है । यह प्रतिषेधसाधक कार्यानुपलब्धि का उदाहरण है ।

कारणानुपलब्धि का उदाहरण

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥ ८२ ॥

यहाँ धूम नहीं है, अग्नि के न होने से । यहाँ धूम प्रतिषेध्य है । और उसका कारण है अग्नि । जब यहाँ अग्नि नहीं है तो धूम कहाँ से होगा ?

अत: यहाँ कारण की अनुपलब्धि से कार्य का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक कारणानुपलब्धि का उदाहरण है ।

पूर्वचरानुपलब्धि का उदाहरण

न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ॥ ८३ ॥

एक मुहूर्त के अन्त में शकट का उदय नहीं होगा, कृत्तिका के उदय की अनुपलब्धि होने से । यहाँ शकट का उदय प्रतिषेध्य है । शकट के उदय का पूर्वचर है कृत्तिका का उदय । जब अभी कृत्तिका का उदय नहीं है तो एक मुहूर्त बाद शकट का उदय कैसे होगा ? अत: यहाँ पूर्वचर की अनुपलब्धि से उत्तरचर शकट के उदय का प्रतिषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक पूर्वचरानुपलब्धि का उदाहरण है ।

उत्तरचरानुपलब्धि का उदाहरण

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात् प्राक् तत एव ॥ ८४ ॥

एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है, कृत्तिका के उदय की अनुपलब्धि होने से । यहाँ भरणी का उदय प्रतिषेध्य है और उसका उत्तरचर है कृत्तिका का उदय । यदि इस समय कृत्तिका का उदय होता तो यह कहा जा सकता था कि पहले भरणी का उदय हो चुका है । अत: यहाँ उत्तरचर की अनुपलब्धि से पूर्वचर भरणी के उदय का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक उत्तरचरानुपलब्धि का उदाहरण है ।

सहचरानुपलब्धि का उदाहरण

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥ ८५ ॥

इस समतुला (समान पलड़ों वाली तराजू) में उन्नाम (एक पलड़े का ऊँचा होना) नहीं है, नाम (एक पलड़े का नीचा होना) की अनुपलब्धि होने से । यहाँ उन्नाम प्रतिषेध्य है और उसका सहचर है नाम । जब तराजू के एक पलड़े में नाम नहीं है तो दूसरे पलड़े में उन्नाम नहीं हो सकता है । नाम और उन्नाम दोनों सहचर हैं । अत: यहाँ सहचर नाम की अनुपलब्धि से तराजू में उन्नाम का निषेध किया गया है । यह प्रतिषेधसाधक सहचरानुपलब्धि का उदाहरण है ।

विधिसाधक विरुद्धानुपलब्धि के भेद

विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धि-भेदात् ॥ ८६ ॥

विधिसाधक विरुद्धानुपलब्धि के विरुद्धकार्य, विरुद्धकारण और विरुद्धस्वभाव की अनुपलब्धि के भेद से तीन भेद होते हैं ।

विरुद्धकार्यानुपलब्धि का उदाहरण

अस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ॥ ८७ ॥

इस प्राणी में व्याधिविशेष है, निरामयचेष्टा की अनुपलब्धि होने से । यहाँ किसी प्राणी में व्याधिविशेष की सिद्धि की गई है । व्याधिविशेष का विरुद्ध है व्याधिविशेष का अभाव और उसका कार्य है निरामयचेष्टा (व्याधिरहित चेष्टा) । अतः इस प्राणी में व्याधिविशेष के विरुद्ध का कार्य *निरामयचेष्टा की अनुपलब्धि होने से व्याधिविशेष का अनुमान किया* गया है । यह विधिसाधक विरुद्धकार्यानुपलब्धि का उदाहरण है ।

विरुद्धकारणानुपलब्धि का उदाहरण

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ॥ ८८ ॥

इस प्राणी में दुःख है, इष्टसंयोग का अभाव होने से । यहाँ किसी प्राणी में दुःख की सिद्धि की गई है । दुःख का विरुद्ध है सुख और उसका कारण है इष्टसंयोग । अतः इस प्राणी में दुःख के विरुद्ध सुख के कारण इष्टसंयोग की अनुपलब्धि होने से दुःख का अनुमान किया गया है । यह विधिसाधक विरुद्धकारणानुपलब्धि का उदाहरण है ।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धि का उदाहरण

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तानुपलब्धेः ॥ ८९ ॥

वस्तु अनेकान्तात्मक है, एकान्तस्वभाव की अनुपलब्धि होने से । यहाँ वस्तु में अनेकान्तात्मकत्व की सिद्धि की गई है । अनेकान्त का विरुद्ध है एकान्त और उसका स्वभाव है वस्तु का एकान्तरूप होना । किन्तु वस्तु में एकान्तस्वभाव की उपलब्धि नहीं होती है । अतः यहाँ अनेकान्त के विरुद्ध एकान्त के स्वभाव की अनुपलब्धि होने से वस्तु में

अनेकान्तात्मकत्व का अनुमान किया गया है । यह विधिसाधक विरुद्ध-स्वभावानुपलब्धि का उदाहरण है ।

अभी तक हेतु के अनेक भेद बतला चुके हैं । इनके अतिरिक्त परम्परा से हेतु के अन्य भेद भी हो सकते हैं । किन्तु उनका अन्तर्भाव इन्हीं हेतुओं में हो जाता है । इसी बात को निम्नलिखित सूत्र में बतलाया गया है—

परम्परया संभवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ॥ ९० ॥

परम्परा से विधि और निषेध के साधक जो साधन हैं उनका पूर्वोक्त साधनों में ही अन्तर्भाव करना चाहिए । इससे पूर्वोक्त हेतुओं की संख्या के व्याघात की संभावना नहीं रहती है । जैसे विधिसाधक कार्य हेतु के कार्य का अन्तर्भाव अविरुद्धकार्योपलब्धि में किया जाता है । इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ॥ ९१ ॥

इस चक्र पर शिवक हो चुका है, स्थास होने से । घट की उत्पत्ति के पहले शिवक, चक्रक और स्थास इत्यादि मृत्पिण्ड की पर्यायें होती हैं । कुंभकार जब मृत्पिण्ड को चक्र पर रखता है तब उस पिण्डाकार पर्याय का नाम शिवक होता है । इसके बाद छत्रक, स्थास, कोश, कुशूल आदि अनेक पर्यायें उत्पन्न होती हैं । तब अन्त में घट उत्पन्न होता है । यहाँ चक्र पर स्थास को देखकर उसके परम्परा से कारण शिवक के हो चुकने का अनुमान किया गया है । अतः यह अनुमान कार्य के कार्य को देखकर किया गया कारण का अनुमान है ।

उक्त उदाहरण में शिवक का साक्षत् कार्य है छत्रक और परम्परा कार्य है स्थास । अर्थात् शिवक का कार्य है छत्रक और छत्रक का कार्य है स्थास । इस प्रकार स्थास शिवक का परम्परा कार्य है । इस कार्य के कार्यरूप हेतु का अन्तर्भाव अविरुद्धकार्योपलब्धि में किया जाता है । इसी बात को निम्नलिखित सूत्र में बतलाया गया है—

कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥ ९२ ॥

कार्य के कार्यरूप हेतु का अन्तर्भाव अविरुद्ध कार्योपलब्धि में होता है । जिस प्रकार कार्य को देखकर उसके कारण का जो अनुमान किया

जाता है वह विधिसाधक अविरुद्ध कार्योपलब्धि हेतु है, उसी प्रकार कार्य के कार्य को देखकर कारण का जो अनुमान किया जाता है उस हेतु का अन्तर्भाव अविरुद्ध कार्योपलब्धि में ही हो जाता है ।

इसी प्रकार प्रतिषेधसाधक कारणविरुद्ध कार्य हेतु का अन्तर्भाव विरुद्धकार्योपलब्धि में किया जाता है । इसका उदाहरण इस प्रकार है—

नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा ॥ ९३ ॥

इस गुहा में मृग की क्रीड़ा नहीं है, मृगारि (सिंह) का शब्द होने से । मृगक्रीड़ा का कारण है मृग, उसका विरुद्ध है मृगारि और उसका कार्य है मृगारि का शब्द । यहाँ मृगक्रीड़ा के कारण मृग के विरुद्ध सिंह के कार्यभूत शब्द को सुनकर मृगक्रीड़ा का निषेध किया गया है । इस कारणविरुद्ध कार्य हेतु का अन्तर्भाव विरुद्धकार्योपलब्धि में किया जाता है । जिस प्रकार प्रतिषेधसाधक विरुद्ध कार्योपलब्धि में विरुद्ध के कार्य को देखकर किसी का निषेध किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी कारण के विरुद्ध के कार्य को देखकर किसी का निषेध किया जाता है । अत: यह पृथक् हेतु नहीं है, किन्तु वह विरुद्धकार्योपलब्धिरूप ही है ।

हेतु का पूर्णरूप से विवेचन कर देने के बाद अब यह बतलाना है कि व्युत्पन्न व्यक्तियों को समझाने के लिए उदाहरणादि के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है । इसी बात को यहाँ बतलाया जा रहा है—

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्यैव वा ॥ ९४ ॥

व्युत्पन्न पुरुषों के लिए तथोपपत्तिरूप अथवा अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु का प्रयोग ही पर्याप्त है । उनके लिए उदाहरणादि का प्रयोग सर्वथा अनुपयोगी है ।

साध्य के होने पर हेतु का होना तथोपपत्ति कहलाता है और साध्य के अभाव में हेतु का नहीं होना अन्यथानुपपत्ति है । अर्थात् अविनाभावी हेतु के प्रयोगमात्र से व्युत्पन्न पुरुषों को साध्य और साधन के विषय में सब कुछ समझ में आ जाता है । इसी बात को उदाहरण द्वारा समझाते हैं—

अग्निमानयं देशस्तथा धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथाथानुपपत्तेर्वा ॥ ९५ ॥

यह देश अग्निमान् है, ऐसा होने पर ही वह धूमवान् हो सकता है । अथवा अग्नि के अभाव में वह धूमवान् नहीं हो सकता है । यहाँ अन्वय और व्यतिरेक दोनों के द्वारा हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव बतलाया गया है । इसी बात को निम्नलिखित सूत्र में स्पष्ट किया गया है—

हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते इति ॥ ९६ ॥

हेतु का प्रयोग इस प्रकार से किया जाता है कि जिससे व्याप्ति का ग्रहण हो जाय । और उतने मात्र से ही व्युत्पन्न जनों के द्वारा व्याप्ति का निश्चय हो जाता है । अर्थात् तथोपपत्तिरूप और अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु के प्रयोग से व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है । अतः व्याप्ति के ग्रहण के लिए उदाहरणादि के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है ।

साध्य की सिद्धि के लिए भी उदाहरणादि का प्रयोग निरर्थक है । इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

तावता च साध्यसिद्धिः ॥ ९७ ॥

उतने मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है । अर्थात् तथोपपत्तिरूप तथा अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु के प्रयोग से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है । अतः साध्य की सिद्धि के लिए उदाहरणादि के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है ।

तेन पक्षस्तदाधारसूचनाय उक्तः ॥ ९८ ॥

इस कारण साध्य के आधार को बतलाने के लिए पक्ष का कथन करना आवश्यक है । यद्यपि पक्ष गम्यमान होता है फिर भी साध्य के आधार को स्पष्टरूप से बतलाना नितान्त आवश्यक है । पक्षवचन के बिना काम नहीं चल सकता है ।

आगमप्रमाण का लक्षण

आप्तवचनादिनिबन्धमर्थज्ञानमागमः ॥ ९९ ॥

आप्त के वचन आदि के द्वारा होने वाले अर्थ के ज्ञान को आगम कहते हैं ।

सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी पुरुष को आप्त कहते हैं । आप्त के

वचनों को सुनकर हम लोगों को जो पदार्थों का ज्ञान होता है वह आगम कहलाता है । यहाँ आदि पद के द्वारा आगम प्रमाण में अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत का संग्रह हो जाता है । यद्यपि श्रुत वचनरूप है और आगम प्रमाण ज्ञानरूप है, फिर भी कारण में कार्य का उपचार करके वचन को भी आगम प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं है । श्रुतरूप वचन ज्ञान का कारण है और ज्ञान उसका कार्य है । अत: यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके श्रुत को भी आगम प्रमाण मान लिया गया है । आगम के लक्षण में 'आप्तवचन' विशेषण के द्वारा वेदापौरुषेयत्व का निरास किया गया है और 'अर्थज्ञान' विशेषण के द्वारा बौद्धाभिमत अन्यापोह ज्ञान का निराकरण किया गया है । अर्थ के ज्ञान का नाम आगम है, अन्यापोह का ज्ञान आगम नहीं है ।

वेदापौरुषेयत्व विचार

मीमांसकों का मत है कि वेद अपौरुषेय हैं, वेद किसी पुरुष विशेष की रचना नहीं हैं, किन्तु उनकी परम्परा अनादिकाल से इसी रूप में चली आ रही है । मीमांसादर्शन में ऐसा कोई आप्त पुरुष या सर्वज्ञ नहीं है जिसने वेदों की रचना की हो । अन्य कोई सामान्य पुरुष भी वेदों का रचयिता नहीं हो सकता है । क्योंकि रथ्यापुरुष के वचनों की तरह उसके वचनों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है । इसलिए वेदों को अपौरुषेय मानना मीमांसकों की विवशता है ।

पूर्वपक्ष—

वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और साम्यवेद । ये चारों वेद अस्मर्यमाणकर्तृक होने से अपौरुषेय हैं । यदि वेदों का कोई कर्ता होता तो उसका स्मरण अवश्य होता । परन्तु वेदों के कर्ता का स्मरण होता ही नहीं है । इससे यही सिद्ध होता है कि वेदों का कोई कर्ता नहीं है । अनादि काल से वेदों का अध्ययन गुरु के द्वारा अध्ययन पूर्वक ही चला आया है । ऐसा नहीं है कि पहले किसी ने वेदों की रचना की हो और फिर उसका अध्ययन कराया हो । इस विषय में मीमांसाश्लोकवार्तिक में कहा गया है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥

जिस प्रकार वर्तमानकाल में गुरु के द्वारा ही वेदों का अध्ययन देखा जाता है उसी प्रकार सब कालों में भी वेदों के अध्ययन की यही परम्परा है । यहाँ वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतु से वेद में अपौरुषेयत्व की सिद्धि की गई है । इसी विषय में और भी कहा गया है—

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।
कालत्वात् तद् यथा कालो वर्तमानः समीक्षते ॥

जिस प्रकार वर्तमान काल में वेद का कोई कर्ता नहीं है उसी प्रकार अतीत और अनागत काल में भी वेद का कोई कर्ता नहीं है, क्योंकि वे भी काल हैं । यहाँ कालत्व हेतु से वेद में अपौरुषेयत्व सिद्ध किया गया है । अपौरुषेय होने से वेदों में किसी प्रकार के दोष की संभावना भी नहीं रहती है । शब्दों में दोषों का होना वक्ता के अधीन होता है । यदि वक्ता गुणवान् है तो शब्दों में दोषों का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है । अथवा वक्ता के न रहने से भी दोषों की संभावना नहीं रहती है । क्योंकि दोष निराश्रय नहीं रह सकते हैं । दोषों का आधार वक्ता है और जब वेदों का कोई रचयिता ही नहीं है तब उनमें दोष कहाँ से आयेंगे ? इत्यादि प्रकार से मीमांसकों ने वेदों में अपौरुषेयत्व की सिद्धि की है ।

उत्तरपक्ष—

मीमांसकों का उक्त कथन समीचीन नहीं है । यहाँ हम मीमांसकों से पूछना चाहते हैं कि आप पद में, वाक्य में अथवा वर्णों में से किसमें अपौरुषेयत्व सिद्ध करना चाहते हैं । पद और वाक्य में तो अपौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता है । हम कह सकते हैं कि वेद के पद और वाक्य पौरुषेय हैं, पद और वाक्य होने से, महाभारत आदि के पद और वाक्य की तरह । अकारादि वर्णों के समूह को पद कहते हैं, जैसे वेद, ज्ञान, आत्मा इत्यादि पद हैं । पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, जैसे वेद पौरुषेय हैं, आत्मा ज्ञानवान् है, इत्यादि वाक्य कहलाते हैं । तात्पर्य यह है कि पद और वाक्य की रचना पुरुष के द्वारा ही होती है । इसलिए पद और वाक्य अपौरुषेय न होकर पौरुषेय ही हैं । इसी प्रकार अकारादि वर्ण भी अपौरुषेय नहीं है ।

कृतक होने से वर्ण भी घट की तरह पौरुषेय हैं । तालु, ओष्ठ आदि के व्यापार के होने पर ही अकारादि वर्णों की उत्पत्ति होती है, जैसे चक्रादि के व्यापार के होने पर घट की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार वर्ण, पद और वाक्य ये तीनों पौरुषेय हैं । अतः वर्ण, पद और वाक्यों के समूहरूप वेद अपौरुषेय कैसे हो सकते हैं ? प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से कोई भी प्रमाण वेद के अपौरुषेयत्व का साधक नहीं है । इसलिए वेद में अपौरुषेयत्व कैसे सिद्ध हो सकता हैं ?

अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु से भी वेद को अपौरुषेय सिद्ध नहीं किया जा सकता है । क्योंकि जीर्णकूप, जीर्णप्रासाद आदि ऐसी कई वस्तुएँ हैं जिनके कर्ता का किसी को स्मरण नहीं होता है, किन्तु इतने मात्र से वे अपौरुषेय सिद्ध नहीं हो जाती हैं । एक बात यह भी है कि जो वस्तु नित्य है उसे अस्मर्यमाणकर्तृक कहना उचित नहीं है, उसे तो अकर्तृक ही कहना चाहिए । वादी मीमांसक को वेदों के कर्ता का स्मरण न भी हो, किन्तु प्रतिवादी बौद्ध आदि वेदों के कर्ता का स्मरण करते ही हैं । पौराणिक लोग मानते हैं कि ब्रह्मा वेदों का कर्ता है । कहा भी है—

वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य निसृताः प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते ।

अर्थात् ब्रह्मा के मुख से वेद निकले हैं । प्रत्येक मनु के काल में अन्य अन्य श्रुति (वेद) का विधान किया जाता है । जिस प्रकार स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों में उनके रचयिता ऋषियों के नाम पाये जाते हैं, उसी प्रकार ऋषियों के नाम से अंकित काण्व, माध्यन्दिन, तैत्तरीय आदि शाखाभेद वेदों में भी पाये जाते हैं । जो शाखा कण्व ऋषि द्वारा निर्मित है उसे काण्व शाखा, जो मध्यन्दिन ऋषि के द्वारा निर्मित है उसे माध्यन्दिन शाखा और जो तित्तरीय ऋषि द्वारा निर्मित है उसे तैत्तरीय शाखा कहते हैं । बौद्ध अष्टक को वेद का कर्ता मानते हैं । कोई हिरण्यगर्भ को वेद का कर्ता मानते हैं । ऐसी स्थिति में वेदों को अस्मर्यमाणकर्तृक कैसे माना जा सकता है ? अतः वेद में अपौरुषेयत्व सिद्ध करने के लिए अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु सक्षम नहीं है ।

इसी प्रकार वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतु के द्वारा भी वेद में अपौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है । इस प्रकार तो हम रामायण, महाभारत आदि को भी अपौरुषेय सिद्ध कर सकते हैं । हम कह सकते हैं—

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥

महाभारत आदि का अध्ययन गुरु के द्वारा अध्ययनपूर्वक ही होता है, महाभारताध्ययन का वाच्य होने से, जैसे कि वर्तमान अध्ययन । इसलिए रामायण, महाभारत आदि को भी वेद के समान अपौरुषेय सिद्ध किया जा सकता है । इसीप्रकार वर्तमान काल की तरह अतीत और अनागत काल को भी वेदकार रहित सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त कालत्व हेतु भी निर्दोष नहीं है । भले ही वर्तमान काल में कोई वेद का कर्ता न हो, किन्तु भूत में कोई वेदकर्ता नहीं था और भविष्य में कोई वेदकर्ता नहीं होगा, यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? यदि कालत्व हेतु से वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया जा सकता है तो इसी हेतु से महाभारत आदि को अपौरुषेय सिद्ध करने में क्या बाधा है ? मीमांसक ने कहा था—

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ, इत्यादि ।

इसके विपरीत हम यह भी कह सकते हैं—

अतीतानागतौ कालौ वेदार्थज्ञविवर्जितौ ।
कालशब्दाभिधेयत्वादधुनातनकालवत् ॥

अतीत और अनागत काल वेदार्थज्ञ से रहित हैं, क्योंकि वे काल शब्द के अभिधेय हैं, जैसे कि वर्तमान काल । इस प्रकार अस्मर्यमाणकर्तृकत्व, वेदाध्ययनवाच्यत्व और कालत्व हेतु वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैं ।

थोड़ी देर को मान लिया जाय कि वेद अपौरुषेय हैं, तो यहाँ एक समस्या उपस्थित होती है कि वेद अव्याख्यात रह कर अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हैं अथवा व्याख्यात होकर अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । प्रथम पक्ष मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है । क्योंकि अव्याख्यात वेद जैसे मीमांसक को अपने अर्थ का ज्ञान कराते हैं वैसे ही हम सबको भी वेद के अर्थ का ज्ञान करायेंगे । और ऐसी स्थिति में वेदार्थ के विषय में कोई विवाद नहीं रहना चाहिए । किन्तु वेदार्थ के विषय में विवाद देखा जाता है । अन्यथा भावना, विधि और नियोग के रूप में वेदवाक्यों का भिन्न भिन्न अर्थ नहीं किया जाता । अब यदि माना जाय कि वेद व्याख्यात होकर

अपने अर्थका ज्ञान कराते हैं तो यहाँ प्रश्न होता है कि वेद का व्याख्यान किसके द्वारा होगा—स्वतः या पुरुष के द्वारा। वेद का व्याख्यान स्वतः तो हो नहीं सकता है। क्योंकि वेद ऐसा नहीं कहता है कि मेरे पदों और वाक्यों का यही अर्थ है, अन्य नहीं। इस विषय में कहा भी गया है—

अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दाः वदन्ति न।
कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः॥

अर्थात् शब्द तो ऐसा कहते नहीं है कि वेदवाक्यों का यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है। अर्थ की कल्पना तो रागादि दोषों से दूषित पुरुषों के द्वारा की जाती है। तब शब्दों के द्वारा वेदार्थ का ज्ञान कैसे हो सकता है? अब यदि पुरुष के द्वारा वेदार्थ का व्याख्यान माना जाय तो उस पौरुषेय व्याख्यान से वेदार्थ के ज्ञान में दोषों की आशंका बनी रहेगी। पुरुष तो कभी कभी अज्ञान आदि के कारण विपरीत अर्थ का व्याख्यान करते हुए भी देखे जाते हैं। अतः 'अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य का कोई अज्ञानी ऐसा भी अर्थ कर सकता है—'श्वमांसं खादेत्।' अर्थात् जिसको स्वर्ग की इच्छा हो वह कुत्ता का मांस खावे।

उपर्युक्त समस्त कथन का निष्कर्ष यह है कि लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्द स्वरूप की अपेक्षा से समान हैं और दोनों ही संकेत ग्रहण की अपेक्षा से अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि वैदिक शब्द अपौरुषेय हैं और लौकिक शब्द पौरुषेय हैं। यथार्थ बात यह है कि जिस प्रकार जीर्ण कूप, प्रासाद आदि की रचना अभिनव कूप, प्रासाद आदि की रचना से समान होने के कारण जीर्ण कूपादि पौरुषेय सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार महाभारत आदि की रचना की तरह वेद की रचना भी पुरुषरचित वचनों की समानता के कारण पौरुषेय ही सिद्ध होती है। अतः वेद अपौरुषेय नहीं हैं, किन्तु पौरुषेय ही हैं।

शब्दनित्यत्वविचार

पूर्वपक्ष—

मीमांसकों का मत है कि शब्द नित्य और व्यापक हैं। वे कहते हैं कि शब्द को अनित्य मानने पर उससे अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है।

यह तो निश्चित है कि शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है । यह भी निश्चित है कि जिस शब्द का अपने वाच्य अर्थ के साथ सम्बन्ध गृहीत हो गया है वही शब्द अपने वाच्य अर्थ का प्रतिपादन करता है । यदि ऐसा न हो तो जिस पुरुष ने जिस शब्द का अर्थ के साथ संकेत ग्रहण नहीं किया है उसको भी उस शब्द से अर्थ की प्रतीति होना चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है । इस शब्द का वाच्य अर्थ यह है, इस प्रकार के ज्ञान को संकेत ग्रहण कहते हैं । गौशब्द को सुनकर गाय अर्थ का जो ज्ञान होता है वह गौशब्द का गाय अर्थ में संकेत ग्रहण करने पर ही होता है । शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक सम्बन्ध रहता है और इस सम्बन्ध का ज्ञान एक बार के शब्द प्रयोग से नहीं होता है, किन्तु अनेक बार शब्द प्रयोग करने पर बालक यह सीख जाता है कि गौशब्द का वाच्य गाय है । अत: नित्य शब्द ही अपने वाच्य अर्थ की प्रतीति करा सकता है । यदि शब्द अनित्य है तो उसका बार बार उच्चारण भी संभव नहीं है । ऐसी स्थिति में शब्दों में वाचक शक्ति का ज्ञान कैसे होगा ? तथा शब्दों में वाचक शक्ति के ज्ञान के अभाव में प्रेक्षावान् पुरुष पर के ज्ञान के लिए शब्द या वाक्य का उच्चारण क्यों करेंगे ? इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यह निश्चित होता है कि शब्द नित्य हैं ।

यहाँ कोई कह सकता है कि वास्तव में शब्द अनित्य है फिर भी सादृश्य के कारण उसमें एकत्व की प्रतीति हो जाती है । परन्तु ऐसा कथन ठीक नहीं है । सादृश्य के कारण शब्द में एकत्व की प्रतीति नहीं होती है । किन्तु संकेत ग्रहण के समय मैंने जिस शब्द को जाना था वही यह शब्द है, ऐसी एकत्व की प्रतीति अर्थ की प्रतिपत्ति के समय होती है । शब्दों में सादृश्य होता है और सदृश शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, ऐसा मानने पर शाब्द प्रत्यय भ्रान्त हो जायेगा । क्योंकि जिस गौशब्द में संकेत ग्रहण किया था वह तो नष्ट हो गया और अब अगृहीत संकेत वाले नये गौशब्द से अर्थ की प्रतीति हो रही है । तब यह शाब्द प्रत्यय अभ्रान्त कैसे होगा ? नित्य होने के साथ शब्द व्यापक भी हैं । शब्दों में नित्यत्व और व्यापक की सिद्धि प्रत्यभिज्ञान से होती है । कहा भी है—

नित्यत्वं व्यापकत्वं च सर्ववर्णेषु संस्थितम् ।
प्रत्यभिज्ञानतो मानाद्बाधसङ्क्रमवर्जितात् ॥

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि शब्द व्यापक है तो किसी शब्द के उच्चारण करने पर प्रतिनियत देश में ही उस शब्द की प्रतीति क्यों होती है ? सब देशों में उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर यह है कि शब्द की उपलब्धि व्यंजक ध्वनियों के अधीन है । ओष्ठ, तालु आदि के व्यापार से व्यंजक ध्वनियों की उत्पत्ति होती है और जिस देश में व्यंजक ध्वनि का सद्भाव होता है वहाँ शब्द की उपलब्धि होती है, अन्यत्र नहीं । सूर्य की तरह गकारादि शब्द एक होकर भी भिन्न-भिन्न देशों में उपलब्ध होता है । इस प्रकार मीमांसकों ने शब्दों में नित्यत्व और व्यापकत्व सिद्ध किया है ।

उत्तरपक्ष—

मीमांसकों का उक्त मत तर्कसंगत नहीं है । शब्द को नित्य और व्यापक मानना प्रतीतिविरुद्ध है । यह कहना सर्वथा गलत है कि शब्द को अनित्य मानने पर उससे अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी । जिस पुरुष ने शब्द का अर्थ के साथ संकेत ग्रहण कर लिया है उस पुरुष को सादृश्य के कारण अनित्य शब्द से भी अर्थ की प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है । ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो शब्द संकेतकाल में गृहीत हुआ है उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होना चाहिए । जिस प्रकार महानस में दृष्ट धूम के सदृश धूम से पर्वत में अग्नि की प्रतीति होती है, उसी प्रकार संकेतकाल में गृहीत शब्द के सदृश शब्द से भी अर्थ की प्रतीति होती है । अतः मीमांसकों का यह कथन ठीक नहीं है कि सादृश्य के कारण शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है । हमारा तो ऐसा मत है कि सदृशपरिणामलक्षण सामान्य से विशिष्ट शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है । अर्थात् केवल शब्दत्व सामान्य अर्थ का प्रतिपादक नहीं होता है किन्तु सामान्यविशिष्ट शब्द अर्थ का प्रतिपादक माना गया है । यह कहना भी संगत नहीं है कि सादृश्य के कारण शब्द से अर्थ की प्रतीति मानने पर शाब्द प्रत्यय भ्रान्त हो जायेगा । यदि ऐसा है तो महानस में दृष्ट धूम के सदृश धूम से पर्वत में जो अग्नि की प्रतीति होती है उसे भी भ्रान्त मानना पड़ेगा । अतः शब्द के अनित्य होने पर भी सादृश्य के कारण तत्सदृश दूसरे शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है और ऐसा मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्द अनित्य है और उससे अर्थ की प्रतीति होती है ।

इसी प्रकार शब्द को व्यापक मानना भी सर्वथा असंगत है । हम कह सकते हैं कि गौ, अश्व आदि शब्द अनेक हैं । क्योंकि घटादि की तरह एक ही पुरुष के द्वारा एक ही काल में तथा अनेक देशों में भिन्न भिन्न स्वरूप (आकार) वाले शब्दों की उपलब्धि होती है । फिर भी शब्द को व्यापक माना जाय तो घट को भी व्यापक मानना चाहिए । अकारादि वर्णों में ह्रस्व, दीर्घ, उदात्त, अनुदात्त आदि का भेद देखा जाता है । इससे भी यह सिद्ध होता है कि घटादि की तरह शब्द अनेक हैं । शब्दों में पाये जाने वाले ह्रस्व, दीर्घ आदि स्वभाव को व्यंजक ध्वनियों का धर्म मानना भी ठीक नहीं है । यथार्थ बात तो यह है कि जब तालु आदि का व्यापार महान् होता है तब महत्त्व धर्मयुक्त शब्द की उत्पत्ति होती है और जब तालु आदि का व्यापार अल्प होता है तब अल्पत्व धर्मयुक्त शब्द की उत्पत्ति होती है । तालु आदि को शब्द का व्यंजक मानना भी गलत है । यदि तालु आदि शब्द के व्यंजक है, उत्पादक नहीं, तो तालु आदि का व्यापार होने पर नियम से शब्द की उपलब्धि नहीं हो सकती है । ऐसा कोई नियम नहीं है कि जहाँ व्यंजक प्रदीपादि का व्यापर होगा वहाँ व्यंग्य घटादि की उपलब्धि होगी ही । यह तो कारण चक्रादि के व्यापार का नियम है कि उसके होने पर घटादि कार्य की उत्पत्ति नियम से होती है ।

मीमांसक मानते हैं कि तालु आदि के व्यापार से व्यंजक ध्वनियों की उत्पत्ति होती है और ध्वनियों के द्वारा शब्दों की अभिव्यक्ति होती है । ध्वनि को वायु भी कहते हैं । यहाँ यह विचारणीय है कि ध्वनियाँ श्रोत्र ग्राह्य हैं अथवा नहीं । यदि ध्वनियाँ श्रोत्रग्राह्य हैं तो वे ही शब्द हुई । क्योंकि श्रोत्रग्राह्यत्व ही शब्द का लक्षण है । और यदि ध्वनियाँ श्रोत्रग्राह्य नहीं हैं तो अल्पत्व, महत्त्व आदि उनका धर्म श्रोत्रग्राह्य कैसे हो सकता है ? शब्द की उपलब्धि तो श्रोत्रमात्र से हो जाती है । इसके लिए ध्वनि आदि अन्य किसी कारण की कल्पना करना व्यर्थ है । यदि श्रोत्रप्रदेश में ही ध्वनियों के द्वारा शब्द की उपलब्धि होती है तो इससे यही सिद्ध होता है कि शब्द अव्यापक है, सर्वगत नहीं । जैनों ने शब्द में श्रवणस्वभाव के उत्पाद-विनाश को शब्द का उत्पाद-विनाश कहा है, उसी को मीमांसकों ने शब्द की अभिव्यक्ति और तिरोभाव कहा है । यहाँ केवल नाम में ही भेद

है, स्वरूप में नहीं । इस प्रकार शब्दों में न तो नित्यत्व सिद्ध होता है और न व्यापकत्व ।

उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि जिस प्रकार घट दण्ड, चक्र आदि के व्यापार का कार्य है उसी प्रकार शब्द तालु आदि के व्यापार का कार्य है । न तो वह नित्य है और न व्यापक है, वह तो पौद्गलिक है । जैनदर्शन में शब्द को पुद्गल द्रव्य की पर्याय माना गया है ।

शब्दार्थसम्बन्धविचार

यहाँ बौद्धों की आशंका है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध न होने के कारण आप्तवचन से अर्थ का ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में आचार्य सूत्र कहते हैं—

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयः वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥ १०० ॥

शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकशक्तिरूप अथवा प्रतिपाद्यप्रतिपादक-शक्तिरूप स्वाभाविक योग्यता रहती है । उस योग्यता में संकेत का ग्रहण होने पर शब्द वस्तु की प्रतिपत्ति के हेतु होते हैं । यहाँ आदि शब्द से हस्त, अंगुली आदि के संकेत का ग्रहण करना चाहिए । इसी बात को उदाहरण द्वारा समझाते हैं—

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥ १०१ ॥

जेसे कि मेरु आदि हैं । यहाँ मेरु शब्द और मेरु अर्थ में वाच्यवाचकरूप स्वाभाविक योग्यता है । मेरु शब्द वाचक है और मेरु अर्थ वाच्य है । अतः मेरु शब्द का मेरु अर्थ में संकेत ग्रहण हो जाने पर मेरु शब्द के सुनने पर मेरु अर्थ का ज्ञान हो जाता है । इस शब्द से इस अर्थ का बोध होता है, इस प्रकार के ज्ञान को संकेत ग्रहण कहते हैं । और शब्द से अर्थ का ज्ञान करने के लिए संकेत ग्रहण आवश्यक है ।

मीमांसकों की मान्यता है कि शब्दों में जो सहज योग्यता है वह नित्य है । उसको अनित्य मानने पर अनेक दोष आते हैं । अतः उसे नित्य मानना आवश्यक है । और नित्य योग्यता से सम्बद्ध होने के कारण शब्द वस्तु की प्रतिपत्ति के हेतु होते हैं । ऐसा कहने वाले मीमांसक तत्त्वज्ञ नहीं हैं । मीमांसकों के उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ का

सम्बन्ध नित्य है । किन्तु ऐसी बात नहीं है । हस्तसंज्ञा (हस्त संकेत) आदि के सम्बन्ध की तरह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य होने पर भी अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु होता है । हस्तसंज्ञा आदि का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य नहीं है, फिर भी वह अर्थ का प्रतिपादक होता ही है । यह तो सब जानते ही हैं कि हाथ के द्वारा इशारा करने से किसी वस्तु का बोध हो जाता है । यह बात भी प्रत्यक्षसिद्ध है कि हस्तसंज्ञा का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध अनित्य है ।

इसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य है और उसके द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति होती ही है । इसमें कोई बाधा भी नहीं आती है । अत: शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानना तर्कसंगत नहीं है । शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को सर्वथा नित्य नहीं माना जा सकता है । क्योंकि सर्वथा नित्य वस्तु न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत् । यह बात किसी प्रमाण से भी सिद्ध नहीं होती है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है । अत: शब्द स्वाभाविक योग्यता के कारण अर्थ के प्रतिपादक होते हैं । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रमाण और प्रमेय में ज्ञाप्यज्ञापक सम्बन्ध की तरह शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक सम्बन्ध होता है, किन्तु वह सम्बन्ध नित्य न होकर अनित्य है । चाहे लौकिक शब्द हों अथवा वैदिक शब्द हों, वे सब सहज योग्यता और संकेत के कारण ही अर्थ के प्रतिपादक होते हैं ।

अन्यापोहवाद

पूर्वपक्ष —

जबकि अन्य सब दर्शन शब्द को अर्थ का वाचक मानते हैं तब इस विषय में बौद्धदर्शन की कल्पना नितान्त भिन्न है । बौद्धदर्शन के अनुसार शब्द अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं । शब्दों में यह शक्ति ही नहीं है कि वे स्वलक्षणरूप अर्थ को कह सकें । क्योंकि शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक सम्बन्ध ही नहीं है । एक बात यह भी है कि जो शब्द अर्थ के होने पर देखे जाते हैं वे ही शब्द अर्थ के अभाव में भी देखे जाते, जैसे राम, रावणादि शब्द । जिसके अभाव में जो देखा जाता है वह उससे सम्बद्ध नहीं हो सकता है । जैसे अश्व के अभाव में दृश्यमान गौ अश्व से सम्बद्ध नहीं है,

वैसे ही अर्थ के अभाव में पाये जाने वाले शब्द भी अर्थ से सम्बद्ध नहीं हैं । और इसीलिए वे अर्थ के वाचक न होकर अन्यापोह के अभिधायक होते हैं । घट शब्द में ऐसी कोई स्वाभाविक शक्ति नहीं है कि वह उस शक्ति के द्वारा कम्बुग्रीवाकार और जलधारण समर्थ घट अर्थ को कह सके । वह तो पुरुष की इच्छानुसार अन्य संकेत की अपेक्षा से पट को भी कह सकता है । अर्थात् यदि कोई व्यक्ति घट शब्द का संकेत पट में कर दे तो घट शब्द पट को भी कह सकता है । अतः शब्द अर्थ के वाचक न होकर अन्यापोह के वाचक होते हैं ।

अन्यापोह का अर्थ है अन्य पदार्थों की व्यावृति या निषेध । गौ शब्द गाय का वाचक नहीं है, किन्तु अगोव्यावृत्ति का वाचक है । गौशब्द को सुनकर गाय का ज्ञान नहीं होता है किन्तु अगोव्यावृत्ति का ज्ञान होता है ।

गाय के अतिरिक्त अन्य जितने पदार्थ हैं वे सब अगौ कहलाते हैं । जब हम गौ शब्द का प्रयोग करते हैं तब उसके द्वारा अन्य सब पदार्थों का निषेध या व्यावृत्ति हो जाती है । जैसे अश्व गौ नहीं है, महिष गौ नहीं है, घट गौ नहीं है, पट गौ नहीं है, इत्यादि प्रकार से गौ शब्द का प्रयोग करने पर गौ से भिन्न अन्य सब पदार्थों की व्यावृत्ति हो जाती है । इसे अगोव्यावृत्ति या अन्यापोह कहते हैं । अतः गौ शब्द गाय का वाचक न होकर अगोव्यावृत्ति अथवा अन्यापोह का वाचक होता है । एक बात और भी है कि शब्द अन्यापोह के वाचक होते हैं तथा वक्ता के अभिप्राय को सूचित करते हैं । धर्मकीर्ति ने इस विषय में प्रमाणवार्तिक में कहा है—

नान्तरीयकताऽभावाच्छब्दानां वस्तुभिःसह ।
नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचका : ॥

अर्थात् शब्दों का वस्तुओं के साथ अविनाभाव सम्बन्ध न होने के कारण उनके द्वारा पदार्थों की प्रतिपत्ति नहीं होती है । इसलिए शब्द केवल वक्ता के अभिप्राय को सूचित करते हैं । यही बौद्धों का अन्यापोहवाद है ।

उत्तरपक्ष—

बौद्धों का उक्त कथन सर्वथा असंगत है । यदि कुछ शब्द अर्थ के अभाव में भी पाये जाते हैं तो इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता है कि शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । अर्थसहित शब्दों से अर्थरहित

शब्द भिन्न होते हैं । जो शब्द अर्थ के अभाव में भी पाये जाते हैं उनका अर्थ के साथ व्यभिचार होने पर भी सब शब्दों का अर्थ के साथ व्यभिचार सिद्ध नहीं किया जा सकता है । अन्यथा स्वप्नप्रत्यय के भ्रान्त होने के कारण अन्य सब प्रत्ययों को भी भ्रान्त मानना पड़ेगा । शब्दों को अन्यापोह का वाचक मानना प्रतीतिविरुद्ध है । गौशब्द के कहने पर विधिरूप गौरूप अर्थ की ही प्रतीति होती है तथा निषेधरूप अगोव्यावृत्ति की प्रतीति नहीं होती है । शब्द को अन्यापोह का वाचक मानने में प्रतीति विरोध आता है । यदि गौ शब्द से अगोव्यावृत्ति की प्रतीति होती है तो गौशब्द के सुनने के अनन्तर श्रोता को अगौ (अश्वादि) की प्रतीति होना चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है ।

यहाँ यथार्थ बात यह है कि बौद्ध जिस अगोव्यावृत्तिरूप सामान्य को गौशब्द का वाच्य मानते हैं उसीको हम लोग गोत्वरूप सामान्य कहते हैं और उसी को गौ शब्द का वाच्य मानते हैं । गोत्वविशिष्ट गौ 'गौ' शब्द का वाच्य होती ही है । इस प्रकार केवल नाम में भेद है, अर्थ में नहीं । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्दों का वाच्य अन्यापोह नहीं है । प्रतिनियत शब्द से प्रतिनियत अर्थ में प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है । इसलिए भी शब्दजन्य ज्ञान का विषय वास्तविक अर्थ है, अन्यापोह नहीं । बौद्धों के इस कथन में कोई सार नहीं है कि अर्थ के अभाव में भी शब्दों की प्रवृत्ति होने के कारण शब्द अर्थ के वाचक नहीं हैं । यदि किसी शब्द का किसी अर्थ के साथ व्यभिचार पाया जाता है तो इसका मतलब यह नहीं है कि सब शब्दों का अर्थ के साथ व्यभिचार अवश्य होगा । यदि किसी शब्द के प्रतिपाद्य विषय में विसंवाद होने के कारण सब शब्दों के विषयों में विसंवाद माना जाय तो किसी प्रत्यक्ष में विसंवाद होने के कारण अन्य सब प्रत्यक्षों को भी विसंवादी मानना पड़ेगा ।

यदि ऐसा माना जाय कि शब्द अभाव (अपोह) का कथन करते हैं, भाव का नहीं । तो ऐसा मानने में महान् अनर्थ की संभावना रहेगी । अर्थात् तब आप्त प्रणीत आगम से देश, द्वीप, समुद्र, पर्वत, स्वर्ग, अपवर्ग आदि पदार्थों की प्रतिपत्ति कैसे होगी तथा कल्याण कारक अनुष्ठानों में प्रवृत्ति कैसे होगी । उक्त मत के मानने पर तत्त्व और अतत्त्व की प्रतिपत्ति न हो सकने के कारण सत्य और असत्य की व्यवस्था भी नहीं बन

सकेगी । अन्यापोहवादियों का एक कथन यह भी है कि सब शब्द वक्ता की विवक्षामात्र के सूचक होते हैं, अर्थ के सूचक नहीं । यदि ऐसा है तो सब प्रकार के शब्दों से जन्य ज्ञान को प्रमाण मानना पड़ेगा और प्रतिवादियों के आगमों को भी प्रमाण मानना होगा । क्योंकि वे भी वक्ता के अभिप्राय के अथवा प्रतिवादियों के अभिप्राय के सूचक होते हैं । जिस प्रकार कुछ शब्दों का अर्थ के साथ व्यभिचार देखा जाता है उसी प्रकार वक्ता की विवक्षा के साथ भी व्यभिचार पाया जाता है । अन्य किसी अर्थ की विवक्षा होने पर भी स्खलन के कारण वक्ता के मुख से कोई दूसरा ही शब्द निकल जाता है । अत: शब्द न तो विवक्षा के सूचक हैं और न अन्यापोह के वाचक हैं ।

उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्ष की तरह शब्दों के द्वारा बाह्य अर्थ की प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति और प्राप्ति होती है । जिस प्रकार प्रतिपत्ता (ज्ञाता) को उपयोगरूप सामग्री सापेक्ष प्रत्यक्ष से बाह्य पदार्थ की प्रतिपत्ति होती है, उसी प्रकार संकेत सामग्री सापेक्ष शब्द से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है तथा शब्द घटादि अर्थ के प्रतिपादक होते हैं । इस प्रकार बौद्धों का अन्यापोहवाद निरस्त हो जाता है ।

स्फोटवाद

पूर्वपक्ष—

भर्तृहरि आदि वैयाकरण (व्याकरणशास्त्री) मानते हैं कि शब्द पदार्थ का वाचक नहीं होता है, किन्तु स्फोट पदार्थ का वाचक होता है । अर्थात् गकारादि वर्णों द्वारा अभिव्यज्यमान एक स्फोट नामक तत्त्व है जो पदार्थ का वाचक होता है । स्फोट एक, व्यापक तथा नित्य है । स्फोटवादी कहते हैं कि क्षणिक होने के कारण शब्द से अर्थबोध नहीं हो सकता है । अत: शब्द नित्य शब्दात्मा को अभिव्यक्त करता है और उससे अर्थबोध होता है । उसी अभिव्यंग शब्दात्मा को स्फोट कहते हैं । स्फोट के दो भेद किये जा सकते है—पदस्फोट और वाक्यस्फोट । पदस्फोट पद के अर्थ का बोध कराता है और वाक्यस्फोट वाक्य के अर्थ का बोध कराता है ।

स्फोटवादियों का कहना है कि अकारादि वर्ण अर्थ के वाचक नहीं हो सकते हैं । यदि वर्णों को वाचक माना जाय तो व्यस्त वर्ण वाचक होंगे

या समस्तवर्ण ।'गौ:' इस पद में गकार, औकार और विसर्ग ये तीन वर्ण हैं ।व्यस्त (पृथक्) वर्णों को वाचक मानने पर एक गकार वर्ण से ही गौ की प्रतिपत्ति हो जायेगी । तब द्वितीय आदि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ है । अत: व्यस्त वर्ण वाचक नहीं होते हैं । समस्त वर्णों को वाचक मानना भी ठीक नहीं है । क्योंकि वर्ण तो क्रम से उत्पन्न होते हैं । द्वितीय वर्ण की उत्पत्ति के समय प्रथम वर्ण नष्ट हो जायेगा और तृतीय वर्ण की उत्पत्ति के समय प्रथम और द्वितीय वर्णों की सत्ता नहीं रहेगी । ऐसी स्थिति में वर्णों का समुदाय नहीं बन सकता है । तब समस्त वर्ण अर्थ के वाचक कैसे हो सकते हैं ? ऐसा भी संभव नहीं है कि पूर्व वर्णों की अपेक्षा के बिना ही अन्तिम वर्ण अर्थ का वाचक हो जाय । अत: यह निर्विवाद तथ्य है कि व्यस्त अथवा समस्त वर्ण अर्थ के वाचक नहीं हो सकते हैं । किन्तु गौ आदि शब्दों के द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है । यह प्रतीति स्फोट के बिना नहीं हो सकती है । इसलिए वर्णों से व्यतिरिक्त और अर्थप्रतीति का हेतु स्फोट नामक तत्त्व अवश्य मानना चाहिए ।

यह स्फोट श्रोत्रविज्ञान में निरंश प्रतिभासित होता है । क्योंकि श्रवणव्यापार के अनन्तर एक स्फोटरूप तत्त्व का अवभास करने वाली संवित्ति का अनुभव हम सबको होता है । यह संवित्ति वर्णविषयक नहीं है ।परस्पर में व्यावृत्तरूप वर्ण एक प्रतिभास के जनक नहीं हो सकते हैं । यह स्फोट नित्य है । इसको अनित्य मानने में अनेक दोष आते हैं । यदि स्फोट अनित्य है तो संकेतकाल में गृहीत स्फोट को उसी समय नष्ट हो जाने पर देशान्तर और कालान्तर में गौशब्द के सुनने पर गायरूप अर्थ की प्रतीति नहीं होगी । क्योंकि असंकेतित शब्द से अर्थ की प्रतीति संभव नहीं है । अन्यथा गौ रहित द्वीप से आगत नर को भी गौशब्द के सुनने पर गायरूप अर्थ की प्रतीति हो जाना चाहिए । किन्तु उसे ऐसी प्रतीति नहीं होती है । इस प्रकार स्फोटवादी अपने मत का समर्थन करते हुए स्फोट नामक तत्त्व की सिद्धि करते हैं ।

उत्तरपक्ष—

स्फोटवादियों का उक्त मत तर्कसंगत नहीं है । स्फोट नामक तत्त्व का सद्भाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है । जब दृष्ट कारण शब्द से

अर्थ की प्रतीति होती है तो अदृष्ट कारण स्फोट की कल्पना करना युक्ति संगत नहीं है । स्फोटवादियों का कहना है व्यस्त वर्णों से अथवा समस्त वर्णों से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है । इस विषय में हमारा कहना यह है कि जैनमतानुयायी श्रूयमाण पूर्ववर्णध्वंसविशिष्ट अन्त्यवर्ण से गौ आदि अर्थ की प्रतीति मानते हैं । इसलिए पूर्व वर्णों के उच्चारण के व्यर्थ होने का दोष हमारे मत में नहीं आता है । हम यह भी कह सकते हैं कि पूर्व वर्णों से जनित संस्कार की अपेक्षा से अन्त्य वर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है । सर्वप्रथम प्रथम वर्ण का ज्ञान होता है और उसके द्वारा संस्कार उत्पन्न होता है । इसके बाद द्वितीय वर्ण का ज्ञान होता है और पूर्व वर्ण से प्राप्त संस्कार सहित उसके द्वारा एक विशिष्ट संस्कार उत्पन्न होता है । इसी प्रकार की प्रक्रिया तृतीयादि वर्णों में भी समझ लेना चाहिए । इस प्रकार पूर्व वर्णों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्त्य वर्ण की सहायता करता है और उससे अर्थ की प्रतीति होती है । पदार्थ की प्रतिपत्ति में जो प्रक्रिया ऊपर बतलायी गई है वही प्रक्रिया वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में भी स्वीकार करना चाहिए । इस प्रकार सहकारी कारण तालु आदि की अपेक्षा से अन्त्य वर्ण के द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति का निश्चय अन्वय-व्यत्तरेक के द्वारा हो जाता है । हम कह सकते हैं कि पूर्ब वर्ण सापेक्ष अन्त्य वर्ण के सद्भाव में पदार्थ की प्रतिपत्ति होती है और उसके अभाव में पदार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती है । ऐसी स्थिति में अदृष्ट स्फोट की परिकल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है ।

स्पोटवादी मानते हैं कि व्यस्त वर्णों से अथवा समस्त वर्णों से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है । यदि ऐसा है तो हम उनसे यह भी कह सकते हैं कि वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे होगी । जिस प्रकार समस्त वर्ण अथवा व्यस्त वर्ण अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकते हैं, उसी प्रकार वे स्फोट की अभिव्यक्ति भी नहीं करा सकते हैं । अत: स्फोट के अभिनिवेश को छोड़ देना ही श्रेयस्कर है ।

यहाँ जानने योग्य विशेष बात यह है कि चैतन्य आत्मा को छोड़कर अन्य किसी पदार्थ में अर्थ को जानने का सामर्थ्य ही नहीं है । इसलिए जानने की शक्ति सम्पन्न आत्मा को ही स्फोट मान लेना चाहिए । 'स्फुटति प्रकटीभवति अर्थ: अस्मिन् इति स्फोट: चिदात्मा' । इस प्रकार स्फोट शब्द

का निरुक्ति सिद्ध अर्थ निकलता है । पदार्थसम्बन्धी ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से युक्त आत्मा पद स्फोट कहलाता है । तथा वाक्यार्थसम्बन्धी ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से युक्त आत्मा वाक्यस्फोट कहलाता है । अत: यह कहा जा सकता है कि जिसमें अर्थ स्फुट (प्रकट) होता है वह विशिष्ट शक्ति सम्पन्न चिदात्मा ही स्फोट है । भावश्रुतज्ञानरूप से परिणत आत्मा को स्फोट मानने में कोई विरोध भी नहीं है ।

इतना सब होने पर भी यदि स्फोटवादियों का शब्दस्फोट के मानने में प्रबल आग्रह है तो फिर गन्धादि का स्फोट भी मानना चाहिए । जिस प्रकार श्रवण इन्द्रिय के विषयभूत शब्द में अर्थप्रतिपादकत्व न होने से अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए स्फोटवादी शब्दस्फोट की कल्पना करते हैं, उसीप्रकार घ्राणेन्द्रिय के विषय गन्ध में, रसना इन्द्रिय के विषय रसमें, चक्षु इन्द्रिय के विषय रूप में और स्पर्शन इन्द्रिय के विषय स्पर्श में उस उस इन्द्रिय के विषयभूत अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए क्रमश: गन्धस्फोट, रसस्फोट, रूपस्फोट और स्पर्शस्फोट की कल्पना करना चाहिए । यदि स्फोटवादियों को गन्धादि के स्फोट को स्वीकार करना अभीष्ट नहीं है तो शब्दस्फोट के अभिनिवेश को भी छोड़ देना चाहिए । तथा पद और वाक्य को अर्थ प्रतिपत्ति का कारण मान लेना चाहिए । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्दस्फोट अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण नहीं है, परन्तु पद और वाक्य अर्थप्रतिपत्ति के कारण होते हैं ।

पद-वाक्यस्वरूप विचार

पद और वाक्य से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है । इसलिए पद और वाक्य का लक्षण जान लेना आवश्यक है ।

पद और वाक्य का लक्षण इस प्रकार है—

वर्णानां तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम् ।
पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति ।

अर्थात् परस्पर में सापेक्ष किन्तु वर्णान्तर से निरपेक्ष ऐसा वर्णों का जो समुदाय है उसको पद कहते हैं । जैसे घट एक पद है । पद और शब्द दोनों पर्यायवाची हैं । घट पद में घ्+अ+ट्+अ ये चार वर्ण हैं । ये चारों

वर्ण जब परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं तभी घट पद बनता है । यह पद किसी अन्य वर्ण की अपेक्षा नहीं रखता है । इसी प्रकार परस्पर सापेक्ष पदों के निरपेक्ष समुदाय का नाम वाक्य है । जैसे महावीर अन्तिम तीर्थंकर हैं । इस वाक्य में चार पद हैं और वे परस्पर में सापेक्ष हैं । तथा इन चारों के मेल से जो वाक्य बना है वह अन्य किसी पद की अपेक्षा नहीं रखता है ।

एक अन्य प्रकार का भी वाक्य होता है जो प्रकरणगम्य होता है और जिसे मूल वाक्य में जोड़कर अर्थ का प्रतिभास कराया जाता है । जैसे 'न देवः' इस सूत्र के वाक्य में 'नपुंसकाः भवन्ति' यह प्रकरण गम्य है और मूल वाक्य में इसकी अपेक्षा रहती है । तभी पूरा अर्थ समझ में आता है कि देव नपुंसक नहीं होते हैं । निराकांक्षत्व धर्म प्रतिपत्ता पुरुष का है, वाक्य या पद का नहीं । यदि कोई पुरुष 'न देवाः' इतने मात्र से पूरा अर्थ समझ लेता है तो उसे 'नपुंसकाः भवन्ति' इस वाक्य की आकांक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार किसी ने कहा— 'तत्र च सत्यभामा' इस वाक्य में 'तिष्ठति' इतना पद अपेक्षित है । फिर भी 'न देवाः और तत्र च सत्यभामा' ये दोनों वाक्य कहलाते हैं । क्योंकि प्रकरण के ज्ञाता पुरुष को इतने वाक्य से भी अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है ।

• *तृतीय परिच्छेद समाप्त* •

चतुर्थ परिच्छेद

इस परिच्छेद में प्रमाण के विषय का विवेचन किया गया है । यहाँ सर्वप्रथम यह बतलाया गया है कि प्रमाण का विषय क्या है—

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥ १ ॥

सामान्य और विशेषरूप अर्थ प्रमाण का विषय होता है ।

जैनदर्शन में प्रत्येक पदार्थ न केवल सामान्य रूप है और न विशेष रूप है, किन्तु उभयरूप है । कुछ दार्शनिक पदार्थ को केवल सामान्यरूप मानते हैं तथा अन्य दार्शनिक उसे केवल विशेषरूप मानते हैं । परन्तु जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ उभयरूप (सामान्य-विशेषात्मक) है और ऐसा पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है ।

इसी बात का समर्थन आगे सूत्र में किया गया है—

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति-स्थितिलक्षणपरिणामेन अर्थक्रियोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

अनुवृत्त और व्यावृत्त प्रत्यय का गोचर (विषय) होने से तथा पूर्व आकार का परिहार, उत्तर आकार की प्राप्ति और दोनों आकारों में स्थित रहने वाले ध्रौव्यरूप परिणाम के द्वारा अर्थक्रिया की उपपत्ति (सद्भाव) होने से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है ।

प्रत्येक पदार्थ अनुवृत्त और व्यावृत्त प्रत्यय का विषय होता है । सब गायों में 'गौ गौ' इत्यादिरूप से जो प्रत्यय (बोध) होता है वह अनुवृत्त प्रत्यय है । अनुवृत्त प्रत्यय का विषय सामान्य है । श्याम गाय धवल गाय से भिन्न है, इत्यादिप्रकार से सब गायों में परस्पर में भेद कराने वाला जो प्रत्यय है वह व्यावृत्त प्रत्यय कहलाता है । व्यावृत्त प्रत्यय का विषय विशेष होता है । बाह्य तथा आध्यात्मिक जितना भी प्रमेय है वह सब अनुवृत्त और व्यावृत्त प्रत्यय का विषय होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि सब प्रमेय सामान्य-विशेषात्मक हैं । प्रत्येक अर्थ को सामान्यविशेषरूप सिद्ध करने के लिए एक हेतु और भी है । प्रत्येक पदार्थ में अर्थक्रिया देखी जाती है । जलधारण आदि घट की अर्थक्रिया है । शीतनिवारण आदि पट की अर्थक्रिया है । इस प्रकार सब पदार्थों के द्वारा अर्थक्रिया की जाती है । अर्थक्रिया का

मतलब है—अर्थ का अपना काम । प्रत्येक पदार्थ अपना काम करता है । परन्तु प्रत्येक पदार्थ में अर्थक्रिया तभी बन सकती है जब वह सामान्य-विशेषात्मक हो । पूर्व पर्याय का त्याग और उत्तर पर्याय की अवाप्ति (प्राप्ति) ये दोनों अवस्थाएं विशेषरूप हैं तथा उन दोनों अवस्थाओं में रहनेवाला ध्रौव्यरूप द्रव्य सामान्यरूप है । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषरूप है और ऐसे पदार्थ से ही अर्थक्रिया हो सकती है । इससे भी यह सिद्ध होता है कि सब पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं ।

सामान्य के भेद

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ३ ॥

तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य के भेद से सामान्य दो प्रकार का है ।

तिर्यक् सामान्य का स्वरूप

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥ ४ ॥

एक जाति के सब द्रव्यों में जो सदृश परिणमन होता है उसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं । जैसे खण्डी, मुण्डी आदि सब गायों में 'गौ गौ' ऐसा जो प्रत्यय होता है वह गोत्व सामान्य के कारण होता है । अतः गोत्व तिर्यक् सामान्य कहलाता है । इसी प्रकार अन्य सब पदार्थों में तिर्यक् सामान्य रहता है । जैसे सब मनुष्यों मनुष्यत्व और सब घटों में घटत्व रहता है वह तिर्यक् सामान्य है ।

ऊर्ध्वता सामान्य का स्वरूप

परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥ ५ ॥

पूर्वापर पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं । जैसे अपनी स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायों में रहनेवाला मृद्द्रव्य ऊर्ध्वता-सामान्य कहलाता है ।

घट की उत्पत्ति के पहले मृद्द्रव्य क्रमशः शिवक, छत्रक, स्थास, कोश, कुशूल आदि विभिन्न पर्यायों में रहकर अन्त में घट पर्याय के रूप में उत्पन्न होता है । मृद्द्रव्य का अन्वय स्थास आदि सब पर्यायों में समान-रूप से पाया जाता है । अतः अनुवृत्त प्रत्यय का विषय होने के कारण गोत्व की तरह मृद्द्रव्य भी सामान्य है । विशेषता यह है कि गोत्व तिर्यक्

सामान्य है और मृद्द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है । ऐसा जैनदर्शन में सामान्य का स्वरूप है ।

बौद्धदर्शन में सामान्य का स्वरूप

बौद्धदर्शन में सामान्य पदार्थ के विषय में एक विशिष्ट कल्पना है । सामान्य एक कल्पनात्मक वस्तु है । इसको संवृतिसत् (अवास्तविक) माना गया है । बौद्धदर्शन गोत्व, मनुष्यत्व आदि को कोई वास्तविक पदार्थ नहीं मानता है । जितने मनुष्य हैं वे सब अमनुष्य से (पृथक्) हैं तथा सब एक सरीखा कार्य करते हैं । अत: उनमें एक मनुष्यत्व सामान्य की कल्पना कर ली गई है । यही बात गोत्व आदि सामान्य के विषय में भी जान लेना चाहिए । गोत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्य अतद्व्यावृत्तिरूप है । अर्थात् गोत्वसामान्य अगोव्यावृत्तिरूप है और मनुष्यत्व सामान्य अमनुष्यत्वव्यावृत्तिरूप है । सब गायों में अगोव्यावृत्ति रहती है और इसी अगोव्यावृत्ति को सामान्य माना गया है । बौद्धदर्शन में दो ही तत्त्व हैं— विशेष और सामान्य । विशेष को स्वलक्षण कहते हैं । स्वलक्षण को परमार्थसत् माना गया है । बौद्धों का कथन है कि विशेष को छोड़कर अन्य कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है । यह सामान्य है और यह विशेष है ऐसा बुद्धिभेद कभी नहीं होता है । तथा बुद्धिभेद के बिना पदार्थों में भेद की व्यवस्था नहीं की जा सकती है । अत: खण्डी, मुण्डी आदि गौ व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य किसी सामान्य की प्रतीति न होने से जैनों के द्वारा माना गया सामान्य का लक्षण अवास्तविक है । ऐसी बौद्धों की मान्यता है ।

जैनदर्शन की दृष्टि से बौद्धों की उक्त मान्यता समीचीन नहीं है । क्योंकि 'गौ गौ' इत्यादिरूप से अबाधित प्रत्यय के विषयभूत गोत्वादि सामान्य का अभाव नहीं किया जा सकता है । यदि जो अबाधित प्रत्यय का विषय है उसका भी असत्त्व माना जाय तो विशेष का भी असत्त्व मानना पड़ेगा । बुद्धि में जो अनुगताकार की प्रतीति होती है वह किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होती है । वह प्रत्येक देश में और प्रत्येक काल में अबाधित ही रहती है और पदार्थों में सामान्य के व्यवहार का हेतु होती है । अत: अनुगताकार का प्रतिभास करने वाली अबाधित बुद्धि अनुगताकाररूप

वस्तुभूत सामान्य की सिद्धि करती है । बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि सामान्य और विशेष में बुद्धिभेद न होने के कारण विशेष को छोड़कर अन्य कोई वास्तविक सामान्य नहीं है । क्योंकि सामान्य और विशेष में बुद्धिभेद प्रतीतिसिद्ध है । एक ही आश्रय में रहने वाले रूपरसादि में भी बुद्धिभेद के कारण ही भेद की सिद्धि होती है । यदि एकेन्द्रिय (चक्षु) के विषय होने के कारण गोत्वादि सामान्य और कृष्ण, श्वेत आदि गौरूप विशेष में अभेद माना जाय तो वात और आतप में भी अभेद मानना पड़ेगा । क्योंकि वे भी एकेन्द्रिय (स्पर्शनेन्द्रिय) के विषय होते हैं । अत: सर्वत्र प्रतिभास भेद ही भेदव्यवस्था का हेतु होता है ।

अनुगताकार सामान्यप्रतिभास का और व्यावृत्ताकार विशेषप्रतिभास का अनुभव यह सिद्ध करता है कि सामान्य और विशेष दोनों का पृथक् अस्तित्व है । अनुगताकार जो सामान्य प्रतिभास होता है वह बाह्य में साधारणनिमित्त गोत्वादि सामान्य के बिना नहीं हो सकता है । असाधारण व्यक्ति विशेष भी सामान्य प्रतिभास के हेतु नहीं हो सकते हैं । क्योंकि वे तो भेदरूप होने के कारण भेद प्रतिभास ही करायेंगे । सामान्य को अतद्-व्यावृत्तिरूप अथवा अतत्कार्यकारणरूप मानना भी युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि यदि खण्डी, मुण्डी आदि गायों में सदृशपरिणमनरूप सामान्य नहीं रहेगा तो उनमें अगोव्यावृत्ति तथा अतत्कार्यकारणव्यावृत्ति भी नहीं बन सकती है । अतत्कार्यकारणव्यावृत्ति का मतलब यह है कि अश्वादि व्यक्तियों की गौ आदि व्यक्तियों के साथ कार्यकारणभाव की व्यावृत्ति है । अर्थात् अश्वादि गौ आदि का न तो कारण हैं और न कार्य हैं । अत गौ में अतत्कार्यकारणव्यावृत्ति रहती है ऐसा बौद्ध मानते हैं । किन्तु इस प्रकार की अतत्कार्यकारणव्यावृत्ति गायों में गोत्व सामान्य के बिना नहीं बन सकती है । यदि अनुगत प्रत्यय सामान्य के बिना भी हो जाता है तो फिर व्यावृत्त प्रत्यय भी विशेष के बिना हो जाने का प्रसंग प्राप्त होगा । इसलिए अनुगताकार प्रतिभास का आलम्बन वस्तुभूत सामान्य को मानना बौद्धों के लिए अपरिहार्य है । इस प्रकार बौद्धाभिमत संवृतिसत् सामान्य का निराकरण करके यहाँ सामान्य को परमार्थसत् सिद्ध किया गया है ।

नैयायिक-वैशेषिक दर्शन में सामान्य का स्वरूप

जिसके कारण एक जाति की वस्तुओं में अनुगत (सदृश) प्रतीति

होती है उसे सामान्य कहते हैं । जैसे गोत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्य कहलाते हैं । सामान्य नित्य, एक, व्यापक, निष्क्रिय और निरंश है । इसके दो भेद हैं—पर सामान्य और अपर सामान्य । इनमें सत्ता या सत्त्व पर सामान्य है तथा द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, गोत्व, मनुष्यत्व आदि अपर सामान्य कहलाते हैं । गाय के उत्पन्न होने पर गोत्व सामान्य उत्पन्न नहीं होता है और गाय के मर जाने पर गोत्व सामान्य का नाश नहीं होता है । क्योंकि वह नित्य है । गोत्वादि सामान्य एक है, अनेक नहीं । एक ही गोत्व सामान्य सब गायों में रहता है । सामान्य व्यापक है । एक ही सामान्य सर्वत्र पाया जाता है । अर्थात् एक ही गोत्व सामान्य समस्त गायों में विद्यमान रहता है । ऐसा नहीं है कि पृथक् पृथक् गायों में पृथक् पृथक् गोत्व सामान्य रहता हो । व्यापक होने के कारण सामान्य निष्क्रिय है । जो व्यापक होता है उसमें क्रिया नहीं होती है । जैसे आकाश में क्रिया नहीं पायी जाती है । सामान्य निरंश होता है । जब सामान्य एक और व्यापक है तो उसमें अंशों की कल्पना नहीं की जा सकती है । ऐसा नैयायिक-वैशेषिकों का मत है ।

सामान्य के विषय में नैयायिक-वैशेषिकों का उक्त अभिमत सर्वथा निर्दोष नहीं है । उक्त मत में सामान्य का जो स्वरूप बतालाया गया है वह तो ठीक है, किन्तु सामान्य को एक, नित्य और व्यापक मानना युक्तिसंगत नहीं है । सामान्य को सर्वथा नित्य मानने पर उसके द्वारा अर्थक्रिया नहीं हो सकती है । सर्वथा नित्य वस्तु न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत् । जो पदार्थ अर्थक्रिया नहीं करता है वह वस्तु नहीं कहला सकता है । क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु का लक्षण है । यदि सामान्य एक और व्यापक है तो विभिन्न गौ व्यक्तियों के अन्तराल में गोत्व सामान्य की उपलब्धि होना चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है । जहाँ गाय है वहीं गोत्व की उपलब्धि होती है । गाय रहित प्रदेश में कभी भी गोत्व नहीं पाया जाता है । एक प्रश्न यह भी है कि एक गाय में गोत्व सामान्य पूर्णरूप से रहता है या अशंरूप से । यदि गोत्व एक है और वह एक गाय में पूर्णरूप से रहता है तो दूसरी गायों में गोत्व कैसे रहेगा ? सामान्य को निरंश मानने के कारण ऐसा भी नहीं माना जा सकता है कि विभिन्न गायों में सामान्य अंश रूप से रहता है ।

यौगों (नैयायिक-वैशेषिक) ने सामान्य को विशेषों से पृथक् माना है । गोत्व पृथक् है और गाय पृथक् है तथा गोत्व सामान्य सब गायों में समवाय सम्बन्ध से रहता है । किन्तु सामान्य और विशेष को पृथक् पृथक् मानना युक्तिसंगत नहीं है । यथार्थ बात तो यह है कि सामान्य और विशेष परस्पर में पृथक्भूत न होकर अपृथक्भूत हैं । नैयायिक-वैशेषिकों के द्वारा अभिमत नित्य, व्यापक, एक, निष्क्रिय और निरंश सामान्य का बौद्ध-दार्शनिक धर्मकीर्ति ने जो तार्किक खण्डन किया है उसका उत्तर देना उनके लिए अत्यन्त कठिन है । धर्मकीर्ति ने इस विषय में प्रमाणवार्तिक में कहा है—

न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वमाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥

इस श्लोक का विशेषार्थ इस प्रकार है । एक गाय के उत्पन्न होने पर उसमें गोत्व सामान्य कहाँ से आता है । किसी दूसरे स्थान से या दूसरे गोपिण्ड से तो गोत्व सामान्य इस गाय में आ नहीं सकता है । क्योंकि नैयायिकों के द्वारा सामान्य को निष्क्रिय माना गया है । यदि ऐसा माना जाय कि सामान्य वहाँ पहले से ही था तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि आधार के बिना वहाँ सामान्य कैसे रह सकता है । गाय के उत्पन्न हो जाने के बाद भी गोत्व सामान्य वहाँ उत्पन्न नहीं हो सकता है । क्योंकि सामान्य नित्य है । ऐसा भी नहीं हो सकता है कि दूसरी गाय के गोत्व सामान्य का एक अंश इस गाय में आ जाय । क्योंकि सामान्य निरंश है । यह भी संभव नहीं है कि पहली गाय को पूर्णरूप से छोड़कर गोत्व सामान्य पूरा का पूरा इस गाय में आ जाय । क्योंकि ऐसा मानने पर पहली गाय गोत्वरहित हो जाने के कारण गाय ही नहीं रह जायेगी । अतः ऐसा मानना ही युक्तिसंगत है कि सदृशपरिणामलक्षण सामान्य विशेषपरिणामलक्षण विशेष की तरह प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न भिन्न है । इस प्रकार यौगाभिमत सामान्य में अनेक दोष आने के कारण गोत्वादि सामान्य को अनेक, अनित्य और अव्यापक मानना ही श्रेयस्कर है ।

ब्राह्मणत्वजातिनिरास

आचार्य प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे । उनकी तर्कणाशक्ति का परिचय

ब्राह्मणत्व जाति के निराकरण के प्रसंग में मिलता है । इस प्रकरण में ब्राह्मणत्व जाति के एकत्व और नित्यत्व का निराकरण करके उसे मनुष्यत्वादि की तरह सदृशपरिणामरूप ही सिद्ध किया है । आचार्य प्रभाचन्द्र जन्मना जाति का निराकरण अनेक युक्तियों से करते हैं और ब्राह्मणत्व जाति को गुणकर्मानुसारिणी मानते हैं । वे ब्राह्मणत्व जाति निमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप, दान आदि के व्यवहार को भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्न से उपलक्षित व्यक्ति विशेष में ही करने का परामर्श देते हैं ।

पूर्वपक्ष—

मीमांसक, नैयायिक आदि कुछ दार्शनिक मानते हैं कि समस्त ब्राह्मणों में रहने वाली ब्राह्मणत्व जाति नित्य और एक है । यह ब्राह्मण है, यह ब्राह्मण है, इत्यादि प्रकार से अनुगतप्रत्ययरूप ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है । पिता आदि में ब्राह्मणत्व के ज्ञान से पुत्र में भी ब्राह्मणत्व का ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार अनुमान प्रमाण से भी ब्राह्मणत्व जाति की सिद्धि होती है । ब्राह्मणत्व यह पद घट आदि पद की तरह एक सामान्य पद है और यह पद अनेक ब्राह्मण व्यक्तियों से भिन्न एक सामान्य निमित्त ब्राह्मणत्व से सम्बद्ध है । अनेक ब्राह्मण व्यक्तियों में 'यह ब्राह्मण है' ऐसा जो व्यवहार होता है वह ब्राह्मणत्व जाति के कारण ही होता है । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ब्राह्मण व्यक्ति में ब्राह्मणत्व रहता है और इसी कारण सब ब्राह्मण व्यक्तियों में ब्राह्मणत्व का व्यवहार होता है । सब ब्राह्मण व्यक्तियों में 'यह ब्राह्मण है, यह ब्राह्मण है', ऐसा जो ज्ञान होता है उसका कारण गौर वर्ण, अध्ययन, आचार, यज्ञोपवीत आदि से भिन्न कोई सामान्य ही होता है । अर्थात् ब्राह्मणत्व के कारण ही वैसा ज्ञान होता है । जैसे कि गौ, अश्व आदि का ज्ञान गोत्व, अश्वत्व आदि सामान्य के द्वारा ही होता है । आगमप्रमाण से भी ब्राह्मणत्व की सिद्धि होती है । आगम में बतलाया गया है—'ब्राह्मणेन यष्टव्यं ब्राह्मणो भोजयितव्यः' । अर्थात् ब्राह्मणों को यज्ञ करना चाहिए, ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए, इत्यादि आगम वाक्यों से भी यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण व्यक्तियों से भिन्न एक ब्राह्मणत्व जाति है जो गोत्वादि की तरह सब ब्राह्मण व्यक्तियों में रहती है । यह ब्राह्मणत्व जाति गोत्व, मनुष्यत्व आदि की तरह नित्य, एक तथा व्यापक है । ऐसा मीमांसक, नैयायिक आदि दार्शनिकों का मत है ।

उत्तरपक्ष—

ब्राह्मणत्व जातिवादियों का उक्त मत प्रमाणसंगत नहीं है । यह कहना ठीक नहीं है कि ब्राह्मणत्व की प्रतिपत्ति प्रत्यक्ष से होती है । प्रत्यक्ष से ब्राह्मणत्व की सिद्धि करना सर्वथा गलत है । प्रत्यक्ष से ऐसा ज्ञान तो होता है कि यह मनुष्य है, किन्तु ऐसा ज्ञान नहीं होता है कि यह ब्राह्मण है । ब्राह्मण के सिर पर ऐसा कोई चिह्न नहीं होता है जिसे देखकर कोई पहचान सके कि यह ब्राह्मण है ।

जिस प्रकार विभिन्न गायों में सादृश्य लक्षण गोत्व की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है, उस प्रकार देवदत्त आदि में ब्राह्मणत्व की प्रतीति प्रत्यक्ष से नहीं होती है । अन्यथा यह ब्राह्मण है या अन्य है, ऐसा संशय नहीं होना चाहिए । किन्तु ऐसा संशय होता है और इसके निराकरण के लिए गोत्रादि बतलाना पड़ता है । इसके विपरीत यह गाय है अथवा मनुष्य है, ऐसा निश्चय करने के लिए गोत्रादि को बतलाने की अपेक्षा नहीं होती है । इसका तात्पर्य यही है कि ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति प्रत्यक्ष से नहीं होती है । यदि ब्राह्मणत्व जाति के निश्चय के लिए प्रत्यक्ष का कोई सहायक कारण होता है तो वह क्या है ? आकार विशेष या वेदाध्ययनादिक ? आकारविशेष तो ब्राह्मणत्व के निश्चय में सहायक नहीं हो सकता है । क्योंकि उस प्रकार का आकार विशेष अब्राह्मण में भी संभव है । वेदाध्ययन या अन्य कोई क्रियाविशेष भी ब्राह्मणत्व के निश्चय में सहायक नहीं हो सकती है । क्योंकि कोई शूद्र भी देशान्तर में ब्राह्मण बनकर वेदाध्ययन करता हुआ तथा वेद विहित क्रियाविशेष को करता हुआ देखा जाता है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति प्रत्यक्ष से नहीं होती है ।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि पिता आदि में ब्राह्मणत्व के ज्ञान से पुत्र में भी ब्राह्मणत्व का ज्ञान हो जाता है । क्योंकि ब्राह्मण यह शब्द औपाधिक है । अत: यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त क्या है—माता-पिता का अविप्लुतत्व (अव्यभिचारित्व) अथवा ब्रह्मा से उत्पन्न होना । इनमें से प्रथम पक्ष मानना संगत नहीं है । क्योंकि अनादि-कालीन माता-पिता की परम्परा में अव्यभिचारित्व का निश्चय संभव नहीं है । कामातुर होने के कारण इस जन्म में भी नारियों में

व्यभिचार देखा जाता है । अतः योनि के कारण ब्राह्मणत्व का निश्चय नहीं किया जा सकता है । अर्थात् इस बालक का पिता ब्राह्मण ही था ऐसा निश्चय करना असंभव है ।

अव्यभिचारी माता-पिता की सन्तान में और व्यभिचारी माता-पिता की सन्तान में कोई विलक्षणता भी नहीं देखी जाती है । जिस प्रकार गर्दभ और अश्व से उत्पन्न घोड़ी की सन्तान में वैलक्षण्य पाया जाता है, उस प्रकार ब्राह्मण और शूद्र से उत्पन्न ब्राह्मणी की सन्तान में वैलक्षण्य नहीं पाया जाता है । अतः माता-पिता की अव्यभिचारिता को ब्राह्मणत्व का कारण नहीं माना जा सकता है । क्योंकि माता-पिता के व्यभिचाररहित होने का निर्णय करना अशक्य है । यहाँ एक बात विशेषरूप से विचारणीय है कि माता-पिता के अव्यभिचारित्व से ब्राह्मणत्व मानने वालों के यहाँ व्यास, विश्वामित्र आदि ऋषियों में ब्राह्मणत्व की सिद्धि कैसे होगी । क्योंकि वे अव्यभिचारी माता-पिता की सन्तान नहीं है । अतः माता-पिता का अव्यभिचारित्व ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त नहीं है ।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि ब्राह्मण ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण कहलाते हैं । क्योंकि परमत के अनुसार तो सम्पूर्ण मानव जाति ब्रह्मा से उत्पन्न हुई है । तब तो सभी को ब्रह्मण मानना चाहिए । इस दोष का निवारण करने के लिए ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि ब्रह्मा के मुख से जो उत्पन्न हुआ है वह ब्राह्मण है, अन्य नहीं । क्योंकि जब सब मानव ब्रह्मा से उत्पन्न हुए हैं तब उनमें ऐसा भेद करना कि यह मुख से उत्पन्न हुआ है और यह पैर से उत्पन्न हुआ है, सर्वथा असंगत है । एक वृक्ष से उत्पन्न होने वाले फल में मूल, मध्य और शाखा को लेकर भेद नहीं किया जा सकता है । इस प्रकार ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होना भी ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त नहीं है । यहाँ यह भी विचारणीय है कि ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है या नहीं । यदि ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व नहीं है तो फिर ब्रह्मा से ब्राह्मण की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? जिस प्रकार अमनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है उसी प्रकार अब्राह्मण से ब्राह्मण की उत्पत्ति भी संभव नहीं है । यदि ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है तो पूरे शरीर में ब्राह्मणत्व है अथवा मुख प्रदेश में ही ब्राह्मणत्व है । यदि ब्रह्मा के पूरे शरीर में ब्राह्मणत्व

रहता है तो फिर उससे उत्पन्न प्राणियों में ब्राह्मण, शूद्र आदि का कोई भेद नहीं बन सकेगा । अब यदि ब्रह्मा के मुख प्रदेश में ही ब्राह्मणत्व माना जाय तो दूसरे प्रदेश में वह शूद्रता को प्राप्त होगा । और ऐसी स्थिति में उसके पाद आदि अन्य अवयव शूद्र की तरह वन्दनीय नहीं होंगे, किन्तु विप्रों की उत्पत्ति का स्थान केवल ब्रह्मा का मुख ही वन्दनीय होगा ।

ब्राह्मणत्व जातिवादियों से हम पूछना चाहते हैं कि ब्राह्मणत्व किसमें रहता है—जीव में, शरीर में, संस्कार में अथवा वेदाध्ययन में । जीव में ब्राह्मणत्व मानने से तो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में भी ब्राह्मणत्व का प्रसंग प्राप्त होगा । शरीर में ब्राह्मणत्व संभव नहीं है । क्योंकि पंचभूतात्मक शरीर में घटादि की तरह ब्राह्मणत्व नहीं हो सकता है । संस्कार में ब्राह्मणत्व मानने में दोष यह है कि यज्ञोपवीत आदि संस्कार तो शूद्र बालक का भी किया जा सकता है । ऐसी स्थिति में संस्कार के बाद शूद्र बालक में भी ब्राह्मणत्व मानना पड़ेगा । वेदाध्ययन करने मात्र से भी कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता है । क्योंकि कोई शूद्र देशान्तर में जाकर वेद का पठन-पाठन कर सकता है । किन्तु इतने मात्र से वह ब्राह्मण नहीं हो जाता है ।

ब्राह्मणत्वजातिवादी ब्राह्मणत्व को नित्य मानते हैं । फिर भी वे कहते हैं कि जप, तप होम आदि ब्राह्मण के योग्य क्रियाओं के न करने से तथा शूद्र का भोजन करने से ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है । इस विषय में कहा भी गया है—

शूद्रान्नाच्छूद्रसम्पर्काच्छूद्रेण सह भाषणात् ।
इह जन्मनि शूद्रत्वं मृतः श्वा चाभिजायते ॥

अर्थात् शूद्र द्वारा पकाया गया भोजन करने से, शूद्र के साथ सम्पर्क रखने से और शूद्र के साथ वार्तालाप करने से ब्राह्मण इसी जन्म में शूद्र हो जाता है और मरने के बाद श्वानयोनि में उत्पन्न होता है । इस प्रकार के कथन में कितना विरोधाभास है । ब्राह्मणत्व जाति को नित्य मानना और कुछ कारणों द्वारा उसका नाश भी मानना विरोधाभ्यास नहीं तो और क्या है । ऐसी परस्पर विरुद्ध बातों का कहना बुद्धिमानों को शोभा नहीं देता ।

यह निश्चित है कि ब्राह्मणत्व जाति के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है । थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि ब्राह्मणत्व जाति का अस्तित्व

है तो वेश्या के घर में प्रविष्ट ब्राह्मण नारियों में ब्राह्मणत्व का अभाव क्यों माना जाता है तथा उनकी निन्दा क्यों की जाती है । ब्राह्मणत्व जाति तो पवित्रता का हेतु है और नित्य होने से वह पूर्ववत् विद्यमान ही है । यदि ऐसा नहीं है तो ब्राह्मणत्व को गोत्व से भी निकृष्ट मानना पड़ेगा । क्योंकि चाण्डाल के घर में प्रविष्ट और चिरकाल तक पोषित गौ आदि का शिष्ट पुरुषों के द्वारा पुन: ग्रहण कर लिया जाता है, किन्तु वेश्या के घर में प्रविष्ट ब्राह्मणियों का पुन: ग्रहण नहीं किया जाता है । यदि आप वेश्या के घर में प्रविष्ट ब्राह्मणी में ब्राह्मण के योग्य क्रिया का भ्रंश हो जाने से ब्राह्मणत्व की निवृत्ति मानते हैं तो व्रात्य में भी क्रिया का भ्रंश पाये जाने के कारण ब्राह्मणत्व की निवृत्ति मानना पड़ेगी । उपनयन आदि संस्कारों से रहित ब्राह्मण को व्रात्य कहते हैं । परन्तु ऐसा नहीं है कि व्रात्य में ब्राह्मणत्व नहीं रहता है । अत: क्रिया का भ्रंश होने पर भी जिस प्रकार व्रात्य में ब्राह्मणत्व का सद्भाव है, उसी प्रकार वेश्या के घर में प्रविष्ट ब्राह्मणी में भी ब्राह्मणत्व का सद्भाव है । और ऐसा मानना ही युक्तिसंगत है ।

यहाँ ब्राह्मणत्व जातिवादियों का कहना है कि ब्राह्मणत्व जाति का अभाव मानने पर जैनों के मत में वर्णाश्रम व्यवस्था और उसके निमित्त से होने वाला तप, जप, दान आदि का व्यवहार कैसे बनेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जप, तप आदि क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्न से उपलक्षित व्यक्ति विशेष में वर्णाश्रम व्यवस्था और तप, दान आदि का व्यवहार सुगमता से बन जाता है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं । प्रत्येक वर्ण और आश्रम के अपने अपने कर्तव्य भी पृथक् पृथक् हैं । जैसे तप करना, दान देना, दान लेना, यज्ञ करना, यज्ञ करवाना इत्यादि ब्राह्मणों का कर्तव्य है । इसी प्रकार क्षत्रिय आदि के भी पृथक् पृथक् कर्तव्य हैं । अत: वर्णाश्रम व्यवस्था और तप, दानादि के व्यवहार का कारण ब्राह्मणत्व जाति नहीं है । यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियों का सद्भाव जन्मना और अनादि माना जाय तो परशुराम के द्वारा समस्त भूमण्डल को इक्कीस बार क्षत्रिय रहित कर देने पर भी क्षत्रियों की पुन उत्पत्ति कैसे संभव हुई ? परशुराम की तरह कोई क्षत्रिय पुरुष इस भूमण्डल को ब्राह्मण रहित भी कर सकता है । तब ब्राह्मणों की उत्पत्ति कैसे संभव होगी ? अत: ऐसा

मानना चाहिए कि ब्राह्मणत्व आदि जाति के बिना ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का व्यवहार अपनी अपनी क्रियाविशेष के कारण ही होता है । इसके साथ ही ऐसा भी मानना चाहिए कि सदृशक्रियारूप परिणमन के कारण ही व्यक्तियों में ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि जाति विशेष की व्यवस्था होती है और ऐसा मानना ही तर्कसंगत है ।

ब्राह्मणत्व जाति के निराकरण के प्रकरण में आचार्य प्रभाचन्द्र के उदार विचारों का परिचय मिलता है । वे जन्मना ब्राह्मणत्व जाति का खण्डन अनेक प्रकार के तर्कों और प्रमाणों के आधार से करते हैं तथा ब्राह्मणत्व जाति को गुण और कर्म के अनुसार मानते हैं । उन्होंने ब्राह्मणत्व जाति के एकत्व और नित्यत्व का निराकरण करके उसे मनुष्यत्व, गोत्व आदि की तरह सदृशपरिणमनरूप ही सिद्ध किया है । वे वर्णाश्रमव्यवस्था और तप, दान आदि के व्यवहार को भी यज्ञ, दानादि क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्न से उपलक्षित व्यक्तिविशेष में ही करने का परामर्श देते हैं ।

क्षणभंगवाद :

पूर्वपक्ष—

क्षणभंगवाद बौद्धदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । इसके अनुसार संसार के समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, और वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं । वैसे तो प्रत्येक दर्शन भंग (नाश) को मानता है, किन्तु बौद्धदर्शन की विशेषता यह है कि कोई भी वस्तु एक क्षण ही ठहरती है और दूसरे क्षण में वह वह नहीं रहती है, परन्तु दूसरी हो जाती है । अर्थात् वस्तु का प्रत्येक क्षण में स्वाभाविक नाश होता रहता है । सब पदार्थों में क्षणिकत्व की सिद्धि अनुमान के द्वारा इस प्रकार की गई है—सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । अर्थात् सब पदार्थ क्षणिक हैं, सत् होने से । सत् वह कहलाता है जो कुछ अर्थक्रिया (काम) करे । अब देखना यह है कि नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया हो सकती है या नहीं । बौद्धदर्शन की मान्यता है कि नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया हो ही नहीं सकती है । क्योंकि नित्य वस्तु न तो युगपत् (एक साथ) अर्थक्रिया कर सकती है और न क्रम से । यदि नित्य वस्तु युगपत् अर्थक्रिया करती है तो संसार के समस्त पदार्थों को एक साथ एक समय में ही उत्पन्न

हो जाना चाहिए । और ऐसा होने पर आगे के समय में नित्य वस्तु को कुछ भी काम करने को शेष नहीं रहेगा । अत: वह अर्थक्रिया के अभाव में अवस्तु हो जायेगी । इस प्रकार नित्य वस्तु में युगपत् अर्थक्रिया नहीं बनती है ।

नित्य वस्तु क्रम से भी अर्थक्रिया नहीं कर सकती है । यदि नित्य वस्तु सहकारी कारणों की सहायता से कार्य करती है तो यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सहकारी कारण उसमें कुछ विशेषता (अतिशय) उत्पन्न करते हैं या नहीं । यदि सहकारी कारण नित्य वस्तु में कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं तो वह नित्य नहीं रह सकती है । और यदि सहकारी कारण नित्य वस्तु में कुछ भी विशेषता उत्पन्न नहीं करते हैं तो सहकारी कारणों के मिलने पर भी वह पहले की तरह ही कार्य नहीं कर सकेगी । एक बात यह भी है कि नित्य पदार्थ स्वयं समर्थ होता है । अत: उसे सहकारी कारणों की कोई अपेक्षा भी नहीं होनी चाहिए । इस प्रकार नित्य पदार्थ में न तो युगपत् अर्थक्रिया हो सकती है और न क्रम से । और अर्थक्रिया के अभाव में वह सत् नहीं रह सकता है । क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही सत् का लक्षण है । अर्थक्रिया के अभाव में तो वह असत् हो जायेगा । इससे यही सिद्ध होता है कि जो सत् है वह नियम से क्षणिक है और क्षणिक पदार्थ ही अर्थक्रिया कर सकता है । यही बौद्धों का क्षणभंगवाद है । क्षणभंग के कारण ही बौद्धदर्शन विनाश को स्वाभाविक और निर्हेतुक मानता है । पदार्थ का विनाश प्रत्येक क्षण में स्वयं होता रहता है, किसी दूसरे के द्वारा नहीं । घट का जो विनाश दण्ड के द्वारा होता हुआ देखा जाता है वह घट का विनाश न होकर कपाल की उत्पत्ति है । दण्ड घट का विनाश नहीं करता है किन्तु कपाल की उत्पत्ति करता है ।

उत्तरपक्ष—

बौद्धों का उक्त कथन प्रमाणसंगत नहीं है । प्रत्यक्ष के द्वारा ऐसी प्रतीति नहीं होती है कि प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनाशशील है । प्रत्यक्ष में तो स्थिर, स्थूल आदि स्वरूप वाले पदार्थ ही प्रतिभासित होते हैं । बौद्धों ने कहा है कि नित्य पदार्थ न तो युगपत् अर्थक्रिया कर सकता है और न क्रम से । इसके उत्तर में हम भी यह कह सकते हैं कि क्षणिक पदार्थ न तो युगपत् अर्थक्रिया कर सकता है और न क्रम से । यदि क्षणिक पदार्थ एक

क्षण में ही एक साथ सब पदार्थों को उत्पन्न कर देता है तो द्वितीय आदि क्षणों में उसे करने को कुछ भी नहीं रह जायेगा । और तब वह अर्थक्रियाकारी न होने कारण असत् हो जायेगा । क्षणिक पदार्थ क्रम से भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता है । क्योंकि वह केवल एक ही क्षण तो ठहरता है । उसमें न तो देशकृत क्रम बन सकता है और न कालकृत क्रम । अवस्थित एक पदार्थ के नाना देशों में रहने को देशकृत क्रम और नानाकालों में रहने को कालकृत क्रम कहते हैं । ऐसा देशकृत क्रम तथा कालकृत क्रम क्षणिक पदार्थ में संभव ही नहीं है । अनेक क्षणों की एक सन्तान मानकर भी उनमें क्रम नहीं बन सकता है । क्योंकि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह सन्तान वास्तविक है या अवास्ताविक । सन्तान को वास्तविक मानने पर फिर प्रश्न होगा कि वह क्षणिक है या अक्षणिक । यदि सन्तान क्षणिक है तो उसमें भी कोई क्रम नहीं बनेगा । अब यदि सन्तान को अक्षणिक माना जाय तो बौद्धों को स्वमत हानि का प्रसंग प्राप्त होता है । सन्तान को अवास्तविक मानने से तो कोई लाभ नहीं है । क्योंकि अवस्तुभूत सन्तान में भी न तो क्रम बन सकता है और न वह अर्थक्रिया कर सकती है । इससे यही सिद्ध होता है कि सर्वथा क्षणिक पदार्थ अर्थक्रिया नहीं कर सकता है । यथार्थ में कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य पदार्थ ही अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है ।

सब पदार्थों को स्वभाव से विनाशरूप मानना भी ठीक नहीं है । ऐसा नहीं है कि घटादि पदार्थों का विनाश विनाश के कारणों की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही हो जाता है । हम तो प्रत्यक्ष के द्वारा यही अनुभव करते हैं कि दण्डादि के प्रहार से घट का विनाश होता है । यह कहना भी ठीक नहीं है कि दण्ड के प्रहार से घट का विनाश न होकर कपाल की उत्पत्ति होती है । क्योंकि कपालरूप पर्याय की उत्पत्ति का नाम ही घट का विनाश है । किसी भी पर्याय का न तो निरन्वय विनाश होता है और न किसी पर्याय की निरन्वय उत्पत्ति होती है । अतः विनाश को पदार्थ का स्वभाव मानना और प्रतिक्षण विनाश मानना ये दोनों बातें संगत नहीं हैं । बौद्ध विनाश को अहेतुक और उत्पाद को सहेतुक मानते हैं । यहाँ हम बौद्धों से कह सकते हैं कि विनाश की तरह उत्पाद को भी अहेतुक मानिए । अथवा उत्पाद की तरह विनाश को भी सहेतुक मानिए । यदि विनाश निर्हेतुक है

तो उत्पत्ति के अनन्तर ही क्यों विनाश हो जाता है ? ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो निर्हेतुक है वह उत्पत्ति के अनन्तर ही नष्ट हो जाता है ।

क्षणिकैकान्त पक्ष में कृतनाश और अकृताभ्यागम का दोष भी आता है । सब पदार्थ क्षणिक हैं ऐसा मानने पर सब पुरुष भी क्षणिक सिद्ध होते हैं । अब यहाँ प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति अच्छा या बुरा जैसा कर्म करता है उसको वैसा फल मिलता है या नहीं । शास्त्र तथा अनुभव तो यही कहता है कि अपने कर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अच्छा या बुरा फल मिलता है । किन्तु क्षणिकैकान्त पक्ष स्वीकार करने पर तो जिस व्यक्ति ने अच्छा या बुरा जो कर्म किया उसको उसका फल नहीं मिलेगा । क्योंकि वह तो कर्म करने के बाद ही नष्ट हो जाता है । यही कृतनाश है । अब यह देखिए कि जिस पुरुष ने कुछ भी कर्म नहीं किया उसको पूर्ववर्ती पुरुष के द्वारा कृत कर्म का फल मिल जायेगा । यही अकृताभ्यागम है । स्वर्ग जाने योग्य कर्म जिसने किया था वह तो स्वर्ग नहीं गया और जिसने कुछ भी नहीं किया था वह स्वर्ग चला गया । यह कितनी विचित्र बात है । इस बात में कितने बड़े अनर्थ की संभावना रहती है । अतः सर्वथा क्षणिकैकान्त के आग्रह को छोड़कर पदार्थ को कथंचित् नित्यानित्यात्मक स्वीकार करना चाहिए । ऐसा ही मत श्रेयस्कर है ।

सम्बन्धसद्भाववाद

पूर्वपक्ष—

बौद्ध मानते हैं कि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श परमाणु सजातीय और विजातीय परमाणुओं से व्यावृत्त होते हैं तथा उनमें लोहे की शलाकाओं की तरह कोई सम्बन्ध नहीं होता है । पदार्थों में स्थूलत्वादि धर्मों की जो प्रतीति होती है वह भ्रान्त है । यदि पदार्थों में सम्बन्ध माना जाय तो या तो वह पारतन्त्र्यरूप होगा अथवा रूपश्लेष (परस्पर में अनुप्रवेश) रूप होगा । निष्पन्न पदार्थों में पारतन्त्रयरूप सम्बन्ध संभव ही नहीं है । कहा भी है—

पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता ।
तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥

जो पदार्थ सिद्ध (निष्पन्न) हैं उनमें कौनसी परतन्त्रता हो सकती

है ? अर्थात् उनमें सह्य और विन्ध्य पर्वतों के समान कोई परतन्त्रता नहीं हो सकती है । वास्तव में सब पदार्थों में कोई सम्बन्ध होता ही नहीं है । दो पदार्थों में रूपश्लेष सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता है । क्योंकि दो पदार्थों का रूपश्लेष हो जाने पर उनमें द्वित्व न रहकर एकत्व ही रहेगा । कहा भी है—

रूपश्लेषो हि सम्बन्धः द्वित्वे स कथं भवेत् ।
तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥

इसलिए स्वभाव से भिन्न परमाणुओं में वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं होता है । यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि परमाणुओं में रूपश्लेष सम्बन्ध होता है तो वह सर्वदेश से होगा या एकदेश से । सर्वदेश से सम्बन्ध मानने पर अणुओं का पिण्ड अणुरूप हो जायेगा । और एक देश से सम्बन्ध मानने पर परमाणु के छह अंश मानना पड़ेंगे । क्योंकि चारों दिशाओं से और ऊपर-नीचे से सम्बन्ध के लिए परमाणु में छह अंशों का होना आवश्यक है । किन्तु परमाणु तो निरंश होता है ।

यह भी जानने योग्य है कि सम्बन्ध पर की अपेक्षा से होता है । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सम्बन्ध की अपेक्षा रखनेवाला पदार्थ स्वयं सत् है या असत् । यदि वह सत् है तो वह पर से सम्बन्ध की अपेक्षा क्यों करेगा । वह तो निष्पन्न और सत् होने के कारण सदा निराकांक्ष ही रहेगा । यदि वह असत् है तो भी वह सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं कर सकता है । जो स्वयं असत् है वह खरविषाण की तरह किसी की अपेक्षा कैसे कर सकता है ? कहा भी है—

परापेक्षा हि सम्बन्धः सोऽसन् कथमपेक्षते ।
संश्च सर्व-निराशंसो भावः कथमपेक्षते ॥

कार्यकारणभाव को भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है । क्योंकि कार्य और कारण दोनों एक काल में तो रहते नहीं है । कारण के काल में कार्य नहीं रहता है और कार्य के काल में कारण नहीं रहता है । अतः भिन्न भिन्न कालवर्ती दो पदार्थों में कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता है । इत्यादि प्रकार से बौद्धों ने परमाणुओं में अथवा पदार्थों में सम्बन्ध के सद्भाव का निषेध किया है ।

उत्तरपक्ष—

बौद्धों का उक्त कथन समीचीन नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाण से ही पदार्थों में सम्बन्ध की सिद्धि होती है । तन्तु से सम्बद्ध पट का और पट से सम्बद्ध रूपादि का प्रतिभास प्रत्यक्ष से होता ही है । यदि उनमें कोई सम्बन्ध न हो तो उनका असम्बद्धरूप से ही प्रतिभास होना चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है । जब उनमें सम्बन्ध की प्रतीति हो रही है तो उनमें असम्बन्ध की कल्पना कैसे की जा सकती है ? सम्बन्ध न मानने पर घटादि में अर्थक्रिया का सद्भाव भी संभव नहीं होगा । परमाणुओं में सम्बन्ध न होने के कारण उनके द्वारा जलधारण, आहरण आदि अर्थक्रिया कदापि नहीं हो सकती है । ऐसी अर्थक्रिया तो घट के द्वारा ही संभव है । इसी प्रकार सम्बन्ध के अभाव में रज्जु, वंश (बाँस) आदि के एक देश के आकर्षण से उसके अन्य सम्पूर्ण भाग का आकर्षण (खींचना) नहीं होना चाहिए । किन्तु रज्जु (रस्सी) के एक देश के आकर्षण से पूरी रस्सी का आकर्षण होता है । इससे यही सिद्ध होता है कि पदार्थों में सम्बन्ध का सद्भाव है ।

बौद्धों ने 'पारतन्त्रयं हि सम्बन्धः' इत्यादि जो कहा है वह कथनमात्र है । क्योंकि परमाणुओं में एकत्वपरिणतिरूप अथवा स्कन्धपरिणतिरूप सम्बन्ध प्रतीति सिद्ध है । हम परमाणुओं का सम्बन्ध न तो सर्वदेश से मानते हैं और न एक देश से मानते हैं, किन्तु भिन्न प्रकार से ही मानते हैं । जैनदर्शन में परमाणुओं में स्निग्ध और रूक्ष गुणों के कारण सम्बन्ध माना गया है, जैसे सत्तू और जल में सम्बन्ध देखा जाता है । परमाणुओं में पारस्परिक सम्बन्ध हो जाने के बाद वे एक स्कन्धरूप परिणत हो जाते हैं और स्थूल आकार को धारण कर लेते हैं । उक्त पारतन्त्रयलक्षण सम्बन्ध कथंचित् निष्पन्न पदार्थों में पाया जाता है । पट तन्तुरूप द्रव्य की अपेक्षा से निष्पन्न है, किन्तु स्वरूप की अपेक्षा से अनिष्पन्न है । अतः पट और तन्तुओं में पारतन्त्र्यलक्षण सम्बन्ध मानने में कोई दोष नहीं है ।

इसी प्रकार बौद्धों का 'रूपश्लेषो हि सम्बन्धः' इत्यादि कथन एकान्त-वादियों के मत में ही दूषण दे सकता है, अनेकान्तवादियों के मत में नहीं । हमनें तो उन्हीं पदार्थों में रूपश्लेषलक्षण सम्बन्ध माना है जिनका स्वभाव एकत्वरूप परिणत होने का है । बौद्धों द्वारा कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध

का निराकरण भी समीचीन नहीं है । क्योंकि हम लोग सहभावित्व अथवा क्रमभावित्व को कार्यकारणभाव का कारण नहीं मानते हैं । किन्तु जिसके होने पर जिसकी उत्पत्ति नियम से होती है वह उसका कार्य है, और जिसके होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है वह उसका कारण है । इनमें कुछ कार्य और कारण सहभावी होते हैं । जैसे मृद्द्रव्य और घट में सहभावी कार्यकारणभाव है । कुछ कार्य और कारण क्रमभावी होते हैं । जैसे अग्नि और धूम में क्रमभावी कार्यकारणभाव है । पदार्थों की पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय में जो कार्यकारणभाव है वह भी क्रमभावी कार्य-कारणभाव है । पदार्थों में कार्यकारणरूप, व्याप्यव्यापकरूप, पारतन्त्र्यरूप रूपश्लेषरूप आदि अनेक प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है । इस प्रकार यहाँ बौद्धाभिमत असम्बन्धवाद का निराकरण करके सम्बन्धसद्भाववाद का समर्थन किया गया है ।

विशेष के भेद

विशेषश्च ॥ ६ ॥ पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥ ७ ॥

सामान्य की तरह विशेष के भी दो भेद हैं—पर्यायविशेष और व्यतिरेक-विशेष ।

पर्यायविशेष का स्वरूप

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्ष-विषादादिवत् ॥ ८ ॥

एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्यायविशेष कहते हैं । जैसे आत्मा में होने वाले हर्ष, विषाद आदि परिणाम पर्यायविशेष हैं ।

एक द्रव्य में क्रम से अनेक परिणाम होते रहते हैं । आत्मा नामक द्रव्य में कभी हर्ष होता है तो कभी विषाद होता है, कभी सुख होता है तो कभी दुःख होता है, कभी शोक है तो कभी प्रमोद होता है । ये सब आत्मा के परिणाम हैं और इन्हीं को पर्यायविशेष कहते हैं । सामान्य में अनुवृत्त प्रत्यय होता है और विशेष में व्यावृत्त प्रत्यय होता है । हर्ष और विषाद पर्यायों में व्यावृत्त प्रत्यय होता है । अर्थात् हर्ष पर्याय विषाद पर्याय से भिन्न है, ऐसा ज्ञान होता है । विभिन्न पर्यायों में इसी भेद का नाम पर्यायविशेष

है । विभिन्न पर्यायें आत्मा में ही नहीं होती हैं, किन्तु पुद्गल आदि सब द्रव्यों में भी होती हैं । अतः सब द्रव्यों में पर्यायरूप विशेष पाया जाता है ।

अन्वयी आत्मा की सिद्धि

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि हर्ष, विषाद आदि चैतसिक पर्यायों को छोड़कर अन्य कोई पृथक् आत्मा नहीं है । अतः आत्मा में हर्ष, विषाद आदि का उदाहरण देना ठीक नहीं है । बौद्धों का यह कथन समीचीन नहीं है । चित्राकार ज्ञान की तरह आत्मा भी अनेक आकारों (पर्यायों) में व्याप्त रहता है और इसकी प्रतीति स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से होती है । बौद्ध अनात्मवादी हैं । इसलिए वे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं । किन्तु अनात्मवाद का सिद्धान्त कल्याणकारी नहीं है । जिस प्रकार बौद्धदर्शन में नीलपीतादि अनेक आकारवाला एक चित्रज्ञान माना गया है, उसी प्रकार जैनदर्शन में हर्ष, विषाद आदि अनेक आकारों में व्याप्त रहने वाला एक आत्मतत्त्व माना गया है । सुख-दुःखादि पर्यायों का परस्पर में तथा आत्मा से सर्वथा भेद नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर 'मैं पहले सुखी था, अब दुःखी हूँ' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा । आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करने पर बौद्ध मत में कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषों का निराकरण नहीं हो सकता है ।

बौद्ध आत्मा को न मानकर दीपक की लौ की तरह केवल ज्ञान की सन्तान मानते हैं और यह सन्तान प्रतिक्षण बदलती रहती है । सन्तान के एक क्षण का दूसरे क्षण से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है । बौद्धदर्शन में निरन्वय विनाश और उत्पाद होते रहते हैं । अतः जिस सन्तान ने जो कर्म किया है उसका फल उसे नहीं मिलेगा । यह कृतनाश है । और जिस सन्तान ने कोई कर्म किया ही नहीं है उसको पूर्व की सन्तान के कर्म का फल मिल जायेगा । यही अकृताभ्यागम है । अन्वयी आत्मा के अभाव में इन दोषों का निराकरण संभव नहीं है । अन्वयी आत्मा की सिद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से तो होती ही है । इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञान से भी उसकी सिद्धि होती है । मैंने ही पहले जाना था और मैं ही इस समय जान रहा हूँ, इत्यादि रूप से एक प्रमाता को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान से अन्वयी आत्मा की सिद्धि होती है । आत्मा को छोड़कर अन्य किसी सन्तान में प्रमातृत्व संभव

नहीं है । अत: आत्मा ही प्रमाता सिद्ध होता है । जिस प्रकार चित्रज्ञान नीलादि आकाररूप से परिणत होता है, उसी प्रकार आत्मा सुखादि पर्यायरूप से परिणत होता है । तथा सुखादि अनेक आकाररूप से परिणत होने पर भी आत्मा में एकत्व का व्याघात नहीं होता है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि एक ऐसी आत्मा है जिसका सुखादि विभिन्न पर्यायों में सदा अन्वय बना रहता है । इसी का नाम अन्वयी आत्मा है । इस प्रकार यहाँ युक्तिपूर्वक अन्वयी आत्मा की सिद्धि की गई है ।

व्यतिरेक विशेष का स्वरूप

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥ ९ ॥

एक अर्थ से दूसरे अर्थ में पाये जाने वाले विसदृश परिणमन को व्यतिरके कहते हैं । जैसे गाय, भैंस आदि में जो विसदृश परिणमन पाया जाता है वह व्यतिरेक नामक विशेष है ।

एक अर्थ से सजातीय तथा विजातीय अर्थ अर्थान्तर कहलाता है । एक गाय से दूसरी गाय अर्थान्तर है और एक भैंस से दूसरी भैंस अर्थान्तर है । यह हुई सजातीयों में अर्थान्तर की बात । इसी प्रकार गाय से भैंस, अश्व आदि अर्न्थान्तर हैं । यह विजातीयों में अर्थान्तर का उदाहरण है । एक गाय से दूसरी गाय में तथा एक भैंस से दूसरी भैंस में जो विसदृश परिणमन है वह व्यतिरेक है । इसी प्रकार गाय, भैंस, अश्व आदि में परस्पर में जो विसदृश परिणमन है वह भी व्यतिरेक है । कहने का तात्पर्य यह है कि विसदृश परिणमन विजातीयों में तो होता ही है, सजातीयों में भी होता है । गायों में खण्ड, मुण्ड आदि रूप विसदृश पणिमन होता है । जिस गाय का पैर टूटा हो उसे खण्डी गाय कहते हैं और जिसका सींग टूटा हो उसे मुण्डी गाय कहते हैं । इसी प्रकार भैंसों में यह भैंस विशाल है, यह बड़े सींगवाली है, इत्यादि रूप से विसदृश परिणमन पाया जाता है । इसी तरह गाय और भैंसों में पारस्परिक असाधारणलक्षणरूप विसदृश परिणमन विद्यमान रहता है ।

इस प्रकार यह बतलाया गया है कि सामान्य-विशेषरूप जो अर्थ है वही प्रमाण का विषय है, प्रमाण का विषय न केवल सामान्य है और न केवल विशेष है । समान्य और विशेष पृथक् पृथक् रह कर भी प्रमाण के

विषय नहीं हो सकते हैं । दोनों का स्वतन्त्र रूप से पृथक् पृथक् प्रतिभास भी नहीं होता है । सामान्य और विशेष दोनों परस्पर में अपृथक्भूत हैं, पृथक्भूत नहीं । सामान्य और विशेष का पदार्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है । यही कारण है कि सामान्यविशेषात्मक अर्थ प्रमाण का विषय होता है ।

अर्थ में सामान्यविशेषात्मकत्व की सिद्धि

पूर्वपक्ष—

वैशेषिकों की मान्यता है कि सामान्य और विशेष दोनों घट-पट की तरह अत्यन्त भिन्न हैं । घट और पट एक नहीं हैं, क्योंकि उनमें प्रतिभास भेद पाया जाता है तथा उनकी अर्थक्रिया भी भिन्न भिन्न होती है । घट का जैसा प्रतिभास होता है वैसा प्रतिभास पट का नहीं होता है । दोनों में प्रतिभास भेद स्पष्ट है । जलधारण, आहरण आदि घट की अर्थक्रिया है और शीतनिवारण, आच्छादन आदि पट की अर्थक्रिया है । घट-पट की तरह सामान्य और विशेष में भी प्रतिभास भेद पाया जाता है । सामान्य का प्रतिभास सदृशपरिणमनरूप होता है और विशेष का प्रतभिास विसदृशपरिणमनरूप होता है । प्रतिभासभेद होने पर भी यदि सामान्य और विशेष में भेद न माना जाय तो घट, पट आदि में भी भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा । पट और तन्तुओं में भी प्रतिभास भेद के कारण ही भेद सिद्ध होता है । प्रतिभास भेद के कारण ही अवयव और अवयवी में तथा गुण और गुणी में भेद माना गया है । पट और तन्तुओं में विरुद्धधर्माध्यास भी पाया जाता है । पट में पटत्व सामान्य रहता है और तन्तुओं में तन्तुत्व सामान्य रहता है । पट का परिमाण महान है और तन्तु का परिमाण अल्प है । यही उन दोनों में विरुद्धधर्माध्यास है ।

जैनमतानुयायी सामान्य-विशेष, में अवयव-अवयवी में और गुण-गुणी में तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु तादात्म्य का अर्थ तो एकत्व है और यदि यह एकत्व तन्तु और पटादि पदार्थों में होता तो उनका भिन्न भिन्न प्रतिभास तथा उनमें विरुद्धधर्माध्यास नहीं होता । अतः सामान्य और विशेष में तादात्म्य न होकर उनमें पृथक्त्व है । द्रव्यत्व सामान्य द्रव्य से पृथक् है और समवाय सम्बन्ध से वह द्रव्यों में रहता है । इसी प्रकार

गुणत्व सामान्य गुणों में और कर्मत्व सामान्य कर्मों में समवाय सम्बन्ध के कारण ही रहता है । ऐसी वैशेषिकों की मान्यता है ।

उत्तरपक्ष—

वैशेषिकों की उक्त मान्यता तर्कसंगत नहीं है । सामान्य और विशेष न तो परस्पर में पृथक् हैं और न अर्थ से पृथक् हैं । वास्तव में सामान्य और विशेष अर्थ की आत्मा हैं । सामान्य और विशेष को छोड़कर अर्थ का अन्य कोई स्वरूप नहीं है । इसीलिए अर्थ के साथ सामान्य और विशेष का तादात्म्य माना गया है । तादात्म्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—तौ आत्मानौ यस्य तस्य भावः तादात्म्यम् । सामान्य और विशेष को अर्थ की आत्मा (स्वरूप) होने का नाम ही तादात्म्य है ।

सामान्य-विशेष आदि अनेक धर्मात्मक पदार्थ ही वास्तविक है, क्योंकि वह परस्पर में विलक्षण अनेक अर्थक्रियाओं को करता है । जैसे एक ही देवदत्त परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होने वाली पिता, पुत्र, पौत्र, भ्रातृ, मातुल, भागिनेय इत्यादि अनेक प्रकार की अर्थक्रियाओं को करता है । घटादि पदार्थों में भी सत्-असत् प्रत्यय, अनुवृत्त-व्यावृत्त प्रत्यय, जलधारण, आहरण आदि अनेक प्रकार की अर्थक्रियाओं का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है । यह कहना भी सर्वथा गलत है कि अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि सर्वथा भिन्न हैं । गुण-गुणी आदि सर्वथा भिन्न नहीं है । प्रमाण के द्वारा जहाँ जैसा प्रतिभास होता है उसी के अनुसार पदार्थ का स्वरूप मानना चाहिए । जहाँ पर पदार्थों में अत्यन्त भेद की प्रतीति होती है वहाँ पर घट और पट की तरह अत्यन्त भेद मानना चाहिए । और जहाँ पर कथंचित् भेद की प्रतीति होती है वहाँ पर कथंचित् भेद मानना चाहिए । अवयव-अवयवी में और गुण-गुणी में कथंचित् भेद है, सर्वथा नहीं ।

यदि आत्मा आदि द्रव्य को सर्वथा नित्य माना जाय तो उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्म, मरण आदि कैसे बनेंगे । यदि आत्मा अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को धारण करता है तो वह अनेकान्तात्मक सिद्ध होता है । सुख-दुःखादि पर्यायें भी आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं हैं, किन्तु कंथचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं । जीव, पुद्गल, आकाश, काल, घट, पट आदि समस्त पदार्थ अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि विरोधी

प्रतीत होने वाले धर्मों को धारण करने के कारण अनेकान्तात्मक सिद्ध होते हैं । प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषरूप अथवा भेदाभेदरूप है । इस प्रकार प्रत्येक अर्थ में सामान्यविशेषात्मकत्व की सिद्धि होती है ।

अनेकान्तवाद में संशयादि आठ दोषों का निराकरण :

एकान्तवादियों ने वस्तु को सामान्यविशेषात्मक अथवा भेदाभेदात्मक मानने में संशयादि आठ दोष बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) **संशय**—वस्तु को भेदाभेदात्मक अथवा सामान्य-विशेषात्मक मानने पर उसके असाधारण स्वरूप का निश्चय नहीं हो पाता है । और यह संशय बना रहता है कि वस्तु में किस स्वरूप की अपेक्षा से भेद है और किस स्वरूप की अपेक्षा से अभेद है । यही संशय दोष है ।

(२) **विरोध**—जहाँ अभेद है वहाँ भेद का विरोध है और जहाँ भेद है वहाँ अभेद का विरोध है । जैसे शीत और उष्ण स्पर्श में विरोध है । यह विरोध दोष है ।

(३) **वैयधिकरण्य**—एक स्वभावरूप अभेद का अधिकरण अन्य है और अनेक स्वभावरूप भेद का अधिकरण दूसरा है । यह वैयधिकरण्य दोष है ।

(४) **उभयदोष**—वस्तु को एकान्तरूप से एकात्मक (एकस्वभावरूप) मानने में अनेक स्वभाव के अभावरूप जो दोष है और अनेकात्मक (अनेकस्वभावरूप) मानने में एक स्वभाव के अभावरूप जो दोष है, वह वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने में भी आता है । यही उभय दोष है ।

(५) **संकर**—वस्तु में जिस स्वभाव से एक स्वभावता है उससे अनेक स्वभावता का प्रसंग और जिस स्वभाव से अनेक स्वभावता है उससे एक स्वभावता का प्रसंग प्राप्त होगा । यही संकर दोष है । सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः । सब धर्मों की युगपत् प्राप्ति का नाम संकर है ।

(६) **व्यतिकर**—वस्तु में जिस स्वभाव से अनेकत्व है उससे एकत्व की प्राप्ति होगी । और जिस स्वभाव से एकत्व है उससे अनेकत्व की प्राप्ति होगी । यही व्यतिकर दोष है । परस्परविषयगमनं व्यतिकरः । परस्पर में एक दूसरे के विषय में जाना व्यतिकर कहलाता है ।

(७) **अनवस्था**—वस्तु में जिस रूप से भेद है उससे कथंचित् भेद होगा और जिस रूप से अभेद है उससे भी कथंचित् अभेद होगा । पुनः उनमें भी भेद और अभेद की कल्पना से अनवस्थादोष आता है ।

(८) **अभाव दोष**—वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने में संशयादि दोषों के आने के कारण उसके स्वरूप की यथार्थ प्रतिपत्ति संभव न होने से उसके अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है । यही अभाव दोष है ।

उक्त दोषों का परिहार—

वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने में संशयादि दोषों की जो कल्पना की जाती है वह वस्तु के स्वरूप को ठीक तरह से न समझने के कारण ही की जाती है । वस्तु में भेद और अभेद दोनों की प्रतीति न होने पर ही संशय माना जा सकता है । जैसे स्थाणु और पुरुष की ठीक से प्रतीति न होने से संशय होता है । किन्तु जब वस्तु में भेद और अभेद की स्पष्ट प्रतीति हो रही है तब संशय की संभावना कैसे हो सकती है । चलित प्रतीति का नाम संशय है । किन्तु वस्तु में जो भेद और अभेद की प्रतीति होती है वह चलित नहीं है, वह तो निश्चित प्रतीति है । अतः वह संशय नहीं है ।

एक वस्तु में भेद और अभेद के रहने में कोई विरोध नहीं है । वस्तु में विवक्षित धर्मों की अपेक्षा से भेद और अभेद माना गया है । पर्याय की अपेक्षा से भेद है और द्रव्य की अपेक्षा से अभेद है । वस्तु न तो द्रव्यरूप है और न पर्यायरूप है, किन्तु उभयरूप है । विरोध तो वहाँ होता है जहाँ विद्यमान एक वस्तु का दूसरी वस्तु के आ जाने से अभाव हो जाता है । जैसे अग्नि के आ जाने से शीत का अभाव हो जाता है । परन्तु भेद के सद्भाव में अभेद का अथवा अभेद के सद्भाव में भेद का अभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है । क्योंकि वहाँ अपेक्षा भेद से भेद और अभेद एक साथ रह सकते हैं । ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है ।

एक वस्तु में भेद और अभेद मानने में वैयधिकरण्य दोष की कोई संभावना नहीं है । क्योंकि निर्बाध ज्ञान के द्वारा भेदाभेद की अथवा सत्त्वासत्त्व की एक ही आधार में प्रतीति होती है । इसी प्रकार वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने में उभयदोष की कल्पना करना ठीक नहीं है । क्योंकि स्याद्वादियों के द्वारा अभ्युपगत वस्तु जात्यन्तर (विलक्षणरूप) मानी गई है । भेदाभेद

अथवा सत्त्वासत्त्व को अन्योन्यनिरपेक्ष होने पर हमने उनमें एकत्व नहीं माना है । परन्तु परस्पर सापेक्ष भेदाभेद तथा सत्त्वासत्त्व में ही एकत्व माना गया है । इसलिए उसमें उभयदोष संभव नहीं है । एक ही वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने में संकरदोष का परिहार मेचकज्ञान के दृष्टान्त से हो जाता है । वस्तु में अनेक धर्मों की युगपत् प्राप्ति को संकर कहते हैं । जैसे मेचक रत्न में नील, पीत आदि अनेक वर्णों का प्रतिभास होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि जिस रूप से नील वर्ण का प्रतिभास होता है उसी रूप से पीत वर्ण का भी प्रतिभास होता है । परन्तु भिन्न भिन्न रूप से सभी का प्रतिभास होता है । इसी प्रकार एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न दृष्टियों से भेद और अभेद की व्यवस्था बन जाती है । अत: हमारे मत में संकरदोष संभव नहीं है । इसी प्रकार जैनदर्शन की दृष्टि से व्यतिकर दोष की भी कोई संभावना नहीं है । परस्पर में एक दूसरे के विषय में जाने को व्यतिकर कहते हैं । इस दोष के परिहार के लिए सामान्य-विशेष का दृष्टान्त दिया गया है । जैसे गोत्व खण्डी, मुण्डी आदि गायों की अपेक्षा से सामान्यरूप है और महिष, अश्व आदि की अपेक्षा से विशेषरूप है । उसी प्रकार पर्याय की दृष्टि से वस्तु में भेद की प्रतीति और द्रव्य की दृष्टि से अभेद की प्रतीति होती है । अत: स्याद्वादियों के मत में व्यतिकर दोष संभव नहीं है ।

इसी प्रकार स्याद्वादसिद्धान्त में अनवस्थादोष की कल्पना करना सर्वथा असंगत है । क्योंकि धर्मी में ही अनेकरूपता होती है, धर्मों में नहीं । एक धर्म में दूसरा धर्म संभव नहीं है । वस्तु में जो अभेद है वही धर्मी है और अनेक धर्म ही भेद कहलाते हैं । द्रव्य दृष्टि से वस्तु अभेद या एकरूप है और पर्याय दृष्टि से वह भेद या अनेकरूप है । अभेद को सामान्य और भेद को विशेष कहते हैं । भेद की प्रधानता से वस्तु के धर्म अनन्त हैं । इस प्रकार वस्तु में अनन्त धर्मों के स्वीकार करने से यहाँ अनवस्था दोष नहीं आ सकता है । अनवस्था दोष वही व्यक्ति बतला सकता है जो अनेकान्तवाद से सर्वथा अनभिज्ञ है । जब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सब प्राणियों को सदा ही अनेकान्तात्मक वस्तु का अनुभव हो रहा है तब अभावदोष तो स्पष्टरूप से निराकृत हो जाता है । क्योंकि अनुभव सिद्ध वस्तु का अभाव कैसे किया जा सकता है । इस प्रकार अनेकान्तरूप जैनशासन संशयादि दोषों से रहित सिद्ध होता है ।

यौगाभिमत अवयवी का निरास

नैयायिक-वैशेषिक अवयव और अवयवी में सर्वथा भेद मानते हैं । तथा अवयवी को एक और निरंश मानते हैं । पट अवयवी है और तन्तु उसके अवयव हैं । पट समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में रहता है । ऐसी उनकी परिकल्पना है जो सर्वथा असंगत है । क्योंकि तन्तुओं से भिन्न पटरूप अवयवी की उपलब्धि न होने के कारण यौगों के द्वारा परिकल्पित अवयवी का सत्त्व सिद्ध नहीं होता है । यदि अवयवों से भिन्न अवयवी होता तो घट की तरह उपलब्धिलक्षणप्राप्त होने से उसकी उपलब्धि अवश्य होनी चाहिए । किन्तु अवयवों से पृथक् उसकी उपलब्धि कभी नहीं होती है । अत: वह असत् ही कहलायेगा । यह कहना भी ठीक नहीं है कि दोनों का समानदेश होने के कारण अवयवी की अवयवों से पृथक् उपलब्धि नहीं होती है । हम देखते हैं कि वात और आतप में तथा रूप और रस में समान देश होने पर भी उनकी पृथक् पृथक् उपलब्धि होती है ।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि अवयव और अवयवी में शास्त्रीय देश की अपेक्षा से समानदेशता है अथवा लौकिक देश की अपेक्षा से समानदेशता है । प्रथम पक्ष तो असंगत है । क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से दोनों का देश समान न होकर भिन्न भिन्न है । पट अवयवी के आरंभिक तन्तुओं का देश अन्य है तथा पट का देश अन्य है । तन्तु अपने अवयवों (रुई के रेशों में) में रहते हैं और पट अपने अवयव तन्तुओं में रहता है । इसलिए उनका देश समान नहीं है । द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं है । लोक में समानदेशता का मतलब होता है—एक भाजन में रहना । जैसे कुण्ड में बेरों का रहना । ऐसी समानदेशता तो अर्थों में भेद को ही सिद्ध करती है, अभेद को नहीं । लौकिक दृष्टि से कुण्ड और बेरों में समानदेशता होने पर भी अभिन्नता नहीं है । उसी प्रकार अवयव और अवयवी में भी अभेद नहीं है ।

अब यह बतलाइये कि कुछ अवयवों का प्रतिभास होने पर अवयवी का प्रतिभास होता है या सम्पूर्ण अवयवों का प्रतिभास होने पर । प्रथम विकल्प ठीक नहीं है । क्योंकि जल में निमग्न महाकाय गज के ऊपर के कुछ अवयवों का प्रतिभास होने पर भी सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त गज अवयवी का प्रतिभास नहीं होता है । द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है ।

क्योंकि मध्यभाग और परभागवर्ती अवयवों का प्रतिभास संभव न होने के कारण अवयवी का प्रतिभास भी संभव नहीं होगा । यौगों ने अवयवी को एक और निरंश माना है । किन्तु एक और निरंश अवयवी का एक साथ अनेक अवयवों में रहना भी संभव नहीं है । हम कह सकते हैं कि जो द्रव्य निरंश और एक है वह एक साथ अनेक द्रव्य के आश्रित नहीं रहता है, जैसे परमाणु । यदि एक अवयवी अनेक अवयवों में रहता है तो प्रश्न यह है कि अवयवी अपने अवयवों में पूर्णरूप से रहता है या एक देश से रहता है । यदि अवयवी प्रत्येक अवयव में पूर्णरूप से रहता है तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी मानना पड़ेंगे । इसके विपरीत अवयवी की एक देश से अवयवों में वृत्ति मानने पर अवयवी में निरंशता का व्याघात आता है । अवयवी की अवयवों में एक देश से वृत्ति मानने पर अवयवी निरंश न होकर सांश (अंश सहित) सिद्ध होता है ।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि अवयवी एक और अविभागी है तो अवयवी के किसी एक देश में आवरण होने पर पूरे अवयवी में आवरण हो जाना चाहिए । इसी प्रकार एक देश में रंग होने पर पूरे अवयवी में रंग हो जाना चाहिए । क्योंकि आवृत और अनावृत तथा रक्त और अरक्त अवयवी को यौगों ने एक रूप ही माना है । किन्तु ऐसा मानने में प्रत्यक्ष से विरोध आता है । अत: अवयवी न तो निरंश है और न अवयवों से सर्वथा भिन्न है । यथार्थ में तन्तुओं का आतानवितानभूत अवस्थाविशेषरूप से परिणत होना ही पटरूप अवयवी द्रव्य है । इसलिए पट तन्तुओं से सर्वथा भिन्न नहीं है, किन्तु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है । जो बात पट और तन्तुओं के विषय में बतलाई गई है वही बात अन्य समस्त अवयवी और अवयवों के विषय में भी उसी प्रकार समझ लेना चाहिए ।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रमाण के द्वारा वस्तु का स्वरूप जैसा गृहीत होता है उसे वैसा ही मानना चाहिए । जहाँ प्रमाण पदार्थों में अत्यन्त भेद का ग्राहक है वहाँ उन पदार्थों में अत्यन्त भेद सिद्ध होता है, जैसे घट और पट में । और जहाँ प्रमाण कथंचित् भेद का ग्राहक है वहाँ कथंचित् भेद सिद्ध होता है, जैसे तन्तु और पट में । अत: तन्तुओं की अवस्थाविशेषरूप, शीतनिवारण आदि अर्थक्रिया करने में समर्थ और अपने

अवयवों से कथंचित् अभिन्न पटरूप अवयवी प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है और इसे ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए ।

बौद्धाभिमत अवयवी का निरास

बौद्धों द्वारा अवयवी की जो कल्पना की गई है वह अत्यन्त विलक्षण है । उनका कहना है कि अवयवों के समूह का नाम ही अवयवी है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई अवयवी नहीं है । यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि प्रत्येक परमाणु की सत्ता पृथक् एवं स्वतन्त्र है । एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । किन्तु सब परमाणु सन्निकट हैं, उनमें कोई अन्तराल नहीं है । इस कारण परस्पर में सम्बन्ध रहित परमाणुओं में भी भ्रान्ति से समुदाय (अवयवी) की प्रतीति होने लगती है । इसी प्रकरण में बौद्ध कहते हैं कि रूप, रस, गन्ध और वर्ण के समूह का नाम ही पट है । रूपादि को छोड़कर अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे पट कहा जाय और जो शीतादि के निवारण में समर्थ हो । चाक्षुष ज्ञान में रूप ही प्रतिभासित होता है, अन्य कोई रूपवान् पटादि अर्थ नहीं । रस आदि के प्रतिभास में भी यही बात समझ लेना चाहिए कि केवल रस आदि का ही प्रतिभास होता है, रसवान् आदि किसी पदार्थ का नहीं । अवयवी के विषय में बौद्धों की ऐसी मान्यता है ।

बौद्धों की उक्त मान्यता युक्तिसंगत नहीं है । बौद्धों ने रूपादि धर्मों का सद्भाव मानकर के भी रूपादिमान् द्रव्य का अभाव बतलाया है । हम यहाँ यह पूछना चाहते हैं कि रूपादिमान् द्रव्य का अभाव क्यों है ? क्या एकत्वरूप अवयवी और अनेकत्वरूप रूपरसादि अवयवों में विरुद्ध-धर्माध्यास होने के कारण तादात्म्य न होने से रूपादिमान् द्रव्य का अभाव है । अथवा रूपादिमान् द्रव्य के ग्रहण करने का कोई उपाय न होने से उसका अभाव है । इनमें से प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है । चित्रज्ञान की तरह हम (जैन) अवयव और अवयवी में कथंचित् तादात्म्य मानते ही हैं । जिस प्रकार एक चित्रज्ञान का अपने नीलपीतादि आकारों के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार अवयवी द्रव्य का रूपादि के साथ कथंचित् तादात्म्य मानने में कोई विरोध नहीं है । यह कहना भी सही नहीं है कि रूपादिमान् द्रव्य का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है । क्योंकि 'जिसको मैंने पहले देखा था अब

मैं उसी का स्पर्श कर रहा हूँ' इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान द्वारा रूपादिमान् द्रव्य का ग्रहण होता ही है ।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार रूपादिरहित द्रव्य प्रत्यक्ष में प्रतिभासित नहीं होता है, उसी प्रकार द्रव्यरहित रूपादि भी प्रतिभासित नहीं होते हैं । यदि मातुलिंग द्रव्य की सत्ता न हो तो उसके रूपादि स्वप्न में भी उपलब्ध नहीं हो सकते हैं । एक बात यह भी विचारणीय है कि प्रत्यक्षत्व का मतलब क्या है ? प्रत्यक्षत्व का मतलब है—अनात्मस्वरूप का परिहार करके बुद्धि में अपने स्वरूप का समर्पण करना । बौद्धमत के अनुसार ये द्रव्यरहित रूपादि प्रत्यक्ष में अपने स्वरूप का समर्पण तो करते नहीं है, फिर भी प्रत्यक्षता को स्वीकार करना चाहते हैं । इस कारण ये रूपादि अमूल्यदानक्रयी कहलायेंगे । यदि कोई पुरुष मूल्य दिये बिना कोई वस्तु खरीदना चाहता है तो वह अमूल्यदानक्रयी कहलाता है । इसी प्रकार रूपरसादि द्रव्यरहित होकर बुद्धि में अपना स्वरूप समर्पण नहीं कर सकते हैं, फिर भी प्रत्यक्ष कहलाना चाहते हैं । यही इनका अमूल्यदानक्रयित्व है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अवयवी का अर्थात् रूपादिमान् वस्तु का अभाव मानना सर्वथा असंगत है । अत: अवयवों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न घट-पटादि अवयवी द्रव्य को स्वीकार करना चाहिए ।

वैशेषिकाभिमत षट्पदार्थवाद

पूर्वपक्ष—

वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये ६ पदार्थ हैं । ये छहों पदार्थ परस्पर में अत्यन्त भिन्न हैं । इनमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये ९ द्रव्य हैं । पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार द्रव्य नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार के हैं । इनमें परमाणुरूप द्रव्य नित्य है और परमाणुओं से उत्पन्न होने वाले द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि कार्य द्रव्य अनित्य हैं । इनके अतिरिक्त आकाश आदि ५ द्रव्य नित्य हैं । इनकी उत्पत्ति कभी नहीं होती है । ये सब द्रव्य द्रव्यत्व सामान्य के सम्बन्ध से द्रव्य कहलाते हैं । आत्मा, आकाश, काल और दिशा ये चार द्रव्य व्यापक हैं । और शेष द्रव्य अव्यापक हैं । गन्ध पृथिवी का विशेष गुण है, रस जल का विशेष गुण है, रूप अग्नि का विशेष गुण है, स्पर्श वायु का विशेष गुण है और शब्द आकाश का

विशेष गुण है । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये ९ आत्मा के विशेष गुण हैं । मन अणुरूप तथा अनेक है ।

उत्तरपक्ष—

वैशेषिकों के द्वारा अभिमत द्रव्यादि छह पदार्थों का निरूपण प्रमाण संगत नहीं है । उन्होंने द्रव्यादि पदार्थों का जो स्वरूप बतलाया है अब उसी पर यहाँ विचार किया जा रहा है ।

परमाणुरूप नित्यद्रव्यविचार

पृथिवी, जल, अग्नि, और वायु इन चार द्रव्यों को नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार का बतलाया गया है । इनमें से परमाणुरूप द्रव्य को सर्वथा नित्य मानना ठीक नहीं है । क्योंकि सर्वथा नित्य द्रव्य में न तो क्रम से अर्थक्रिया बनती है और न युगपत् । और अर्थक्रिया के अभाव में उसमें सत्त्व की निवृत्ति हो जाने पर असत्त्व का प्रसंग प्राप्त होगा । यह भी विचारणीय है कि यदि सर्वथा नित्य परमाणुओं का स्वभाव द्व्यणुक आदि कार्यों को उत्पन्न करने का है तो उनसे उत्पन्न होने वाले सब कार्य एक साथ ही उत्पन्न हो जाना चाहिए । फिर भी यदि सब कार्य एक साथ उत्पन्न नहीं होते हैं तो आगामी काल में भी उनकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए । क्योंकि उनके उत्पादक कारण तो जैसे पहले थे वैसे अब भी हैं । उनमें कोई विशेषता तो उत्पन्न हुई नहीं । अब यदि ऐसा माना जाय कि जब परमाणुओं में परस्पर में संयोग होता है तब वे कार्य को उत्पन्न करते हैं, अन्यथा नहीं । तब यहाँ प्रश्न यह होगा कि परस्पर के संयोग से परमाणुओं में कोई अतिशय उत्पन्न होता है या नहीं । यदि उनमें अतिशय उत्पन्न नहीं होता है तब तो वे पूर्ववत् अकारक ही रहेंगे । और यदि संयोग के होने से उनमें कोई अतिशय उत्पन्न हो जाता है तब तो यह मानना पड़ेगा कि परमाणुओं ने पहले की असंयोगरूप अवस्था का त्यागकर संयोगरूप नूतन अवस्था को धारण कर लिया है । और ऐसा मानने पर परमाणुओं में कथंचित् अनित्यत्व स्वीकार करना अनिवार्य है ।

यहाँ यह प्रष्टव्य है कि परमाणुओं में संयोग सर्वदेश से होता है या एक देश से । प्रथमपक्ष स्वीकार करने पर अनेक परमाणुओं का पिण्ड अणुमात्र हो जायेगा । और एक देश से संयोग मानने पर परमाणुओं को

अंशसहित मानना पड़ेगा । किन्तु परमाणुओं को तो निरंश माना गया है । इत्यादि दोषों के कारण परमाणुओं में संयोगरूप अतिशय नहीं माना जा सकता है । अब यदि निरतिशय परमाणु कार्यजनक होते हैं तो सम्पूर्ण कार्यों को एक साथ उत्पन्न हो जाना चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है । इससे यही सिद्ध होता है कि परमाणुओं का परस्पर में संयोग हो जाने पर वे पहले के अजनक स्वभाव को छोड़कर विशिष्टसंयोगरूप जनक स्वभाव को धारण कर लेते हैं । अत: वे सर्वथा नित्य न रहकर कथंचित् अनित्य हो जाते हैं, और तभी वे द्व्यणुक आदि कार्य के जनक होते हैं ।

यहाँ एक बात विशेषरूप से जानने योग्य है । वह यह है कि पृथिवीत्व आदि जाति के भेद से पृथिवी, जल आदि में भेद मानना सर्वथा गलत है । यदि पृथिवी आदि में जाति भेद के कारण अत्यन्त भेद है तो उनमें परस्पर में उपादान-उपादेयभाव नहीं हो सकता है । जिन पदार्थों में जातिभेद से अत्यन्त भेद होता है उनमें कभी भी उपादान-उपादेयभाव नहीं होता है । जैसे आत्मा और पृथिवी आदि में जातिभेद से अत्यन्त भेद है तो उनमें कभी भी उपादान-उपादेयभाव संभव नहीं है । इसके विपरीत हम देखते हैं कि पृथिवी, जल आदि में निश्चितरूप से उपादान-उपादेयभाव पाया जाता है । पृथिवीरूप चन्द्रकान्तिमणि से जलकी, जल से पृथिवीरूप मुक्ताफल की, काष्ठ से अग्नि की और पंखा से वायु की उत्पत्ति देखी जाती है । इससे यही सिद्ध होता है कि पृथिवी, जल आदि में पृथिवीत्वादि जाति भेद होने पर भी अत्यन्त भेद नहीं है । इसी कारण उनमें उपादान-उपादेयभाव होता है । निष्कर्ष यह है कि पृथिवी, जल आदि में पर्याय के भेद से परस्पर में भेद है तथा रूपरसगन्धस्पर्शात्मक पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से अभेद है । इस प्रकार यहाँ नित्यपरमाणुरूप द्रव्य का निरास किया गया है ।

आकाशद्रव्यविचार

पूर्वपक्ष—

वैशेषिक आकाशद्रव्य को नित्य, निरंश और व्यापक मानते हैं । तथा शब्द को आकाश का विशेष गुण मानते हैं । वे आकाश की सिद्धि इस प्रकार करते हैं । जो पदार्थ उत्पत्तिमत्त्व, विनाशित्व आदि धर्मों से युक्त होते हैं वे किसी के आश्रित होते हैं, जैसे घटादि पदार्थ अपने अवयवों के

आश्रित होते हैं । शब्दों में भी उत्पत्तिमत्त्व और विनाशित्व धर्म पाये जाते हैं । इसलिए वे भी किसी के आश्रित होते हैं । गुण होने के कारण भी शब्द किसी के आश्रित होते हैं, जैसे रूपादि गुण घटादि के आश्रित होते हैं । शब्द में गुणत्व असिद्ध नहीं है । क्योंकि शब्द न तो द्रव्य है और न कर्म है, परन्तु इसमें सत्तासामान्य का सम्बन्ध पाया जाता है । जो द्रव्य और कर्म से भिन्न होकर सत् होता है वह गुण होता है, जैसे रूपादि गुण । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्द गुण है । जब शब्द गुण है तो उसका कोई न कोई आश्रय अवश्य होना चाहिए ।

अब यह विचार करना है कि शब्द गुण का आश्रय क्या है ? शब्द न तो परमाणुओं का विशेष गुण है और न पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों का विशेष गुण है । वह आत्मा, काल, दिशा और मन का भी विशेष गुण नहीं हो सकता है । अत: पारिशेष्यन्याय से शब्द आकाश का ही विशेषगुण सिद्ध होता है । इस कथन का तात्पर्य यही है कि शब्द गुण का जो आश्रय होता है वही आकाश है । वह आकाश व्यापक है । क्योंकि उसका गुण शब्द सर्वत्र पाया जाता है । शब्द गुण का आश्रयभूत आकाश द्रव्य व्यापक होने के साथ ही एक, नित्य और निरंश भी है । इस प्रकार वैशेषिकों ने एक स्वतंत्र आकाश द्रव्य की सिद्धि की है ।

उत्तरपक्ष—

वैशेषिकों ने शब्द को गुण मानकर यह सिद्ध किया है कि शब्द गुण का कोई आश्रय होना चाहिए । यहाँ हम वैशेषिकों से यह पूछना चाहते हैं कि आप शब्दों का कोई सामान्य आश्रय सिद्ध करना चाहते हैं अथवा नित्य, एक, अमूर्त और विभु द्रव्य को शब्दों का आश्रय बतलाना चाहते हैं । यदि आप शब्दों का कोई सामान्य आश्रय सिद्ध करना चाहते हैं तो यह पक्ष हमारे अनुकूल ही है । क्योंकि हम शब्दों को पुद्गल द्रव्य का कार्य या पर्याय होने के कारण पुद्गल के आश्रित मानते ही हैं । शब्दों को नित्य, एक, अमूर्त और विभु द्रव्य आकाश के आश्रित मानना तो किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है । शब्द को गुण मानना भी गलत है । शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय होने से पुद्गल द्रव्यरूप ही है, गुणरूप नहीं । शब्द में स्पर्शादि गुण भी पाये जाते हैं । किन्तु गुणों में गुण तो रहते नहीं हैं । इसलिए भी हम कह सकते हैं कि शब्द गुण नहीं है ।

अब हम शब्दों में स्पर्श गुण की सिद्धि करते हैं । शब्द स्पर्शवान् है, क्योंकि वह अपने से सम्बद्ध अन्य अर्थ के अभिघात का कारण होता है । जैसे कि मुद्गर आदि पदार्थ अपने से सम्बद्ध घट आदि का अभिघात करने के कारण स्पर्शवान् सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार कांसे के पात्र से उत्पन्न ध्वनि का कान के साथ सम्बन्ध होने पर कान का अभिघात देखा जाता है और इससे कान में बहिरापन भी आ जाता है । यदि शब्द स्पर्शवान् न होता तो उससे कर्ण का अभिघात होना संभव नहीं है । जिस प्रकार शब्द स्पर्श गुण का आश्रय है उसी प्रकार अल्पत्व-महत्त्व परिमाण, संख्या और संयोग गुणों का भी आश्रय है । इससे यही सिद्ध होता है कि शब्द गुण न होकर द्रव्य है ।

क्रियावान् होने के कारण भी बाणादि की तरह शब्द द्रव्य सिद्ध होता है । यदि शब्द क्रियावान् नहीं होता तो कर्ण के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकने के कारण कर्ण के द्वारा शब्द का ग्रहण नहीं होता । शब्द के निष्क्रिय होने पर भी श्रोत्र के द्वारा उसका ग्रहण मानने पर शब्द में अप्राप्यकारित्व का प्रसंग प्राप्त होगा, जो वैशेषिकों को अनिष्ट है । यदि शब्द आकाश का गुण है तो आकाश के अत्यन्त परोक्ष होने से हम लोगों के द्वारा शब्द का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । क्योंकि जो अत्यन्त परोक्ष गुणी के गुण होते हैं वे हमारे द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते हैं, जैसे परमाणु के रूपादि गुण । इत्यादि प्रकार से विचार करने पर शब्द आकाश का गुण सिद्ध नहीं होता है । यथार्थ में शब्द आकाश का गुण नहीं है किन्तु वह तो पौद्गलिक है । अतः हम कह सकते हैं कि शब्द पौद्गलिक है, क्रियावान् होने से बाणादि की तरह । निष्कर्ष यह है कि शब्द न तो आकाश का गुण है और न शब्दगुण से आकाश द्रव्य की सिद्धि होती है ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि शब्द गुण के द्वारा आकाश की सिद्धि नहीं होती है तो फिर आकाश द्रव्य की सिद्धि कैसे होती है ? इसका उत्तर यह है कि आकाश सम्पूर्ण द्रव्यों को एक साथ अवगाह (रहने का स्थान) देता है और इस अवगाहरूप कार्य या धर्म के कारण आकाश की सिद्धि होती है । एक साथ जीवादि सब द्रव्यों को अवगाह देना रूप कार्य किसी साधारण कारण की अपेक्षा रखता है और जो सब द्रव्यों के अवगाह

का साधारण कारण है वही आकाश है । जैनों के द्वारा माना गया आकाश द्रव्य एक और व्यापक होने पर भी निरंश नहीं है । उसके अंश या प्रदेश अनन्त है । आकाश के दो भेद हैं । लोकाकाश और अलोकाकाश । लोकाकाश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छहों द्रव्य रहते हैं, परन्तु अलोकाकाश में केवल आकाश की ही सत्ता है, अन्य और कोई द्रव्य वहाँ नहीं रहता है । आकाश द्रव्य के प्रदेश अनन्त हैं, किन्तु लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं ।

कालद्रव्यविचार

पूर्वपक्ष—

वैशेषिक काल द्रव्य को एक पृथक् द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं और उसकी सिद्धि पर, अपर, यौगपद्य, अयौगपद्य, चिर और क्षिप्र प्रत्ययों के द्वारा करते हैं । वे कहते है कि परापरादि प्रत्ययों का कोई विशेष कारण होना चाहिए, क्योंकि ये विशिष्ट कार्य हैं । और विशिष्ट कार्य होने के कारण ये प्रत्यय काल द्रव्य से सम्बद्ध हैं । अर्थात् ये प्रत्यय काल द्रव्य से उत्पन्न होते हैं । जो विशिष्ट कार्य होता है वह विशिष्ट कारण से उत्पन्न होता है । जैसे घटपटादि विशिष्ट कार्य अपने अपने विशिष्ट कारणों से उत्पन्न होते हैं । परापर प्रत्यय को देशकृत नहीं माना जा सकता है । क्योंकि देशकृत परापर प्रत्यय से कालकृत परापर प्रत्यय भिन्न होता है । एक ही देश में स्थित पिता में परत्व (बड़ा होना) और पुत्र में अपरत्व (छोटा होना) पाया जाता है । यह कालकृत परापर प्रत्यय है जो काल द्रव्य के बिना संभव नहीं है । देशकृत परापर प्रत्यय में तो दूर और पास का ज्ञान होता है । जैसे इस भवन से वह पर्वत दूर है । यह देशकृत परापर प्रत्यय है । कालकृत परापर प्रत्यय में बड़े और छोटे का ज्ञान होता है । अत: परापर आदि प्रत्ययों के द्वारा काल द्रव्य की सिद्धि होती है । यह काल द्रव्य आकाश के समान एक, नित्य और विभु द्रव्य है ।

उत्तरपक्ष—

वैशेषिकों ने पर, अपर, आदि प्रत्ययों के द्वारा जिस काल द्रव्य की सिद्धि की है वह एक नहीं है । वह मुख्य और व्यवहार काल के भेद से दो प्रकार का है । समय, आवलिका, लव, निमेष, घटिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन,

रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि को व्यवहार काल कहते हैं । इस व्यवहार काल का सद्भाव मुख्यकाल के बिना संभव नहीं है । और जो मुख्यकाल है वह असंख्यात कालपरमाणुरूप है । यहाँ यह स्मरणीय है कि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में एक एक कालाणु अवस्थित है । इस विषय में द्रव्यसंग्रह में बतलाया गया है—

लोयायासपएसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासीविव ते कालाणू मुणेयव्वा ॥

अर्थात् लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु रत्नों की राशि की तरह अवस्थित है । जैसे रत्नों की राशि में प्रत्येक रत्न अपना पृथक् अस्तित्व रखता है, उसी प्रकार एक कालाणु का दूसरे कालाणु से पृथक् ही अस्तित्व होता है ।

काल द्रव्य धर्म और अधर्म द्रव्य की तरह लोकाकाशव्यापी एक द्रव्य नहीं है । क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेश पर समय भेद काल को अनेक द्रव्य माने बिना नहीं बन सकता है । लंका और कुरुक्षेत्र में दिन, रात्रि आदि का पृथक् पृथक् व्यवहार उन स्थानों के कालभेद के कारण ही होता है । काल को एक अखण्ड द्रव्य मानने पर भिन्न भिन्न स्थानों में कालभेद नहीं हो सकता है । इससे यही सिद्ध होता है कि व्यवहार काल का कारण मुख्यकाल है और वह अनेक है । मुख्य काल के अभाव में व्यवहारकाल बन भी नहीं सकता है ।

वैशेषिक काल द्रव्य को निरवयव एक द्रव्यरूप मानते हैं । ऐसा मानने पर उनके यहाँ अतीत आदि काल का व्यवहार कैसे होगा ? क्योंकि निरंश काल में अतीत, अनागत और वर्तमान आदि धर्मों का सद्भाव नहीं बन सकता है । काल को सर्वथा एक मानने पर यौगपद्य आदि प्रत्ययों का अभाव भी मानना पड़ेगा । क्योंकि जो कार्यसमुदाय एक काल में युगपत् किया जाता है उसमें यौगपद्य का व्यवहार होता है । यदि काल एक है तो सकल कार्यों की युगपत् उत्पत्ति का प्रसंग आने से अयौगपद्य प्रत्यय कैसे होगा ? इसी प्रकार चिर और क्षिप्र प्रत्यय के व्यवहार का भी अभाव हो जायेगा । जो कार्य बहुत काल में किया जाता है उसमें चिर व्यवहार होता है और जो कार्य अल्प काल में किया जाता है उसमें क्षिप्र व्यवहार होता

है । परन्तु काल के एक होने पर चिर-क्षिप्र व्यवहार संभव नहीं है । इसी प्रकार काल के एक मानने पर कालकृत परापर प्रत्यय भी नहीं बन सकता है । अर्थात् यह पर (ज्येष्ठ) है और यह अपर (कनिष्ठ) है, यह आयु में बड़ा है और यह आयु में छोटा है, इत्यादि व्यवहार काल द्रव्य को सर्वथा एकरूप मानने पर नहीं हो सकता है । अतः काल द्रव्य को अनेक द्रव्यरूप स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है ।

यह तो हुई काल द्रव्य के विषय में वैशेषिकों की बात । अब यह देखना है कि क्या कुछ ऐसे भी लोग हैं जो कालद्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं । हाँ, मीमांसक और सौगत काल द्रव्य को वास्तविक नहीं मानते हैं । ऐसा मानने वालों के मत में पर, अपर, यौगपद्य, अयौगपद्य, चिर और क्षिप्र प्रत्यय नहीं बन सकेंगे । ये विशिष्ट प्रत्यय किसी कारण के बिना नहीं हो सकते हैं । क्योंकि ये प्रत्यय कभी कभी होते हैं । जो पदार्थ कभी कभी होता है उसका कोई कारण अवश्य होता है । जैसे कभी कभी होने वाले घटादि पदार्थ मिट्टी, कुंभकार आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं । परापरादि प्रत्यय विशिष्ट प्रत्यय होने के कारण किसी साधारण कारण से भी नहीं हो सकते हैं । अतः इन प्रत्ययों का असाधारण कारण काल द्रव्य मानना आवश्यक है ।

काल द्रव्य की सिद्धि लोक व्यवहार से भी होती है । प्रतिनियत समय में ही प्रतिनियत वनस्पतियाँ फल देती हैं । जैसे वसन्त ऋतु में ही पाटल आदि वृक्षों में कुसुम उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार अन्य भी ऐसे बहुत से कार्य हैं जो अपने निश्चित काल में ही सम्पन्न होते हैं । लोग कहते हैं कि इस कार्य का अभी समय नहीं आया है, जब समय आयेगा तब यह कार्य होगा । इत्यादि उदाहरणों से काल द्रव्य की सिद्धि होती है । मीमांसक तथा सौगत पक्ष, मास, वर्ष आदि व्यवहार काल का सद्भाव तो मानते ही हैं । क्योंकि व्यवहार काल के माने बिना संसार का व्यवहार नहीं चल सकता है । अतः जब व्यवहार काल का अस्तित्व है तो वास्तविक या मुख्य काल का अस्तित्व भी स्वीकार करना अनिवार्य है । क्योंकि मुख्य काल के अस्तित्व के बिना व्यवहार काल का अस्तित्व हो ही नहीं सकता है ।

दिग्द्रव्यविचार

वैशेषिक दर्शन की एक विशेषता यह है कि उसने आकाश की तरह दिशा को भी एक स्वतन्त्र द्रव्य माना है । मूर्तिक द्रव्यों में मूर्त द्रव्य की अवधि करके यह इसके पूर्व में है, यह इससे दक्षिण में है, यह पश्चिम में, यह उत्तर में है, इत्यादि प्रकार से दस प्रकार के प्रत्यय जिसके द्वारा उत्पन्न होते हैं वह दिग्द्रव्य है । पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आग्नेय, वायव्य, नैऋत्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः ये दश दिशायें हैं । यह जो पूर्वादि का प्रत्यय होता है वह विशेष कारण के बिना नहीं हो सकता है, क्योंकि ये विशिष्ट प्रत्यय हैं । और जो इन प्रत्ययों का कारण है वही दिशा नामक द्रव्य है । यह दिग्द्रव्य भी आकाश के समान एक, नित्य तथा व्यापक है । एक ही दिग्द्रव्य के जो पूर्व, पश्चिम आदि भेद होते हैं वे सूर्य के द्वारा मेरु की प्रदक्षिणा करने के कारण होते हैं । ऐसी वैशेषिकों की मान्यता है ।

वैशेषिकों की उक्त मान्यता समीचीन नहीं है । क्योंकि आकाश से भिन्न दिशा नामक पृथक् द्रव्य का कोई साधक प्रमाण नहीं है । यह इसके पूर्व में है इत्यादि प्रकार से दस प्रकार का प्रत्यय तो आकाश के प्रदेशों की श्रेणियों में सूर्य के उदय आदि के निमित्त से ही हो जाता है । इन पूर्व, पश्चिम आदि प्रत्ययों का कारण आकाश के प्रदेशों की श्रेणियाँ ही हैं । इसके लिए एक स्वतन्त्र दिग्द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । फिर भी यदि एक स्वतन्त्र दिग्द्रव्य की कल्पना की जाती है तो देश नामक एक स्वतन्त्र द्रव्य भी मानिए । क्योंकि यह यहाँ से पूर्व देश है, इत्यादि प्रकार का प्रत्यय देश नामक द्रव्य के बिना नहीं हो सकता है । कहने का तात्पर्य यह है कि वैशेषिक अभिमत दिग्द्रव्य को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण न होने से उसका पृथक् अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है ।

आत्मद्रव्यविचार

वैशेषिकों के द्वारा अभिमत आत्मद्रव्य की कल्पना बड़ी ही विचित्र है । उनके अनुसार आत्मद्रव्य व्यापक, नित्य तथा निष्क्रिय है । विशेषता यह है कि आत्माएँ अनेक हैं और प्रत्येक आत्मा व्यापक है । परन्तु इस प्रकार के आत्मा का अस्तित्व किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है । प्रत्यक्ष से आत्मा की जो प्रतीति होती है वह इस प्रकार से होती है । मैं सुखी हूँ,

मैं दु:खी हूँ, मैं घट को जानता हूँ, इत्यादि प्रत्ययों द्वारा अपने शरीर में ही आत्मा के सुखादि गुणों की प्रतीति होती है, दूसरे प्राणियों के शरीर में और अन्तरालवर्ती शरीररहित प्रदेश में सुखादि की प्रतीति कभी नहीं होती है । यदि आत्मा व्यापक है तो सर्वत्र सब को वैसी प्रतीति होनी चाहिए और ऐसी स्थिति में सबको भोजनादि का संकर (एक के भोजन करने पर सबको भोजन की प्राप्ति) तथा सर्वदर्शित्व का प्रसंग प्राप्त होगा । अर्थात् आत्मा को व्यापक होने से जब सभी के शरीरों में हमारी आत्मा का अस्तित्व है तो हमारे द्वारा भोजन करने पर सबकी क्षुधा की निवृत्ति हो जानी चाहिए । इसी प्रकार जब हमारी आत्मा सर्वत्र विद्यमान है तो उसे सब जगह के पदार्थों का ज्ञान भी हो जायेगा और तब हम सर्वदर्शी कहलाने लगेंगे । किन्तु ऐसा कुछ भी अनुभव में नहीं आता है । अत: आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण से व्यापक सिद्ध नहीं होता है ।

अब यदि वैशेषिक अनुमान प्रमाण से आत्मा को व्यापक सिद्ध करना चाहें तो भी नहीं कर सकते हैं । क्योंकि ऐसा कोई अनुमान नहीं है जो आत्मा को व्यापक सिद्ध कर सके । इसके विपरीत आत्मा को अव्यापक सिद्ध करने वाले कई अनुमान बतलाये जा सकते हैं । पहला अनुमान इस प्रकार है— आत्मा परममहापरिमाण का अधिकरण (आधार) नहीं है, क्योंकि वह सामान्यवान् होकर अनेक है, जैसे घटादि । घटादि पदार्थों में घटत्व आदि सामान्य पाया जाता है तथा घटादि अनेक होते हैं । अत: वे व्यापक नहीं है । उसी प्रकार आत्मा भी व्यापक नहीं है । दूसरा अनुमान यह है—आत्मा परममहापरिमाण का अधिकरण नहीं है, दिशा, काल और आकाश से भिन्न होकर द्रव्य होने से, घटादि की तरह । तृतीय अनुमान इस प्रकार है—आत्मा परममहापरिमाण का अधिकरण नहीं है, क्रियावान् होने से, बाणादि की तरह । आत्मा क्रियावान् है, यह बात असिद्ध नहीं है । मैं एक कोश अथवा एक योजन चल चुका हूँ, इत्यादि प्रकार की प्रतीति होने से आत्मा में क्रियावत्त्व सिद्ध होता है । एक चौथा अनुमान भी है जो आत्मा में अणुपरिमाण और परममहापरिमाण का निषेध करता है । हम कह सकते हैं कि आत्मा न तो अणुपरिमाण का अधिकरण है और न परममहापरिमाण का अधिकरण है, क्योंकि वह चेतन है । जो अणु परिमाण का अधिकरण है वह चेतन नहीं होता है, जैसे परमाणु । और जो

परममहापरिमाण का अधिकरण होता है वह भी चेतन नहीं होता है, जैसे आकाश । इस प्रकार अनुमान प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा व्यापक नहीं है ।

यहाँ वैशेषिक देहान्तर में तथा अन्तरालवर्ती प्रदेश में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए एक विचित्र तर्क देते हैं । उनका कहना है कि देवदत्त की अंगना के शरीर का जो निर्माण होता है उसमें देवदत्त का गुण अर्थात् अदृष्ट कारण होता है, क्योंकि वह कार्य है और देवदत्त का उपकारक है । अदृष्ट को धर्माधर्म अथवा पुण्य-पाप भी कहते हैं । अदृष्ट का दूसरा नाम कर्म भी है । देवदत्त की अंगना के शरीर की उत्पत्ति में देवदत्त का अदृष्ट तभी कारण हो सकता है जब वह शरीर की उत्पत्ति के प्रदेश में विद्यमान रहे । क्योंकि कार्य के देश में जो कारण सन्निहित होता है वही कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करता है । अतः देवदत्त की अंगना के शरीर की उत्पत्ति के देश में देवदत्त का अदृष्ट भी विद्यमान रहता है । और जहाँ देवदत्त का अदृष्ट है वहाँ देवदत्त की आत्मा भी अवश्य है । मान लीजिए कि देवदत्त वाराणसी में रहता है और देवदत्त की अंगना का जन्म लंका में होता है तो देवदत्त की आत्मा का सद्भाव लंका में भी है । इसी प्रकार यदि अमेरिका में देवदत्त के लिए कोई वस्त्र बनता है तो उस वस्त्र की उत्पत्ति में देवदत्त का अदृष्ट कारण होता है और देवदत्त की आत्मा का अस्तित्व अमेरिका में भी मानना पड़ता है । इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा व्यापक है और उसका अस्तित्व सर्वत्र रहता है । वैशेषिकों के उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि देवदत्त आदि के लिए भोग्य सामग्री का जो भी लाभ होता है वह तभी हो सकता है जब देवदत्त आदि का अदृष्ट भोग्य सामग्री की उत्पत्ति के स्थान में रहकर उसकी उत्पत्ति में कारण होता हो ।

वैशेषिकों का उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं है । यह तो माना जा सकता है कि देवदत्त का अदृष्ट देवदत्त की अंगना के शरीर की उत्पत्ति में कारण होता है । किन्तु उस अदृष्ट को आत्मा का गुण कहना सर्वथा गलत है । हम कह सकते हैं कि अदृष्ट (कर्म) आत्मा का गुण नहीं है, अचेतन होने से, शब्दादि की तरह । जो भी वस्तु अचेतन है वह चेतन आत्मा का गुण नहीं हो सकता है । कर्म तो पौद्गलिक है, वह आत्मा का गुण कैसे हो सकता है ? यथार्थ में प्राणियों का अदृष्ट भोग्य सामग्री की उत्पत्ति में

कारण नहीं होता है । थोड़ी देर के लिए हम यह मान भी लें कि देवदत्त का अदृष्ट देवदत्त की अंगना के शरीर की उत्पत्ति में कारण होता है, फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि देवदत्त की अंगना के शरीर की उत्पत्ति के स्थान में देवदत्त के अदृष्ट को रहना ही चाहिए । क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि सब कारण कार्य के देश में विद्यमान रह कर ही कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करते हैं । हम देखते हैं कि अयस्कान्त (चुम्बक), मन्त्र आदि वस्तुएं लोहा आदि पदार्थों के स्थान पर उपस्थित नहीं रहते हैं, फिर भी लोहा आदि को आकर्षित करने का कार्य करते ही हैं । चुम्बक लोहा से दूर रह कर भी लोहा को खींच लेता है । मन्त्रवादी किसी स्थान विशेष में स्थित होकर मन्त्रपाठ करता है और किसी दूर प्रदेश में उस मन्त्रपाठ से विष दूर हो जाता है । अत: सभी कारण कार्य की उत्पत्ति के स्थान में उपस्थित रहकर ही कार्य करते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

वैशेषिक आत्मा को निष्क्रिय मानते हैं, परन्तु ऐसा मानने से संसार के अभाव का प्रसंग उपस्थित होता है । यहाँ प्रश्न यह है कि संसार किसके होता है—शरीर के, मन के या आत्माके ? शरीर के तो संसार माना नहीं जा सकता है, क्योंकि शरीर तो इसी मनुष्य लोक में भस्म हो जाता है, वह दूसरे लोक में जाता नहीं है । तब शरीर के संसार कैसे माना जा सकता है । मन के भी संसार नहीं बनता है । मन अचेतन है और अचेतन होने से वह अनिष्ट नरक आदि का परिहार करके इष्ट स्वर्गादि में जाने के लिए प्राणियों को कैसे प्रेरित करेगा । यदि माना जाय कि ईश्वर की प्रेरणा से मन अनिष्ट का परिहार करके इष्ट स्वर्गादि में प्रवृत्ति कराता है तो ऐसा कथन भी गलत है । क्योंकि महाभारत में ऐसा कहा गया है ।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन: सुखदु:खयो: ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥

अर्थात् यह प्राणी अपने सुख और दु:ख में अज्ञ और अनीश (असमर्थ) है । यह तो ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग या नरक में जाता है । इस कथन से यही सिद्ध होता है कि ईश्वर आत्मा को प्रेरित करता है, मन को नहीं । अब यदि वैशेषिक आत्मा के संसार मानते हैं तो यह पक्ष हमें अभीष्ट ही है । आत्मा ही चारों गतियों और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता

है । इसलिए आत्मा के संसार मानना उचित ही है । परन्तु आत्मा के संसार तभी बन सकता है जब उसे अव्यापक और सक्रिय स्वीकार किया जाय ।

जैनदर्शन आत्मा को व्यापक न मानकर शरीर परिमाण या शरीरव्यापी मानता है । प्रत्येक जीव द्वारा परिगृहीत शरीर में आत्मा व्याप्त रहता है । अर्थात् आत्मा व्यापक न होकर शरीर परिमाण होता है । यहाँ वैशेषिक शंका कर सकता है कि यदि सावयव शरीर में आत्मा व्याप्त होकर रहता है तो शरीर के किसी अवयव का छेद हो जाने पर आत्मा का भी छेद मानना पड़ेगा । इस विषय में जैनों का उत्तर यह है कि आत्मप्रदेशों का छेद हम मानते ही हैं । अर्थात् आत्मा अपने शरीर में व्याप्त होकर रहता है और जब कभी उसके शरीर का कोई अवयव शस्त्र आदि के द्वारा कटकर उससे पृथक् हो जाता है तब शरीर से पृथक् हुए अवयव में कुछ काल तक आत्मप्रदेश रहते हैं । यदि कटे हुए अवयव में आत्मप्रदेश नहीं होते तो उसमें कम्पन नहीं होता । यहाँ जानने योग्य बात यह है कि कटे हुए अवयव के आत्मप्रदेश अवयव की तरह आत्मा से सर्वथा पृथक् नहीं हो जाते हैं, किन्तु मूल आत्मा से उनका सम्बन्ध बराबर बना रहता है । तथा कुछ क्षण बाद वे आत्मप्रदेश पुनः आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं । यही कारण है कि बाद में कटे हुए अवयव में कम्पन बन्द हो जाता है ।

इत्यादि प्रकार से विचार करने पर आत्मा के सम्बन्ध में वैशेषिक का जो मत है वह निरस्त हो जाता है । वास्तविक बात यह है कि आत्मा शरीरपरिमाण, सप्रदेशी, क्रियावान् और कथंचित् नित्य है । हम लोगों को निर्बाध ज्ञान के द्वारा ऐसी ही आत्मा की प्रतीति होती है । निर्बाधज्ञान में जो वस्तु जैसी प्रतीत हो उसको वैसा ही स्वीकार करना चाहिए । यही सत्य को जानने का सर्वोत्तम उपाय है ।

मनद्रव्यविचार

वैशेषिक मन को भी एक पृथक् द्रव्य मानते हैं । मन नित्य, अनेक, सक्रिय, अचेतन, अणुरूप तथा सूक्ष्म है । वे मन की सिद्धि करने के लिए एक हेतु देते हैं जो इस प्रकार है—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।

अर्थात् चक्षु आदि सब ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा एक साथ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं

होती है । इसका कारण यह है कि मन अणुरूप है । इसलिए जिस इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होता है उसी के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है । मन के अणुरूप होने के कारण एक बार एक ही इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होता है । यही कारण है कि सब ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा एक साथ रूपादि सब विषयों का ज्ञान नहीं होता है । मन अनेक हैं और प्रत्येक आत्मा में एक मन रहता है । वैशेषिक इस प्रकार मन की सिद्धि करते हैं ।

वैशेषिकों का उक्त कथन समीचीन नहीं है । उन्होंने जैसा मन बतलाया है उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है । यह कहना भी गलत है कि एक साथ सब इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान नहीं होता है । क्योंकि दीर्घ शष्कुली (खाने का एक विशेष पदार्थ) के भक्षण के समय एक साथ रूपादि पाँचों ज्ञानों की उत्पत्ति अनुभव में आती है । इसका तात्पर्य यह है कि शष्कुली के खाने के समय चक्षु से उसके रूप की प्रतीति, स्पर्शन से स्पर्श की प्रतीति, रसना से रस की प्रतीति, घ्राण से गन्ध की प्रतीति और उसके खाते समय चट-चट की आवाज होने के कारण कर्ण से शब्द की प्रतीति होती है । उस समय रूपादि विषयों के पाँचों ज्ञान एक साथ अनुभव में आते हैं । तब एक बार एक ही इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान होता है, ऐसी बात सिद्ध नहीं होती है । एक बात और भी है कि जब मन का चक्षु इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने से रूप ज्ञान होता है उस समय सुखादि का मानस संवेदन भी होता है । क्योंकि जिस प्रकार मन का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है उसी प्रकार आत्मा के साथ भी मन का सम्बन्ध सदा रहता ही है । अत: रूपज्ञान और सुखज्ञान एक साथ होने में कोई बाधा नहीं है । इसका मतलब यह है कि एक साथ एक से अधिक ज्ञान होते हैं । इस प्रकार वैशेषिकों के द्वारा अभिमत मन द्रव्य की सिद्धि नहीं होती है । जैनमत के अनुसार मन के दो भेद हैं—द्रव्यमन और भावमन । इनमें से द्रव्यमन पौद्गलिक है और भावमन चेतन आत्मरूप है । अत: जैनदर्शन में मन कोई पृथक् द्रव्य नहीं है ।

गुणपदार्थविचार

पूर्वपक्ष—

वैशेषिकदर्शन में २४ गुण माने गये हैं जो इस प्रकार हैं—रूप, रस,

गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये २४ गुण हैं । इनमें से गन्ध पृथिवी का विशेष गुण है, रस जल का विशेषगुण है, रूप अग्नि का विशेष गुण है, स्पर्श वायु का विशेष गुण है और शब्द आकाश का विशेष गुण है । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये ९ आत्मा के विशेष गुण हैं ।

रूप गुण केवल चक्षु इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है तथा यह गुण पृथिवी, जल और अग्नि इन तीन द्रव्यों में रहता है । रस गुण केवल रसना इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है । यह पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों में रहता है । गन्ध गुण केवल घ्राण इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है और केवल पृथिवी में रहता है । स्पर्श गुण केवल स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा गृहीता होता है । यह गुण पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार द्रव्यों में रहता है । संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच गुण सभी ९ द्रव्यों में रहते हैं । परत्व और अपरत्व गुण पृथिवी आदि चार तथा मन इन पाँच द्रव्यों में रहता है । गुरुत्व गुण पृथिवी और जल में रहता है । द्रवत्व गुण पृथिवी, जल और अग्नि में रहता है । स्नेहगुण केवल जल में रहता है । शब्द गुण केवल आकाश में रहता है । संस्कार गुण के तीन भेद हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक । वेग पृथिवी आदि चार तथा मन में रहता है । स्थितिस्थापक चटाई आदि पृथिवी में रहता है । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रत्यत्न, धर्म, अधर्म और भावना नामक संस्कार ये ९ गुण केवल आत्मा में रहते हैं । इसीलिए इन्हें आत्मा के विशेष गुण कहते हैं । उक्त २४ गुणों में से कुछ गुण मूर्त हैं और कुछ अमूर्त हैं । कुछ गुण इन्द्रिय ग्राह्य हैं और कुछ अतीन्द्रिय हैं । कुछ गुण नित्य हैं और कुछ अनित्य हैं ।

उत्तरपक्ष—

वैशेषिकों ने २४ गुण माने हैं और उनका जैसा स्वरूप बतलाया है वह वास्तविक नहीं है । यह बतलाया गया है कि रूप गुण पृथिवी, जल और अग्नि इन तीन द्रव्यों में ही रहता है । किन्तु ऐसा नहीं है । रूप गुण वायु में भी रहता है । वैशेषिकों द्वारा यह भी बतलाया गया है कि रस गुण पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों में ही रहता है तथा गन्ध गुण केवल पृथिवी

में रहता है । ऐसा कथन सर्वथा गलत है । जल और अग्नि में गन्ध तथा रसादि गुण भी पाये जाते हैं । पृथिवी में रस गुण भी पाया जाता है । यथार्थ में पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं और पृथिवी आदि चारों पुद्गल के ही विकार (अवस्थाविशेष) हैं । तब पृथिवी में ही गन्ध गुण पाया जाता है, इत्यादिप्रकार से रूपादि गुणों का प्रतिनियम कैसे किया जा सकता है ? जैनदर्शन के अनुसार पृथिवी आदि चारों में रूपादि चारों गुण नियम से पाये जाते हैं ।

सुख, दुःख, इच्छा आदि ९ गुणों को आत्मा का विशेष गुण माना गया है । यहाँ प्रश्न यह है कि ये गुण अबुद्धिरूप हैं या बुद्धिरूप । यदि ये गुण अबुद्धिरूप हैं तो ये आत्मा के गुण नहीं हो सकते हैं । जैसे कि रूप, रसादि अबुद्धि रूप होने से आत्मा के गुण नहीं है । यदि ये गुण बुद्धिरूप हैं तो फिर इनका बुद्धि में ही अन्तर्भाव हो जायेगा । तब इनको बुद्धि से पृथक् मानना व्यर्थ है । स्नेह गुण जल में ही पाया जाता है, यह कथन भी गलत है । क्योंकि घृत, तेल आदि में भी स्नेह गुण विद्यमान रहता है । धर्म, अधर्म और शब्द को गुण मानना प्रमाण विरुद्ध है । धर्म-अधर्म को अदृष्टरूप (कर्मरूप) माना गया है और कर्मरूप होने से ये पौद्गलिक हैं । तथा पौद्गलिक होने से इनको गुण नहीं कहा जा सकता है । जैसे परमाणु गुण नहीं है । शब्द भी पौद्गलिक होने से आकाश का गुण सिद्ध नहीं होता है । इस प्रकार गुण पदार्थ के विषय में वैशेषिकों की जो कल्पना है वह प्रमाणसंगत नहीं है ।

कर्मपदार्थविचार

पूर्वपक्ष—

वैशेषिक कर्म को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं । यह कर्म अदृष्टरूप नहीं है किन्तु उससे भिन्न एक पदार्थ है । यह कर्म पदार्थों में संयोग और विभाग का कारण होता है । कर्म के पाँच भेद हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन । गुरुत्व और प्रयत्न के द्वारा किसी वस्तु का ऊपर के प्रदेशों के साथ संयोग और नीचे के प्रदेशों के साथ विभाग होने का नाम उत्पेक्षण है । इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि किसी वस्तु को ऊपर की ओर फेकना उत्क्षेपण है । गुरुत्व और प्रयत्न के

द्वारा किसी वस्तु का ऊपर के प्रदेशों के साथ विभाग और नीचे के प्रदेशों के साथ संयोग होने का नाम अपक्षेपण है । अर्थात् किसी वस्तु का ऊपर से नीचे की ओर आना अपक्षेपण है । किसी वस्तु का सिकुड़ना आकुञ्चन है । किसी वस्तु का फैलना प्रसारण है । और गमन करने का नाम गमन है । उक्त पाँच प्रकार का कर्म केवल पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में रहता है । कर्म अनित्य होता है ।

उत्तरपक्ष—

वैशेषिक कर्म को एक स्वतन्त्र और पृथक् पदार्थ मानते हैं । परन्तु ऐसा कर्म पदार्थ किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है । कर्म तो क्रिया का नाम है । पदार्थों का एक देश से दूसरे देश में प्राप्ति का हेतु जो परिस्पन्दात्मक (चलनात्मक) परिणाम या क्रिया है उसी का नाम कर्म है । और इस प्रकार के कर्म में उत्क्षेपण आदि पाँच प्रकार के कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है । ऐसी स्थिति में उत्क्षेपण आदि को पृथक् पृथक् कर्म मानना ठीक नहीं है । अन्यथा भ्रमण, स्पन्दन आदि को भी पृथक् कर्म मानना पड़ेगा । और तब कर्म की पाँच संख्या का व्याघात अवश्यंभावी है । वास्तव में क्रियारूप से परिणत वस्तु को छोड़कर अन्य कोई पृथक् कर्म प्रतीत नहीं होता है जिसे कर्म पदार्थ कहा जा सके । अत: कर्म कोई पृथक् और स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है । घट-पटादि पदार्थों से पृथक् स्वतन्त्र कर्म पदार्थ की कल्पना करने से कोई लाभ भी नहीं है । इस प्रकार वैशेषिकाभिमत कर्म पदार्थ का संक्षेप में निराकरण किया गया है ।

सामान्यपदार्थविचार

वस्तु में अनुगताकार (सदृश) प्रतीति कराने वाला पदार्थ सामान्य कहलाता है । वैशेषिकों के अनुसार सामान्य पदार्थ एक, व्यापक और नित्य है । इसके दो भेद हैं—पर सामान्य और अपर सामान्य । इनमें सत्त्व या सत्ता पर सामान्य है तथा द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, गोत्व, मनुष्यत्व आदि अपर सामान्य हैं । सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में रहता है । वैशेषिकाभिमत इस प्रकार के सामान्य का निराकरण इसी परिच्छेद के प्रारंभ में गोत्वादि तिर्यक् सामान्य का निरूपण करते समय विस्तार से किया जा चुका है । अत: उसको यहाँ पुन: नहीं लिखा है ।

विशेषपदार्थविचार

पूर्वपक्ष—

वैशेषिक विशेष को एक पृथक् पदार्थ मानते हैं । इसी विशेष पदार्थ को मानने के कारण उनका नाम वैशेषिक प्रसिद्ध हुआ । विशेष नित्य और अनेक हैं । विशेष पदार्थ नित्य द्रव्यों में रहता है । विशेष पदार्थ का काम है—एक समान पदार्थों में भेद की प्रतीति कराना । पृथिवी के सब परमाणु समान हैं, फिर भी एक परमाणु से दूसरा परमाणु भिन्न है । क्योंकि प्रत्येक परमाणु में पृथक् पृथक् विशेष पदार्थ रहता है । इस कारण प्रत्येक परमाणु की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है । इसी प्रकार सब आत्मायें समान हैं, किन्तु प्रत्येक आत्मा में विशेष पदार्थ रहता है । इसलिए एक आत्मा से दूसरी आत्मा की पृथक् प्रतीति होती है । यही बात मन के विषय में भी है । प्रत्येक मन में एक विशेष पदार्थ रहता है । वह एक मन को दूसरे मन से व्यावृत्त करता है । विशेषों के विषय में एक विशेष बात यह है कि ये स्वतः व्यावतर्क होते हैं । अर्थात् एक विशेष से दूसरे विशेष में भेद स्वतः ही होता है । इस काम के लिए किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक परमाणु से दूसरे परमाणु में भेद कराने के लिए विशेष पदार्थ माना गया है, उसी प्रकार एक विशेष से दूसरे विशेष में भेद कराने के लिए किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि एक विशेष स्वयं ही दूसरे विशेष से भेद कराने में सक्षम है । ऐसा वैशेषिकों का सिद्धान्त है ।

उत्तरपक्ष—

वैशेषिकों के द्वारा माना गया विशेष पदार्थ सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है । यह कहना भी ठीक नहीं है कि विशेष नित्य द्रव्यों में रहते हैं । क्योंकि सर्वथा नित्य कोई द्रव्य नहीं है । संसार के समस्त पदार्थ कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य हैं । जितने परमाणु आदि नित्य पदार्थ हैं वे सब अपने असंकीर्ण स्वभाव (दूसरे पदार्थों से सर्वथा पृथक् स्वभाव) में अवस्थित हैं और इसी स्वभाव के कारण वे दूसरे पदार्थों से व्यावृत्त हो जाते हैं । अतः उनमें परस्पर में व्यावृत्ति कराने के लिए पृथक् विशेष पदार्थ मानने की कोई

आवश्यकता नहीं है । वैशेषिकों ने स्वयं माना है कि विशेष पदार्थों में विशेष नामक पदार्थ नहीं रहता है, फिर भी एक विशेष दूसरे विशेष से स्वतः व्यावृत्त हो जाता है । उसी प्रकार परमाणु, आत्मा आदि अन्य समस्त पदार्थ भी अपने अपने असंकीर्ण स्वभाव की अपेक्षा से परस्पर में व्यावर्तक हो जाते हैं । ऐसा मानने में कोई विरोध भी नहीं है । इसलिए परमाणु, आत्मा आदि में परस्पर में भेद कराने के लिए किसी विशेष पदार्थ की कल्पना करना तर्कसंगत नहीं है ।

समवायपदार्थविचार

पूर्वपक्ष—

वैशेषिक समवाय को एक पदार्थ मानते हैं । समवाय एक सम्बन्ध है । उसका लक्षण इस प्रकार है—

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदंप्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः । अर्थात् आधार और आधेयभूत अयुतसिद्धपदार्थों में 'इसमें यह है' इस प्रकार के ज्ञान का कारणभूत जो सम्बन्ध है, वह समवाय कहलाता है । यह सम्बन्ध अयुतसिद्ध दो पदार्थों में होता है । जिन दो पदार्थों में से एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के आश्रित रहता है वे दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं । इन दोनों पदार्थों को पृथक् नहीं किया जा सकता है । दोनों में से एक पदार्थ आधार होता है और दूसरा आधेय । जैसे तन्तु और पट में समवाय सम्बन्ध है । तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं तथा तन्तु पट का आधार है और पट आधेय है । 'इन तन्तुओं में पट है' ऐसा जो ज्ञान होता है वह समवाय सम्बन्ध के कारण होता है । स्पष्ट बात यह है कि समवाय सम्बन्ध पाँच युगलों में रहता है । वे पाँच युगल इस प्रकार हैं—अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, गोत्वादि जाति और व्यक्ति, क्रिया और क्रियावान् तथा नित्य द्रव्य और विशेष पदार्थ, इन पाँच युगलों में अयुतसिद्धि रहती है । अतः इन पाँच युगलों में जो पास्परिक सम्बन्ध है वह समवाय कहलाता है ।

उत्तरपक्ष—

वैशेषिकों ने समवाय का जैसा स्वरूप बतलाया है वह प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है । सबसे पहले यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि

युतसिद्ध और अयुतसिद्ध का अर्थ क्या है । जो पदार्थ पृथक् पृथक् आश्रयों में रहते हैं उन्हें युतसिद्ध कहते हैं । जैसे घट और पट युतसिद्ध हैं । इनमें समवाय सम्बन्ध नहीं होता है, किन्तु संयोग सम्बन्ध होता है । अयुतसिद्ध पदार्थ वे हैं जिनका आश्रय पृथक् पृथक् नहीं होता है, परन्तु अपृथक् एक ही आश्रय होता है । ऐसे अयुतसिद्ध पदार्थों में समवाय सम्बन्ध होता है । जैसे तन्तु और पट में समवाय सम्बन्ध है । तन्तु अवयव है और पट अवयवी है । इन तन्तुओं में पट है, ऐसा ज्ञान समवाय सम्बन्ध के कारण ही होता है । ऐसा वैशेषिकों का कथन है । वैशेषिकों ने तन्तु और पट का पृथक् पृथक् आश्रय नहीं माना है, परन्तु अपृथक् एक ही आश्रय माना है । किन्तु ऐसा है नहीं । हम बतलाना चाहते हैं कि तन्तु और पट का आश्रय भी पृथक् पृथक् ही है । तन्तुओं का आश्रय तो तन्तुओं के अंशु (कार्पास के रेशे) हैं और पट का आश्रय तन्तु हैं । अतः तन्तु और पट का एक ही आश्रय नहीं है । अपृथक् (एक ही) आश्रय में जो रहते हैं उन्हें अयुत सिद्ध कहते हैं, ऐसा लक्षण मानने पर गुण, कर्म और सामान्य को भी अयुतसिद्ध मानना पड़ेगा । क्योंकि ये तीनों एक ही द्रव्य के आश्रय में रहते हैं और यदि ये अयुतसिद्ध हैं तो इनका परस्पर में समवाय सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा, जो स्वयं वैशेषिकों को भी इष्ट नहीं है ।

वैशेषिक अयुतसिद्ध पदार्थों में जो समवाय सम्बन्ध की कल्पना करते हैं वह प्रमाणसंगत नहीं है । यथार्थ बात तो यह है कि अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध रहता है और इस सम्बन्ध को मान लेना ही सबके लिए श्रेयस्कर है । वैशेषिक समवाय को एक मानते हैं किन्तु वह एक न होकर अनेक है । क्योंकि वह भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकार वाले पदार्थों में एक साथ रहता है । अतः संयोग की तरह समवाय भी अनेक है । वैशेषिक समवाय को नित्य तथा अनाश्रित मानते हैं । क्योंकि यदि समवाय को किसी के आश्रित मानें तो आश्रय के नष्ट हो जाने पर समवाय भी नष्ट हो जायेगा । किन्तु यह सब कथन युक्तिसंगत नहीं है । समवाय न तो नित्य है और न अनाश्रित है । समवाय एक सम्बन्ध है । अतः सयोग की तरह वह भी अनित्य है । समवाय दो पदार्थों में रहता है । इसलिए वह दो पदार्थों के आश्रित ही रहेगा । वह अनाश्रित कैसे हो सकता है । इत्यादि प्रकार से विचार करने

पर समवाय के विषय में अनेक दूषण आने के कारण वैशेषिकों ने उसका जैसा स्वरूप माना है वह वैसा सिद्ध नहीं होता है ।

इस प्रकार अभी तक वैशेषिकों के द्वारा अभिमत द्रव्यादि छह पदार्थों का विवेचन किया गया है । यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि उक्त छह प्रकार के पदार्थ भावात्मक (सत्स्वरूप) हैं । इनके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन में एक अभावात्मक (असत्‌रूप) पदार्थ भी माना गया है जिसका नाम अभाव है । इस अभाव पदार्थ का विवेचन प्रमेयकमलमार्तण्ड में इस परिच्छेद में नहीं किया गया है । संभवतः इसका कारण यही हो सकता है कि लेखक का उद्देश्य सत् पदार्थों का विवेचन करना ही रहा हो ।

अभावपदार्थविचार

यहाँ संक्षेप में यह जान लेना आवश्यक है कि वैशेषिकों के अनुसार अभाव के चार भेद होते हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव । कार्य की उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य के अभाव को प्रागभाव कहते हैं । जैसे घट की उत्पत्ति के पहिले मिट्टी में घट का अभाव प्रागभाव है । प्रागभाव अनादि और सान्त है । कार्य के नष्ट हो जाने पर कार्य के अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं । जैसे घट के फूट जाने पर घट का प्रध्वंसाभाव हो जाता है । प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त है । सजातीय पदार्थों में परस्पर में जो भेद पाया जाता है वह अन्योन्याभाव है । घट और पट में अन्योन्याभाव रहता है । घट पट नहीं है तथा पट घट नहीं है । यही उनमें अन्योन्याभाव है । विजातीय जिन पदार्थों में कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहता है उनमें अत्यन्ताभाव होता है । चेतन और अचेतन पदार्थों में त्रैकालिक अत्यन्ताभाव पाया जाता है । चेतन कभी भी अचेतनरूप नहीं होता है और अचेतन कभी भी चेतनरूप नहीं होता है । यही उनमें अत्यन्ताभाव है । जैनदर्शन में अभाव कोई पदार्थ नहीं है । अभाव को तो भावान्तरस्वरूप माना गया है । जैसे घटाभाव का मतलब होता है घटरहित भूतल ।

नैयायिकाभिमत षोडशपदार्थवाद

नैयायिकों के अनुसार पदार्थ सोलह होते हैं जो इस प्रकार हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान । इन सोलह

पदार्थों का विवेचन प्रमेयकमलमार्तण्ड में नहीं किया गया है । यह अवश्य बतलाया गया है कि ये सोलह पदार्थ वैशेषिकों के द्वारा माने गये छह पदार्थों के अतिरिक्त हैं । इन सोलह पदार्थों के अस्तित्व के कारण वैशेषिकाभिमत षट् पदार्थ की संख्या का व्याघात हो जाता है । नैयायिकों के इन सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव वैशेषिकों के द्वारा अभिमत छह पदार्थों में भी नहीं हो सकता है । अन्यथा द्रव्यादि छह पदार्थों का प्रमाण और प्रमेय इन दो पदार्थों में अन्तर्भाव हो जाने से द्रव्यादि छह प्रकार के पदार्थों की व्यवस्था भी नहीं बनेगी । वास्तव में नैयायिकों के द्वारा अभिमत सोलह पदार्थों की मान्यता भी समीचीन नहीं है । क्योंकि उनके द्वारा अभिमत प्रमाण आदि के स्वरूप का इसके पूर्व में यथास्थान निराकरण किया जा चुका है । उक्त सोलह पदार्थों में विपर्यय और अनध्यवसाय का ग्रहण नहीं किया गया है । इस कारण नैयायिकों के द्वारा अभिमत सोलह पदार्थों की संख्या का भी व्याघात हो जाता है ।

● चतुर्थ परिच्छेद समाप्त ●

पञ्चम परिच्छेद

इस परिच्छेद में प्रमाण के फल का विवेचन किया गया है ।

प्रमाण का फल

अज्ञाननिवृत्तिः हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥ १ ॥

अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा ये प्रमाण के फल हैं ।

जिस पदार्थ के विषय में प्रमाण प्रवृत्त होता है उस विषयक अज्ञान की निवृत्ति प्रमाण के द्वारा हो जाती है । जैसे किसी व्यक्ति ने प्रमाण के द्वारा घट को जाना तो इसके पहले घटविषयक जो अज्ञान था वह दूर हो जाता है । यही अज्ञाननिवृत्ति है और यह अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है । पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं—हेय, उपादेय और उपेक्षणीय । जब किसी पदार्थ के विषय में किसी ने जाना कि यह सर्प है तो वह व्यक्ति सर्प के पास नहीं जायेगा, क्योंकि सर्प हेय है । यहाँ सर्प का हान (त्याग) कर देना प्रमाण का फल है । जब किसी ने प्रमाण के द्वारा जाना कि यह स्वर्ण है तो वह उसके पास जाकर उसका उपादान (ग्रहण) कर लेगा । यहाँ स्वर्ण का उपादान कर लेना प्रमाण का फल है । जब मार्ग में जाते हुए किसी व्यक्ति को पैर के स्पर्श से ऐसा ज्ञान होता है कि यह तृण है, तब वह तृण की उपेक्षा कर देता है । क्योंकि तृण न हेय है और न उपादेय है किन्तु उपेक्षणीय है । यहाँ तृण में उपेक्षाबुद्धि होना भी प्रमाण का फल है । इस प्रकार हमको प्रमाण के द्वारा अनिष्ट पदार्थ में हानबुद्धि होती है, इष्ट पदार्थ में उपादान बुद्धि होती है और उपेक्षणीय पदार्थ में उपेक्षाबुद्धि होती है । अतः हान, उपादान और उपेक्षा ये तीनों प्रमाण के परम्पराफल हैं । प्रमाण के द्वारा पहले पदार्थ का ज्ञान होता है और इसके बाद हान आदि होते हैं । इसलिए अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है और हान आदि तीन परम्पराफल हैं ।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि प्रमाण का फल प्रमाण से अभिन्न होता है या भिन्न । बौद्ध मानते हैं कि प्रमाण का फल प्रमाण से अभिन्न है और यौग (नैयायिक-वैशेषिक) मानते हैं कि प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न है । इस विप्रतिपत्ति का निराकरण आगे के सूत्र में किया गया है—

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥ २॥

प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है । प्रमाण से प्रमाण का फल न तो सर्वथा अभिन्न है और न सर्वथा भिन्न है ।

आचार्य प्रभाचन्द के अनुसार अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण से अभिन्न रहती है । इसलिए वह प्रमाण से अभिन्न फल है । तथा हान, उपादान और उपेक्षा ये तीन प्रमाण से भिन्न फल हैं । यथार्थ में अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण से कथंचित् अभिन्न फल है । प्रमाण और अज्ञाननिवृत्ति में सर्वथा अभेद मानने पर वे दोनों एक हो जायेंगे और तब यह प्रमाण है और यह फल है ऐसा व्यवहार नहीं बन सकेगा । इसी प्रकार हान, उपादान और उपेक्षा ये तीनों प्रमाण से कथंचित् भिन्न फल हैं, सर्वथा भिन्न नहीं । उनमें सर्वथा भेद मानने पर यह इस प्रमाण का फल है ऐसा व्यादेश कैसे होगा ? इसी बात को स्पष्ट करने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीतेः ॥ ३ ॥

जो पुरुष प्रमाण से वस्तु को जानता है उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, वही अनिष्ट वस्तु का त्याग करता है, इष्ट वस्तु का उपादान करता है और उपेक्षणीय वस्तु की उपेक्षा करता है ।

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि प्रमाण और फल में कथंचित् भेद और कंथचित् अभेद है । उनमें न तो सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद है । सर्वथा भेद मानने पर उनमें यह प्रमाण है और यह फल है ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती है और सर्वथा अभेद मानने में भी यही दोष आता है । अतः प्रमाण और फल में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद मानना ही श्रेयस्कर है । अनेकान्त सिद्धान्त भी यही कहता है ।

• पंचम परिच्छेद समाप्त •

षष्ठ परिच्छेद

इस परिच्छेद में प्रमाणाभास, प्रत्यक्षाभास, अनुमानाभास आदि तदाभासों का विवेचन किया गया है । इसी बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

ततोऽन्यत् तदाभासम् ॥ १ ॥

पहले के परिच्छेदों में प्रतिपादित प्रमाण का स्वरूप, संख्या, विषय और फल से जो भिन्न है वह तदाभास कहलाता है ।

प्रमाण से जो भिन्न है वह प्रमाणाभास है, संख्या से भिन्न को संख्याभास, विषय से भिन्न को विषयाभास और फल से भिन्न को फलाभास कहते हैं । जो प्रमाण के लक्षण से रहित है किन्तु प्रमाण जैसा प्रतिभासित होता है वह प्रमाणाभास है । इसी प्रकार अन्य आभासों के विषय में भी समझ लेना चाहिए ।

प्रमाणाभास का स्वरूप

अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ॥ २ ॥

अस्वसंवेदी ज्ञान, गृहीतार्थग्राही ज्ञान, दर्शन, संशय आदि ये सब ज्ञान प्रमाणाभास हैं ।

प्रथम परिच्छेद में बतलाया गया है कि स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । अतः इस प्रकार के ज्ञान से भिन्न जो ज्ञान है वह प्रमाणाभास है । प्रमाणभूत ज्ञान स्वसंवेदी होता है । जो ज्ञान स्वसंवेदी न होकर अस्वसंवेदी है वह प्रमाण की कोटि से बाहर है । प्रमाण के लक्षण में एक विशेषण है—अपूर्वार्थ । इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाण को अगृहीत अर्थ का ग्राहक होना चाहिए । अतः जो ज्ञान गृहीत अर्थ का ग्राहक है वह प्रमाणाभास है । सूत्र में दर्शन शब्द से तात्पर्य बौद्धों के निर्विकल्पक ज्ञान से है । अनिश्चयात्मक होने के कारण वह प्रमाणाभास है । यह स्थाणु है अथवा पुरुष है, इत्यादि प्रकार से जो अनिर्णीत ज्ञान होता है वह संशय कहलाता है । अनिश्चयात्मक होने के कारण संशय भी प्रमाणाभास है । क्योंकि प्रमाण को व्यवसायात्मक होना चाहिए । सूत्र में आदि शब्द से विपर्ययज्ञान और अनध्यवसायरूप ज्ञान का ग्रहण करना चाहिए । उक्त सभी ज्ञान प्रमाणाभास हैं ।

उक्त सभी ज्ञान प्रमाणाभास क्यों हैं इस बात को आगे के सूत्र में बतलाया गया है ।

प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वाभावात् ॥ ३ ॥

प्रवृत्ति के विषय के उपदर्शक न होने के कारण उक्त सभी ज्ञान प्रमाणाभास हैं ।

प्रमाण का काम है प्रवृत्ति के विषय का प्रदर्शन करना । प्रमाण को अर्थ का प्रापक कहते हैं । प्रमाण को प्रापक कहने का तात्पर्य यह है कि प्रमाण विषय का प्रदर्शक होता है । प्रमाण बतला देता है कि वहाँ जल है । तदनन्तर यदि प्रमाता चाहे तो प्रमाण के द्वारा प्रदर्शित जल में प्रवृत्ति कर सकता है । ऊपर जो प्रमाणाभास बतलाये गये हैं वे सब प्रवृत्ति के विषय के उपदर्शक नहीं होते हैं । अर्थात् वे अपने विषय का ठीक तरह से ज्ञान कराने में असमर्थ रहते हैं । इसी कारण वे सब प्रमाणाभास हैं ।

प्रमाणाभास के उदाहरण

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ॥ ४ ॥

जैसे पुरुषान्तर का ज्ञान, पूर्वार्थ का ज्ञान, गच्छत्तृणस्पर्श का ज्ञान और स्थाणु-पुरुष का ज्ञान तथा इसी तरह के अन्य ज्ञान प्रमाणाभास होते हैं । एक पुरुष से भिन्न दूसरे पुरुष को पुरुषान्तर कहते हैं । दूसरे पुरुष में जो ज्ञान है वह हमारे लिए अस्वसंविदित ज्ञान है । क्योंकि उस ज्ञान का हम संवेदन नहीं करते हैं । हमारे ज्ञान के विषय का प्रदर्शक तो हमारा ज्ञान होता है, पुरुषान्तर का ज्ञान नहीं । अतः पुरुषान्तर का ज्ञान हमारे लिए अप्रमाण या प्रमाणाभास है । पूर्व में जाने हुए अर्थ का ज्ञान पूर्वार्थज्ञान है । मार्ग में जाते हुए पुरुष को तृण का स्पर्श होने पर 'कुछ है' ऐसा जो अनिश्चयात्मक ज्ञान होता है वह तृणस्पर्श ज्ञान है । दूरवर्ती पुरुष को किसी स्थान में किसी ऊँची वस्तु को देख कर ऐसा जो ज्ञान होता है कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष है, यह स्थाणुपुरुष ज्ञान है । ये सब ज्ञान प्रमाणाभास के उदाहरण हैं । हम कह सकते हैं कि अपने विषय का उपदर्शक न होने के कारण अस्वसंवेदी ज्ञान प्रमाण नहीं है, पुरुषान्तार के ज्ञान की तरह । इसी प्रकार गृहीत अर्थ का ग्राही ज्ञान प्रमाण नहीं है, पूर्वार्थज्ञान की तरह । अनिश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण नहीं है, गच्छत्तृणस्पर्शज्ञान की तरह । संशयज्ञान

प्रमाण नहीं है, स्थाणुपुरुष के ज्ञान की तरह । ये सभी ज्ञान अपने विषय के उपदर्शक न होने के कारण प्रमाणाभास हैं ।

नैयायिक-वैशेषिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं । परन्तु सन्निकर्ष प्रमाण न होकर प्रमाणाभास है । इसी बात को आगे के सूत्र में बतलाया जा रहा है—

चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ॥ ५ ॥

द्रव्य में चक्षु और रस के संयुक्त समवाय के समान । अर्थात् जिस प्रकार घटादि द्रव्य में चक्षु और रूप का संयुक्तसमवाय सम्बन्ध है, उसी प्रकार चक्षु और रस का भी संयुक्तसमवाय सम्बन्ध है । फिर चक्षु के द्वारा रस का ज्ञान क्यों नहीं होता है ।

इस कथन का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि नैयायिक ऐसा मानते हैं कि घटादि द्रव्य में रूप, रस आदि गुण समवाय सम्बन्ध से रहते हैं । घट चक्षु से संयुक्त है और उस घट में रूप का समवाय है । अत: चक्षु का रूप के साथ जो सम्बन्ध है वह संयुक्तसमवाय सम्बन्ध कहलता है । इसी प्रकार चक्षु का रस के साथ भी संयुक्तसमवाय सम्बन्ध है । रस भी समवाय सम्बन्ध से घट में रहता है । फिर क्या कारण है कि चक्षु के द्वारा रूप का ज्ञान तो होता है किन्तु रस का ज्ञान नहीं होता । इसका मतलब यही है कि सन्निकर्ष प्रमाण न होकर प्रमाणाभास है ।

प्रत्यक्षाभास का स्वरूप

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ॥ ६ ॥

अविशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है । बौद्धों के द्वारा माना गया निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास है । जैसे व्याप्ति के ग्रहण, स्मरण आदि के बिना अकस्मात् धूमदर्शन से होने वाला वह्नि का ज्ञान अनुमान न होकर अनुमानाभास है ।

अनुमान तभी प्रमाण होता है जब पूर्वगृहीत व्याप्ति का स्मरण हो तथा यह धूम ही है, वाष्प नहीं है, ऐसा निश्चय हो । इसके बिना अकस्मात् धूमदर्शन से उत्पन्न हुआ अग्नि का ज्ञान अनुमान नहीं कहला सकता है, वह

तो अनुमानाभास है । उसी प्रकार जो ज्ञान अविशद और अनिश्चयात्मक है वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । वह तो निश्चित ही प्रत्यक्षाभास है ।

परोक्षाभास का स्वरूप

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥ ७ ॥

विशद ज्ञान को भी परोक्ष मानना परोक्षाभास है । जैसे मीमांसक करणज्ञान को परोक्ष मानते हैं, तो उनका ऐसा मानना परोक्षाभास है ।

प्रथम परिच्छेद में सूत्र संख्या ९ में बतलाया गया है कि कर्म (घटादि) की तरह कर्ता, करण और क्रिया की भी प्रतीति (विशद ज्ञान) होती है । मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूँ । यहाँ ज्ञान करण है । प्रमिति की उत्पत्ति होने में जो साधकतम कारण होता है उसे करण कहते हैं । घट का ज्ञान होने में ज्ञान करण होता है, मैं (आत्मा) कर्ता है और प्रमिति को क्रिया कहते हैं । अत: प्रमाण के द्वारा जिस प्रकार घट का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार कर्ता, करण और क्रिया का भी प्रत्यक्ष होता है । परन्तु मीमांसक करणज्ञान को परोक्ष मानते हैं । उनके यहाँ ज्ञान को स्वभाव से ही परोक्ष माना गया है । वास्तव में करणज्ञान विशद होने के कारण प्रत्यक्ष है । फिर भी उसे परोक्ष कहना परोक्षाभास है ।

स्मरणाभास का स्वरूप

अतस्मिंस्तदितिज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ॥ ८ ॥

जिस पुरुष का कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ उसमें 'वह' इस प्रकार के ज्ञान को स्मरणाभास कहते हैं । जैसे जिनदत्त में 'वह देवदत्त' इस प्रकार का स्मरण स्मरणाभास है । पहले कभी जिनदत्त का प्रत्यक्ष हुआ था और आज तक देवदत्त का कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ । किन्तु आज जिनदत्त के स्थान में देवदत्त का स्मरण हो रहा है । यह स्पष्टरूप से स्मरणाभास है ।

प्रत्यभिज्ञानाभास का स्वरूप

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदिति प्रत्यभिज्ञाना-भासम् ॥ ९ ॥

सदृश वस्तु में 'यह वही है' ऐसा जानना और उसी वस्तु में 'यह

उसके सदृश है' ऐसा जानना प्रत्यभिज्ञानाभास है । जैसे एक साथ उत्पन्न हुए दो बालकों में विपरीत ज्ञान हो जाता है । अर्थात् सदृश बालक को 'यह वही है' ऐसा जान लेते हैं और उसी बालक को 'यह उसके सदृश है' ऐसा जान लेते हैं । सदृश बालक में 'यह वही है' इस प्रकार का ज्ञान एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभास है और उसी बालक में 'यह उसके सदृश है' ऐसा ज्ञान सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभास है ।

तर्काभास का स्वरूप

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासं यावाँस्तत्पुत्रः स श्यामो यथा ॥ १० ॥

अविनाभाव सम्बन्ध से रहित वस्तु में अविनाभाव का ज्ञान करना तर्काभास है । जैसे तत्पुत्रत्व और श्यामत्व में कोई अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है । फिर भी यह कहना कि जो भी देवदत्त का पुत्र होगा वह श्याम होगा, यह तर्काभास है ।

अनुमानाभास का स्वरूप

इदमनुमानाभासम् ॥ ११ ॥

यह अनुमानाभास है जिसे आगे बतलाया जा रहा है । अनुमान के पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदि कई अवयव हैं । अतः अवयवाभासों को बतलाने से उनके समुदायरूप अनुमानाभास का ज्ञान सरलता पूर्वक हो जाता है ।

पक्षाभास का स्वरूप

तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ॥ १२ ॥

यह पतले बतलाया जा चुका है कि साध्य अथवा पक्ष इष्ट, अबाधित और असिद्ध होता है । इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्ष बतलाता है तो वह पक्षाभास है । साध्य और पक्ष में विशेष अन्तर नहीं है । साध्यधर्म का जो आधार होता है वह पक्ष कहलाता है । जैसे अग्नि साध्य है और अग्निसहित पर्वत पक्ष है ।

अनिष्ट पक्षाभास का उदाहरण

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः ॥ १३ ॥

यदि मीमांसक कहता है कि शब्द अनित्य है तो यह मीमांसक के लिए

अनिष्ट पक्षाभास है । क्योंकि मीमांसक मत में शब्द को नित्य माना गया है, अनित्य नहीं ।

सिद्ध पक्षाभास का उदाहरण

सिद्धः श्रावणः शब्द इति ॥ १४ ॥

यदि कोई व्यक्ति कहता है कि शब्द श्रावण (श्रोत्र इन्द्रिय का विषय) है तो यह सिद्ध पक्षाभास है । श्रोत्र इन्द्रिय का विषय होने से शब्द श्रावण कहलाता है । यह बात हर कोई जानता है कि शब्द कान से सुना जाता है । तब यह कहना कि शब्द श्रावण है, सिद्ध पक्षाभास है । क्योंकि असिद्ध को साध्य बनाया जाता है, सिद्ध को नहीं । परन्तु यहाँ सिद्ध को साध्य बनाया गया है ।

बाधित पक्षाभास के भेद

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥ १५ ॥

बाधित पक्षाभास प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचनों से बाधित होने के कारण पाँच प्रकार का है ।

प्रत्यक्षबाधित पक्षाभास का उदाहरण

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥ १६ ॥

कोई कहता है कि अग्नि अनुष्ण (शीतल) है, क्योंकि वह द्रव्य है, जो द्रव्य होता है वह शीतल होता है, जैसे जल । यह प्रत्यक्षबाधित पक्षाभास का उदाहरण है । स्पार्शन प्रत्यक्ष से प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि अग्नि उष्ण है । अतः जो भी उसे अनुष्ण कहता है उसका कथन प्रत्यक्षबाधित है ।

अनुमानबाधित पक्षाभास का उदाहरण

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद्घटवत् ॥ १७ ॥

शब्द अपरिणामी (नित्य) है, कृतक होने से, घट की तरह । यहाँ 'शब्द अपरिणामी है' यह पक्ष अनुमान से बाधित है । क्योंकि कृतकत्व हेतु जन्य अनुमान से तो यही सिद्ध होता है कि जो कृतक है वह परिणामी (अनित्य) होता है, जैसे घट ।

आगमबाधित पक्षाभास का उदाहरण

प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ॥ १८ ॥

धर्म परलोक में दुःख देता है, पुरुष के आश्रित होने से, अधर्म की तरह । जो पुरुष के आश्रित होता है वह दुःखदायी होता है, जैसे अधर्म । यद्यपि धर्म और अधर्म दोनों पुरुष के आश्रित हैं, फिर भी आगम में यह लिखा है कि धर्म परलोक में सुख देता है । अतः यह आगमबाधित पक्षाभास का उदाहरण है ।

लोकबाधित पक्षाभास का उदाहरण

शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत् ॥ १९ ॥

मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र है, प्राणी का अंग होने से । जो प्राणी का अंग होता है वह पवित्र होता है, जैसे शंख और शुक्ति (सीप) । लोक में प्राणी का अंग होने पर भी किसी को पवित्र और किसी को अपवित्र माना गया है । किन्तु मनुष्य के शिर के कपाल को तो सर्वथा अपवित्र ही माना गया है । अतः यह लोकबाधित पक्षाभास का उदाहरण है ।

स्ववचनबाधित पक्षाभास का उदाहरण

माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत् ॥ २० ॥

कोई कहता है कि मेरी माता वन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता है, जैसे कि प्रसिद्ध वन्ध्या । यह स्ववचनबाधित पक्षाभास का उदाहरण है । क्योंकि उसका कथन उसी के वचनों से बाधित हो जाता है । यदि उसकी माता वन्ध्या है तो उसका जन्म कैसे हुआ ?

हेत्वाभास के भेद

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥ २१ ॥

हेत्वाभास के चार भेद हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर ।

असिद्ध हेत्वाभास का स्वरूप

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥ २२ ॥

जिस हेतु की सत्ता ही न हो अथवा जिसका निश्चय न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं । असिद्ध हेत्वाभास के दो भेद हैं—स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध । जिस हेतु का कोई स्वरूप ही न हो उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं और जिस हेतु के रहने में संदेह हो उसे संदिग्धासिद्ध कहते हैं ।

स्वरूपासिद्ध का उदाहरण

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥ २३ ॥

शब्द परिणामी है, चाक्षुष होने से । यहाँ चाक्षुषत्व हेतु की सत्ता ही नहीं है । क्योंकि शब्द चाक्षुष नहीं है, वह तो श्रावण है, अर्थात् श्रवण इन्द्रिय का विषय है । शब्द को चाक्षुष कहना स्वरूप से ही असिद्ध है । अतः यह स्वरूपासिद्ध का उदाहरण है ।

यह स्वरूपासिद्ध क्यों है इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

स्वरूपेणासिद्धत्वात् ॥ २४ ॥

इस हेतु का तो स्वरूप ही असिद्ध है । चाक्षुष ज्ञान के द्वारा जो ग्राह्य होता है उसे चाक्षुष कहते हैं । शब्द तो कभी भी चाक्षुष ज्ञान का विषय नहीं होता है । वह तो श्रोत्र ज्ञान के द्वारा ग्राह्य होता है । अतः शब्द को परिणामी सिद्ध करने में चाक्षुषत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है ।

संदिग्धासिद्ध का उदाहरण

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ॥ २५ ॥

कोई व्यक्ति किसी मुग्धबुद्धि (भोलाभाला) पुरुष से कहता है कि यहाँ अग्नि है, धूम होने से । यहाँ मुग्धबुद्धि पुरुष को धूम के अस्तित्व के विषय में निश्चय न होने के कारण उसका धूमज्ञान संदिग्ध ही रहेगा । अतः यह संदिग्धासिद्ध का उदाहरण है ।

मुग्धबुद्धि पुरुष को धूम विषयक संदेह क्यों रहता है इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ॥ २६ ॥

उस मुग्धबुद्धि पुरुष को भूतसंघात (धूम) में वाष्प आदि के रूप में सन्देह हो सकता है । अर्थात् वह यह निश्चय नहीं कर पाता है कि वास्तव

में यह धूम ही है । क्योंकि उसे यह सन्देह बना रहता है कि कहीं यह वाष्प (भाप) न हो । अतः वह धूम का निश्चय करने में असमर्थ रहता है । इसी कारण उसके लिए प्रयुक्त धूम हेतु संदिग्धासिद्ध होता है ।

असिद्ध हेत्वाभास का दूसरा उदाहरण

सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २७ ॥

कोई व्यक्ति सांख्य से कहता है कि शब्द परिणामी (अनित्य) है, कृतक होने से । यहाँ सांख्य को कृतकत्व हेतु असिद्ध है । सांख्य को कृतत्व हेतु क्यों असिद्ध है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

तेनाज्ञातत्वात् ॥ २८ ॥

उसने कृतकत्व को जाना ही नहीं है । सांख्य यह जानता ही नहीं है कि कृतकत्व क्या है ? क्योंकि साख्यदर्शन में प्रत्येक वस्तु का आविर्भाव और तिरोभाव ही माना गया है, उत्पत्ति और विनाश नहीं । इस कारण सांख्य को कृतकत्व सर्वथा अज्ञात है । अतः उसके प्रति कृतकत्व हेतु उसे सर्वथा असिद्ध है ।

विरुद्ध हेत्वाभास का स्वरूप और उदाहरण

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २९ ॥

साध्य से विपरीत के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित होता है उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं । जैसे शब्द अपरिणामी (नित्य) है, कृतक होने से । यहाँ अपरिणामी साध्य है और कृतकत्व हेतु है । कृतकत्व हेतु का अविनाभाव अपरिणामी के साथ न होकर उसके विपरीत परिणामी के साथ है । अतः कृतकत्व हेतु शब्द को अपरिणामी सिद्ध न करके परिणामी सिद्ध करता है । इस कारण यह विरुद्ध हेत्वाभास है ।

अनैकान्तिक हेत्वाभास का स्वरूप

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ॥ ३० ॥

जिस हेतु का विपक्ष में भी रहने में कोई विरोध नहीं है उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं । जो हेतु पक्ष और सपक्ष में रहने के साथ ही विपक्ष में

भी रहता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है । इसके दो भेद हैं— निश्चितविपक्षवृत्ति और शंकितविपक्षवृत्ति ।

निश्चितविपक्षवृत्ति का उदाहरण

निश्चितविपक्षवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् ॥ ३१ ॥

शब्द अनित्य है, प्रमेय होने से, घट की तरह । यहाँ अनित्यत्व साध्य है और प्रमेयत्व हेतु है । प्रमेयत्व हेतु पक्ष (शब्द) में, सपक्ष (घट) में रहने के साथ ही विपक्ष (नित्य वस्तुओं) में भी निश्चितरूप से रहता है । अतः यह निश्चितविपक्षवृत्ति नामक अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

इस हेतु की विपक्ष में वृत्ति कैसे निश्चित है इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

अकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ॥ ३२ ॥

पूर्वोक्त अनुमान में नित्य आकाश विपक्ष है और प्रमेयत्व हेतु का विपक्ष में रहना निश्चित है । क्योंकि आकाश भी घटादि की तरह प्रमेय है ।

शंकितविपक्षवृत्ति का उदाहरण

शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ॥ ३३ ॥

कोई सर्वज्ञ नहीं है, वक्ता होने से । यहाँ असर्वज्ञ पक्ष है, रथ्यापुरुष सपक्ष है और सर्वज्ञ विपक्ष है । वक्तृत्व हेतु पक्ष और सपक्ष में तो रहता ही है, किन्तु विपक्ष (सर्वज्ञ) में रहता है कि नहीं इस बात में सन्देह है । अतः यह शंकितविपक्षवृत्ति नामक अनैकान्तिक हेत्वाभास का उदाहरण है ।

वक्तृत्व हेतु की विपक्ष में रहने की शंका क्यों होती है इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ॥ ३४ ॥

सर्वज्ञत्व के साथ वक्तृत्व का कोई विरोध न होने से यह शंका होती है कि वक्तृत्व विपक्ष (सर्वज्ञ) में भी क्यों नहीं रह सकता है ? यहाँ यह भी स्मरणीय है कि ज्ञान के उत्कर्ष में वक्तृत्व का अपकर्ष न होकर उत्कर्ष ही देखा जाता है । इसलिए सर्वज्ञ में वक्तृत्व पाये जाने की पूरी पूरी संभावना है ।

अकिंचित्कर हेत्वाभास का स्वरूप

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥ ३५ ॥

साध्य के सिद्ध होने पर तथा प्रत्यक्षादि से बाधित होने पर उस साध्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हेतु अकिंचित्कर हेत्वाभास कहलाता है । क्योंकि वह साध्य की कुछ भी सिद्धि नहीं करता है ।

सिद्ध साध्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हेतु केअकिंचित्कर होने का उदाहरण

सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ॥ ३६ ॥

शब्द श्रावण है, क्योंकि वह शब्द है । यहाँ शब्द में श्रावणत्व साध्य तो पहले से ही सिद्ध है, फिर भी उसे सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त शब्दत्व हेतु साध्य की कुछ भी सिद्धि नहीं करता है । अतः यह सिद्धसाध्य नामक अकिंचित्कर हेत्वाभास है ।

शब्दत्व हेतु अकिंचित्कर क्यों है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

किञ्चिदकरणात् ॥ ३७ ॥

शब्द में श्रावणत्व की सिद्धि के लिए प्रयुक्त शब्दत्व हेतु कुछ भी नहीं करने के कारण अकिंचित्कर है । शब्द श्रावण है, यह बात तो पहले से ही सबको ज्ञात है, फिर यहाँ शब्दत्व हेतु ने क्या किया । अर्थात् कुछ भी नहीं किया ।

प्रत्यक्षादिबाधित साध्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हेतु के अकिंचित्कर होने का उदाहरण

यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ॥ ३८ ॥

जैसे अग्नि अनुष्ण है, द्रव्य होने से, इत्यादि अनुमान में प्रयुक्त द्रव्यत्व हेतु अग्नि में अनुष्णत्व साध्य की सिद्धि करने के लिए शक्य नहीं है । क्योंकि यहाँ साध्य (अग्नि में अनुष्णत्व) स्पार्शन प्रत्यक्ष से बाधित है । अतः प्रत्यक्ष से बाधित साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त द्रव्यत्व हेतु अग्नि को अनुष्ण (शीतल) सिद्ध नहीं कर सकने के कारण प्रत्यक्षबाधित-साध्य नामक अकिंचित्कर हेत्वाभास है । इसी प्रकार अनुमान आदि से

बाधित साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त सभी हेतुओं को अकिंचित्कर हेत्वाभास समझना चाहिए ।

यह अकिंचित्कर दोष हेतु के लक्षण का विचार करते समय ही होता है, वाद (शास्त्रार्थ) के समय नहीं । इसे आगे के सूत्र में बतलाया गया है—

लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ॥ ३९ ॥

यह अकिंचित्कर हेत्वाभास नामक दोष हेतु का लक्षण बतलाने के समय ही होता है, वादकाल में नहीं । क्योंकि व्युत्पन्न पुरुष का प्रयोग तो पक्ष के दोष से ही दूषित हो जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि वाद के करने में तो विद्वानों का ही अधिकार होता है । अत: विद्वान् पहले तो अकिंचित्कर हेत्वाभास का प्रयोग करेंगे ही नहीं और कदाचित् ऐसा प्रयोग करें भी तो वह पक्षाभास ही माना जायेगा, हेत्वाभास नहीं । अर्थात् साध्य के सिद्ध होने पर ऐसे पक्ष का प्रयोग सिद्ध पक्षाभास और साध्य के बाधित होने पर ऐसे पक्ष का प्रयोग बाधित पक्षाभास होगा । वहाँ अकिंचित्कर हेत्वाभास बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार हेत्वाभासों का वर्णन समाप्त हुआ ।

दृष्टान्ताभास :

अन्वय और व्यतिरेक के भेद से दृष्टान्ताभास दो प्रकार का है । उनमें से पहले अन्वय दृष्टान्ताभास के भेद बतलाते हैं—

दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभया: ॥ ४० ॥

अन्वय दृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं—असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन और असिद्ध उभय । इनको क्रमश: साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल भी कहते हैं ।

इन तीनों ही अन्वय दृष्टान्ताभासों के उदाहरणों को एक ही अनुमान में बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

अपौरुषेय: शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ॥ ४१ ॥

शब्द अपौरुषेय है, अमूर्त होने से, जैसे इन्द्रियसुख, परमाणु और घट । इस अनुमान में शब्द में अपौरुषेयत्व साध्य है और अमूर्तत्व हेतु है । यहाँ इन्द्रियसुख का दृष्टान्त साध्यविकल दृष्टान्ताभास है, क्योंकि वह

अपौरुषेय न होकर पौरुषेय है । परमाणु का दृष्टान्त साधनविकल दृष्टान्ताभास है, क्योंकि वह अमूर्त न होकर मूर्त है । और घट का दृष्टान्त उभयविकल दृष्टान्ताभास है, क्योंकि घट न तो अपौरुषेय है और न अमूर्त है । इसके विपरीत घट पौरुषेय और मूर्त दोनों है ।

अन्वय दृष्टान्त में साध्य से व्याप्त साधन बतलाया जाता है । इससे विपरीत अन्वय बतलाना भी अन्वय दृष्टान्ताभास है । इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ॥ ४२ ॥

पूर्वोक्त अनुमान में 'जो अपौरुषेय होता है वह अमूर्त होता है', इस प्रकार का विपरीत अन्वय बतलाना विपरीतान्वय नामक दृष्टान्ताभास है । यहाँ 'जो अमूर्त होता है वह अपौरुषेय होता है', ऐसा सही अन्वय न बतलाकर 'जो अपौरुषेय होता है वह अमूर्त होता है' ऐसा विपरीत अन्वय बतलाया गया है । इसी कारण इसको विपरीतान्वय नामक दृष्टान्ताभास कहा गया है ।

विपरीत अन्वय बतलाने पर दोष क्यों होता है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ॥ ४३ ॥

विपरीत अन्वय बतलाने पर विद्युत् आदि के द्वारा अतिप्रसंग दोष आता है । इसका तात्पर्य यह है कि आकाशीय बिजली अपौरुषेय तो है किन्तु अमूर्त नहीं है, वह तो मूर्त है । अत: जो अपौरुषेय होता है वह अमूर्त होता है ऐसा विपरीत अन्वय बतलाने पर बिजली में भी अमूर्तत्व का प्रसंग प्राप्त होगा । अर्थात् आकाशीय बिजली को अमूर्त मानना पड़ेगा ।

व्यतिरेक दृष्टान्ताभास के भेद और उदाहरण

व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ॥ ४४ ॥

व्यतिरेकदृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं—असिद्धसाध्यव्यतिरेक, असिद्ध-साधनव्यतिरेक और असिद्धोभयव्यतिरेक । इन तीनों ही व्यतिरेक दृष्टान्ताभासों के उदाहरण क्रमश: परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश हैं । यहाँ पूर्वोक्त अनुमान में ही व्यतिरेक दृष्टान्ताभासों को समझना है । पूर्वोक्त

अनुमान इस प्रकार है—शब्द अपौरुषेय है, अमूर्त होने से । व्यतिरेक दृष्टान्त में साध्य के अभाव में साधन का अभाव बतलाया जाता है । जैसे जहाँ अपौरुषेयत्व नहीं है वहाँ अमूर्तत्व भी नहीं होता है, जैसे परमाणु । यहाँ परमाणु का दृष्टान्त असिद्धसाध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है । क्योंकि परमाणु अपौरुषेय है । परमाणु में अपौरुषेयत्व साध्य का व्यतिरेक (अभाव) न होकर अपौरुषेयत्व का सद्भाव है । इसलिए यह असिद्ध-साध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है ।

इन्द्रिय सुख का दृष्टान्त असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है । क्योंकि इन्द्रियसुख मूर्त न होकर अमूर्त है । इसमें अमूर्तत्व साधन का व्यतिरेक नहीं है । इसलिए यह असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है । इसी प्रकार आकाश का दृष्टान्त असिद्धोभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है । क्योंकि आकाश अपौरुषेय और अमूर्त दोनों है । उसमें न तो साध्य का व्यतिरेक है और न साधन का व्यतिरेक है । इसलिए यह असिद्धोभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है ।

व्यतिरेकदृष्टान्त में साध्य के अभाव में साधन का अभाव बतलाया जाता है । इससे विपरीत कथन करना अर्थात् साधन के अभाव में साध्य का अभाव बतलाना भी विपरीतव्यतिरेक नामक दृष्टान्ताभास होता है । इसी बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम् ॥ ४५ ॥

ऐसा कहना कि जो अमूर्त नहीं है वह अपौरुषेय नहीं होता है, विपरीतव्यतिरेक नामक दृष्टान्ताभास है । यहाँ ऐसा व्यतिरेक बतलाना चाहिए था कि जो अपौरुषेय नहीं है वह अमूर्त नहीं होता है । परन्तु ऐसा न बतलाकर 'जो अमूर्त नहीं है वह अपौरुषेय नहीं होता है', ऐसा विपरीत व्यतिरेक बतलाया गया है । इसलिए यह विपरीतव्यतिरेक नामक दृष्टान्ताभास है । यहाँ भी विद्युत् के द्वारा अतिप्रसंग दोष आता है । क्योंकि विद्युत् मूर्त होकर भी अपौरुषेय है ।

बालप्रयोगाभास का स्वरूप

बालप्रयोगाभासाः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ॥ ४६ ॥

अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच

अवयवों में से कितने ही कम अवयवों का प्रयोग करना बाल प्रयोगभास है । अल्पज्ञानी पुरुष को बाल कहते हैं । अल्पज्ञानी व्यक्ति के लिए पाँच अवयवों में से तीन या चार अवयवों का प्रयोग करने पर प्रकृत वस्तु का ठीक से ज्ञान नहीं होता है । अत: उनके लिए पाँच से कम अवयवों के प्रयोग को बालप्रयोगाभास कहते हैं ।

बालप्रयोगाभास का उदाहरण

अग्निमानयं देशो धूमवत्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ॥ ४७ ॥

यह देश अग्निमान है, धूमवान् होने से । जो धूमवान् होता है वह अग्निमान् होता है, जैसे महानस (भोजनशाला) । यहाँ अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन तीन अवयवों का ही प्रयोग किया गया है । इसलिए यह बालप्रयोगाभास है ।

चार अवयवों का प्रयोग करने पर भी बालप्रयोगाभास होता है । इसे आगे के सूत्र में बतलाया गया है—

धूमवांश्चायमिति वा ॥ ४८ ॥

और यह देश धूमवान् है । ऐसा कह कर यहाँ पूर्वोक्त तीन अवयवों के साथ उपनय का प्रयोग तो किया गया है, परन्तु निगमन का प्रयोग न होने के कारण यह भी बालप्रयोगाभास है ।

अवयवों के विपर्यय में भी बालप्रयोगाभास होता है । इसी बात को निम्नलिखित सूत्र में बतलाते हैं—

तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति ॥ ४९ ॥

इसलिए यह देश अग्निमान् है और यह धूमवान् भी है । उदाहरण के बाद उपनय का प्रयोग करना चाहिए और अन्त में निगमन का प्रयोग करना चाहिए । परन्तु यहाँ पहले निगमन का प्रयोग किया गया है और अन्त में उपनय का प्रयोग किया गया है । इसलिए यह भी बालप्रयोगाभास है ।

अनुमान के पाँच अवयवों में से कम अवयवों के प्रयोग करने पर तथा विपरीत प्रयोग करने पर बालप्रयोगभास क्यों होता है, इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ॥ ५० ॥

अनुमान के पाँच अवयवों में से कम अवयवों का प्रयोग करने पर तथा विपरीत प्रयोग करने पर प्रकृत अर्थ (साध्य) का ज्ञान स्पष्टरूप से नहीं हो पाता है । इसलिए कम अवयवों के प्रयोग को तथा अवयवों के विपरीत प्रयोग को बालप्रयोगाभास कहा गया है । इसका तात्पर्य यह है कि अल्पज्ञानी पुरुष को साध्य की प्रतिपत्ति कराने के लिए पाँचों अवयवों का प्रयोग आवश्यक है । तथा यह भी आवश्यक है कि अवयवों का प्रयोग का क्रम विपरीत न हो । अर्थात् ऐसा न हो कि पहले निगमन कह दिया और फिर उपनय कहा । ऐसा करने से अल्पज्ञानी को साध्य की प्रतिपत्ति ठीक से नहीं हो सकेगी ।

आगमाभास का स्वरूप

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ॥ ५१ ॥

राग, द्वेष और मोह से आक्रान्त (परिव्याप्त) पुरुष के वचनों के द्वारा पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह आगमाभास कहलाता है । जो पुरुष रागी, द्वेषी और मोही है वह वस्तुतत्त्व के विपरीत भी कथन कर सकता है । रागादि से ग्रस्त होने के कारण उसके वचनों की कोई प्रामाणिकता नहीं रहती है । अत: उसके वचनों को सुनकर पुरुषों को किसी पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह आगमाभास है ।

आगमाभास का लौकिक उदाहरण

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ॥ ५२ ॥

जैसे किसी ने कहा कि बालको ! दौड़ो, नदी के किनारे लड्डुओं के ढेर लगे हैं, तो यह आगमाभास है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि कोई पुरुष दुष्ट बालकों के व्यवहार से व्याकुल हो गया था और उसने बालकों से पीछा छुड़ाने के लिए छलपूर्ण वचन बोलकर उन्हें नदी के किनारे भेज दिया । उसने ऐसा काम द्वेषवश किया और झूठ भी बोला । कोई पुरुष राग के वश होकर भी मनोविनोद के लिए उक्त प्रकार के या अन्य प्रकार के वचन बोल सकता है । अत: यह आगमाभास का लौकिक उदाहरण है ।

आगमाभास का शास्त्रीय उदाहरण

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति च ॥ ५३ ॥

यदि कोई मोही (अज्ञानी) व्यक्ति कहता है कि अंगुली के अग्रभार पर हाथियों के सैकड़ों समूह विद्यमान हैं, तो उसका ऐसा कथन आगमाभास है । ऐसा कहने वाला अपने अज्ञान का ही प्रदर्शन करता है । वह मिथ्या आगम जनित वासना के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणविरुद्ध कथन करता है । किसी भी प्रामाणिक आगम में उक्त प्रकार का कथन नहीं मिलता है । अत: यह आगमाभास का शास्त्रीय उदाहरण है ।

उक्त दोनों प्रकार के वचन आगमाभास क्यों हैं, इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

विसंवादात् ॥ ५४ ॥

विसंवाद होने के कारण उक्त दोनों प्रकार के वचन आगमाभास हैं । जो ज्ञान या वचन अविसंवादी होता है उसे ही प्रमाण माना गया है । जिस वचन में विसंवाद या विरोध हो उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता है । अत: पूर्वोक्त प्रकार के वचन निश्चितरूप से आगमाभास हैं ।

संख्याभास का स्वरूप

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ॥ ५५ ॥

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, इत्यादि कथन संख्याभास है । द्वितीय परिच्छेद में बतलाया गया है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेद हैं । इससे विपरीत कथन करना संख्याभास है । चार्वाक कहता है कि प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है । बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं । इत्यादि प्रकार का सब कथन संख्याभास है ।

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, चार्वाक का ऐसा कथन संख्याभास क्यों है ? इसे नीचे लिखे सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

लौकायतिकस्य प्रत्यक्षत: परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चा-सिद्धेरतद्विषयत्वात् ॥ ५६ ॥

चार्वाक मत में प्रत्यक्ष से परलोक आदि का निषेध और अन्य पुरुष में बुद्धि आदि की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि ये बातें प्रत्यक्ष का विषय नहीं हैं । चार्वाकमतानुयायी परलोक का निषेध करते हैं और अन्य पुरुष में बुद्धि (चैतन्य) की सिद्धि करते हैं । परन्तु ऐसा करना प्रत्यक्ष के

द्वारा संभव नहीं हैं । परलोक का निषेध तो अनुपलब्धिहेतुजन्य अनुमान से होता है और पर पुरुष में बुद्धि की सिद्धि कार्यहेतुजन्य अनुमान से होती है । इस प्रकार चार्वाक को अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ता है । अत: केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना संख्याभास है ।

अन्यवादियों के मत में भी संख्याभास बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमा-नार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् ॥ ५७ ॥

सौगत, सांख्य, यौग, प्राभाकर और जैमिनीयों के द्वारा अभिमत प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन एक-एक अधिक प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है । इसका तात्पर्य यह है कि बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं । सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण मानते हैं । यौग (नैयायिक-वैशेषिक) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान ये चार प्रमाण मानते हैं । प्राभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण मानते हैं । और जैमिनीय उक्त पाँच प्रमाणों में अभाव को मिलाकर छह प्रमाण मानते हैं । परन्तु इन वादियों द्वारा क्रमश: एक एक अधिक प्रमाण मानने पर भी इन सभी प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है । व्याप्ति का ग्रहण तो तर्क प्रमाण से होता है । अत: तर्क प्रमाण को न मानने के कारण बौद्ध आदि सभी वादियों के द्वारा अभिमत प्रमाणसंख्या विघटित हो जाती है । और इसी कारण उनके द्वारा अभिमत प्रमाणों की संख्या यथार्थ नहीं है, किन्तु संख्याभास है ।

यदि चार्वाक परलोक का निषेध तथा अन्य पुरुष में बुद्धि की सिद्धि अनुमान प्रमाण से करना स्वीकार करता है तो उसे अनुमान प्रमाण मानने का प्रसंग प्राप्त होता है । इसी बात को आगे के सूत्र में बतलाया गया है—

अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ॥ ५८ ॥

अनुमान आदि को परलोक के निषेध का और अन्य पुरुष में बुद्धि का विषय करने वाला मानने पर प्रमाणान्तर मानने का प्रसंग प्राप्त होता है । अर्थात् यदि चार्वाक परलोक के निषेध के लिए तथा अन्य पुरुष में बुद्धि

की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण स्वीकार करता है तो उसे अनुमान प्रमाण को मानना ही पड़ता है । इस प्रकार उसकी प्रमाण की एक संख्या का व्याघात हो जाता है ।

सौगत आदि के द्वारा अभिमत संख्या को भी संख्याभास बतलाते हैं—

तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ॥५९॥

जैसे कि तर्क को व्याप्ति का विषय करने वाला मानने पर सौगत आदि को उसे एक पृथक् प्रमाण मानना ही पड़ता है । क्योंकि अप्रमाणरूप कोई भी ज्ञान व्याप्ति का व्यवस्थापक (निश्चायक) नहीं हो सकता है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि सौगत आदि व्याप्ति ग्राहक तर्क प्रमाण को मानते हैं तो उनको एक प्रमाण अधिक मानना पड़ेगा और तब उनके द्वारा अभिमत प्रमाण की संख्या विघटित हो जायेगी ।

अब यह बतलाते हैं कि चार्वाक आदि के द्वारा अभिमत प्रमाण की संख्या क्यों विघटित हो जाती है ।

प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ॥६०॥

प्रतिभास का भेद प्रमाणों का भेदक होता है । चार्वाक मत में प्रत्यक्ष में अनुमान का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है । क्योंकि दोनों का पृथक् पृथक् प्रतिभास होता है । इसी प्रकार सौगतादि के मत में व्याप्ति ग्राहक तर्क प्रमाण का प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है । क्योंकि तर्क तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों में प्रतिभास भेद पाया जाता है । यही कारण है कि प्रत्यक्ष से अनुमान का भिन्न प्रतिभास होने से चार्वाक की तथा प्रत्यक्षादि से तर्क का भिन्न प्रतिभास होने से सौगत आदि की प्रमाणसंख्या विघटित हो जाती है । इस प्रकार संख्याभास का वर्णन समाप्त हुआ ।

विषयाभास—

अब प्रमाण के विषयाभास को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥६१॥

केवल सामान्य को, केवल विशेष को अथवा दोनों को स्वतन्त्र रूप से

प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है । प्रमाण का विषय न केवल सामान्य है और न केवल विशेष है । तथा दोनों स्वतन्त्र रह कर भी प्रमाण के विषय नहीं होते हैं ।

सांख्य केवल सामान्य को प्रमाण का विषय मानते हैं तथा बौद्ध केवल विशेष को प्रमाण का विषय मानते हैं । नैयायिक और वैशेषिक सामान्य और विशेष को स्वतन्त्र पदार्थ मानकर उनको प्रमाण का विषय मानते हैं । उनका ऐसा मानना विषयाभास है । क्योंकि सामान्य और विशेष में तादात्म्य पाया जाता है । वे दोनों तो वस्तु की आत्मा (स्वरूप) हैं । उन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता है । ऐसा तादात्म्यरूप सामान्य-विशेष ही प्रमाण का विषय होता है । अत: केवल सामान्य, केवल विशेष और दोनों स्वतन्त्र रह कर प्रमाण के विषय नहीं होते हैं ।

प्रमाण के विषय को केवल सामान्यरूप मानने में, केवल विशेषरूप मानने में तथा दोनों को स्वतन्त्र मानने में विषयाभास क्यों होता है, इस बात को आगे के सूत्र में बतलाया गया है—

तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ॥ ६२ ॥

केवल सामान्य का अथवा केवल विशेष का तथा दोनों का स्वतन्त्र प्रतिभास नहीं होता है । केवल सामान्यरूप और केवल विशेषरूप अर्थ अपना कार्य भी नहीं कर सकता है । इसलिए वे विषयाभास हैं । वास्तव में तादात्म्य अवस्था को प्राप्त सामान्य-विशेषरूप अर्थ का ही ज्ञान में प्रतिभास होता है और सामान्य-विशेषरूप अर्थ ही अर्थक्रिया करता है । जो एकान्तवादी एकान्तरूप अर्थ को कार्य करने वाला मानता है उससे हम पूछना चाहते हैं कि एकान्तरूप अर्थ कार्य करने में स्वयं समर्थ है अथवा असमर्थ है ?

प्रथम पक्ष में दूषण बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥ ६३ ॥

यदि वह एकान्तरूप अर्थ कार्य करने में स्वयं समर्थ है तो कार्य की उत्पत्ति सर्वदा होनी चाहिए । क्योंकि वह कार्य करने में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता है । तब कार्य की उत्पत्ति सर्वदा क्यों नहीं होती है ।

इस दोष को दूर करने के लिए एकान्तवादी कह सकता है कि

एकान्तरूप अर्थ सहकारी कारणों के सान्निध्य में कार्य करता है । जब सहकारी कारण मिल जाते हैं तब वह कार्य करता है और सहकारी कारणों के अभाव में कार्य नहीं करता है । एकान्तवादी के इस मत में दोष बतलाने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदघटनात् ॥ ६४ ॥

सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने पर उस एकान्तरूप अर्थ को परिणामी मानना पड़ेगा । अन्यथा वह कार्य नहीं कर सकता है । अर्थात् परिणामी हुए बिना वह कार्य नहीं कर सकता है ।

परिणामी का अर्थ है—पूर्व आकार का परित्याग, उत्तर आकार का उपादान और दोनों अवस्थाओं में किसी एक द्रव्य का ध्रौव्यरूप से अवस्थित रहना । अत: सहकारी कारणों की अपेक्षा से कार्य करने वाले द्रव्य में परिणमन मानना आवश्यक है । इसके बिना वह कभी भी कार्य नहीं कर सकता है । द्रव्य में किसी प्रकार का परिणमन न मानने पर जिस प्रकार घट प्रागभाव अवस्था में अकार्यकारी था उसी प्रकार उत्तर अवस्था में भी अकार्यकारी ही रहेगा । क्योंकि उसमें कोई परिणमन तो हुआ ही नहीं ।

यदि एकान्तरूप अर्थ कार्य करने में स्वयं असमर्थ है तो इस पक्ष में दोष बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात् पूर्ववत् ॥ ६५ ॥

जो एकान्तरूप अर्थ कार्य करने में स्वयं असमर्थ है वह सहकारी कारणों के मिल जाने पर भी कार्य नहीं कर सकता है । जिस प्रकार वह सहकारी कारणों से रहित अवस्था में कार्य करने के लिए असमर्थ था उसी प्रकार सहकारी कारणों के मिल जाने पर भी असमर्थ ही रहेगा । क्योंकि उसमें कार्य करने की शक्ति ही नहीं है । इस प्रकार विषयाभास का विवेचन समाप्त हुआ ।

फलाभास :

अब फलाभास को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ॥ ६६ ॥

प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न अथवा सर्वथा भिन्न मानना फलाभास है । बौद्ध मानते हैं कि प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा अभिन्न है । इसके विपरीत यौग मानते हैं कि प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा भिन्न है । इस प्रकार फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न मानना फलाभास है । प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न मानने में दोष बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ॥ ६७ ॥

प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न मानने पर यह प्रमाण है और यह उसका फल है, ऐसा भेद व्यवहार नहीं बन सकेगा । सर्वथा अभेद पक्ष में या तो प्रमाण ही रहेगा या फल ही रहेगा, दोनों नहीं रह सकते हैं ।

यदि यहाँ बौद्ध कहना चाहें कि प्रमाण और फल में अभेद मानने पर भी अतद्व्यावृत्ति से प्रमाण और फल का व्यवहार बन जायेगा तो बौद्धों के इस कथन में दोष बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

व्यावृत्त्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्याऽफलत्वप्रसंगात् ॥ ६७ ॥

बौद्ध मानते हैं कि प्रमाण में अप्रमाण की व्यावृत्ति और अफल की व्यावृत्ति दोनों रहती हैं और इससे प्रमाण और फल दोनों का व्यवहार बन जाता है । अर्थात् अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण का व्यवहार और अफल की व्यावृत्ति से फल का व्यवहार होने में कोई विरोध नहीं है । बौद्धों की इस मान्यता का निराकरण करने के लिए कहा गया है कि व्यावृत्ति के द्वारा भी प्रमाण और फल की कल्पना नहीं की जा सकती है । क्योंकि जिस प्रकार प्रमाण में विजातीय अफल की व्यावृत्ति है उसी प्रकार सजातीय फलान्तर की भी व्याप्ति है । और ऐसी स्थिति में फलान्तर की व्यावृत्ति से उसमें अफलत्व का प्रसंग आता है ।

बौद्धों के यहाँ अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । इसी बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ॥ ६९ ॥

यदि इसमें अप्रमाण की व्यावृत्ति होने से इसे प्रमाण माना जाय तो प्रमाणान्तर की व्यावृत्ति से इसे अप्रमाण भी मानना पड़ेगा । अर्थात् जिस प्रकार फलान्तर की व्यावृत्ति से उसमें अफलत्व का प्रसंग आता है उसी

प्रकार प्रमाणान्तर की व्यावृत्ति से उसमें अप्रमाणत्व का प्रंसग भी आयेगा ही और इसका निरकारण संभव नहीं है ।

प्रमाण और फल में भेद वास्तविक है, इसे बतलाने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

तस्माद् वास्तवो भेदः ॥ ७० ॥

इसलिए प्रमाण और फल में भेद वास्तविक है । व्यावृत्ति के द्वारा प्रमाण और फल में भेद की कल्पना करना ठीक नहीं है । परन्तु उनमें वास्तविक भेद मानना ही युक्तिसंगत है । यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रमाण और फल में सर्वथा भेद नहीं है किन्तु कथंचित् भेद है ।

प्रमाण और फल में सर्वथा भेद मानने में क्या दोष है इसे आगे के सूत्र में बतलाते हैं—

भेदे त्वात्मान्तरवत् तदनुपपत्तेः ॥ ७१ ॥

प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा भिन्न मानने पर इस प्रमाण का यह फल है ऐसा व्यवहार नहीं बन सकता है । जिस प्रकार दूसरी आत्मा के प्रमाण का फल हमारी आत्मा के प्रमाण का फल नहीं हो सकता है, उसी प्रकार हमारी आत्मा के प्रमाण का फल भी हमारा नहीं हो सकेगा । क्योंकि दोनों में सर्वथा भेद समान है ।

यौग उपर्युक्त दोष का निराकरण समवाय सम्बन्ध से करते हैं । वे कहते हैं कि जिस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से प्रमाण रहता है उसी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से फल भी रहता है । इस प्रकार एक ही आत्मा में प्रमाण और फल की व्यवस्था बन जाती है । तब यह प्रसंग नहीं आता है कि जिस प्रकार दूसरी आत्मा के प्रमाण का फल हमारा नहीं है उसी प्रकार हमारी आत्मा के प्रमाण का फल भी हमारा नहीं होगा ।

यौगों के इस कथन में क्या दोष है इसे बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

समवायेऽतिप्रसङ्गः ॥ ७२ ॥

समवाय के मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है । यौगों के अनुसार समवाय एक, नित्य और व्यापक है । तब समवाय का सम्बन्ध सभी आत्माओं में समानरूप से होगा । ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता

है कि यह इसी आत्मा के प्रमाण का फल है और अन्य आत्मा के प्रमाण का यह फल नहीं है । इसलिए प्रमाण से फल को सर्वथा भिन्न मानना ठीक नहीं है । उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यही है कि प्रमाण से फल को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिए । ऐसा मानना ही श्रेयस्कर है ।

स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण व्यवस्था

अब आचार्य स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण की व्यवस्था को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ॥ ७३ ॥

इस सूत्र का अर्थ यह है कि वाद के समय वादी ने पहले प्रमाण को प्रस्तुत किया । तदनन्तर प्रतिवादी ने उसमें दोष बतलाकर उसका उद्भावन कर दिया । उसके बाद यदि वादी ने उस दोष का परिहार कर दिया तो वह वादी के लिए साधन हो जायेगा और प्रतिवादी के लिए दूषण हो जायेगा । इसी प्रकार जब वादी ने पहले प्रमाणाभास को प्रस्तुत किया और प्रतिवादी ने उसमें दोष बतलाकर उसका उद्भावन कर दिया । तदनन्तर यदि वादी उस दोष का परिहार नहीं कर पाया तो वह वादी के लिए साधनाभास हो जायेगा और प्रतिवादी के लिए भूषण हो जायेगा । वाद के समय जो पहले अपने पक्ष को स्थापित करता है वह वादी कहलाता है और जो वादी के द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिवाद करता है वह प्रतिवादी कहलाता है । जो अपने पक्ष में प्रदत्त दूषणों का परिहार करके अपने पक्ष को निर्दोष सिद्ध कर देता है वाद में उसकी जय होती है और जो वैसा नहीं कर पाता है उसकी पराजय होती है ।

प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप बतलाया जा चुका है । यदि वादी और प्रतिवादी ने प्रमाण तथा प्रमाणाभास के स्वरूप को ठीक तरह से जान लिया है तो यह जय का कारण होता है । और यदि उन्होंने प्रमाण तथा प्रमाणाभास के स्वरूप को ठीक तरह से नहीं समझा है तो यह पराजय का कारण होता है । प्रमाण और प्रमाणाभास के ज्ञाता वादी ने स्वपक्ष की सिद्धि के लिए प्रमाण प्रस्तुत किया । तथा प्रमाण और प्रमाण

के स्वरूप को नहीं जानने वाले प्रतिवादी ने अपनी अज्ञानता के कारण वादी के द्वारा प्रस्तुत प्रमाण को प्रमाणाभास बतला दिया । तब यदि वादी अपने पक्ष में दिये गये दोषों का परिहार कर देता है तो वह उसके लिए साधन और प्रतिवादी के लिए दूषण हो जाता है । अर्थात् उस समय वादी की जय और प्रतिवादी की पराजय होती है । इसके विपरीत प्रमाण और प्रमाणाभास के स्वरूप को न जानने वाले वादी ने अपने पक्ष की सिद्धि के लिए प्रमाणाभास प्रस्तुत कर दिया तथा प्रमाण और प्रमाणाभास को ठीक तरह से जानने वाले प्रतिवादी ने वादी के द्वारा प्रस्तुत प्रमाणाभास को प्रमाणाभास बतला दिया । तब यदि वादी अपने पक्ष में दिये गये दोष का परिहार नहीं कर पाता है तो वह उसके लिए साधनाभास और प्रतिवादी के लिए भूषण हो जाता है । अर्थात् उस समय वादी की पराजय और प्रतिवादी की जय होती है ।

जय-पराजयव्यवस्था विचार

जैन न्याय में कथा (चर्चा) दो प्रकार की मानी गई है—वीतरागकथा और विजिगीषुकथा । रागद्वेषरहित गुरु-शिष्यों में अथवा विशिष्ट विद्वानों में तत्त्व निर्णय के लिए जो चर्चा होती है वह वीतराग कथा है । इसके विपरीत वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष की सिद्धि के लिए जय-पराजय पर्यन्त जो वचन व्यापार होता है वह विजिगीषुकथा कहलाती है । जैनदर्शन में विजिगीषु कथा को वाद कहा गया है । यौग वीतराग कथा को वाद कहते हैं । किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि गुरु-शिष्यों की चर्चा को कोई वाद नहीं कहता है । न्यायदर्शन ने वाद में छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग उचित नहीं माना है, किन्तु जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असत् उपायों का अवलम्बन लेना उचित माना है । क्योंकि जल्प और वितण्डा का उद्देश्य तत्त्वसंरक्षण करना है और तत्त्व का संरक्षण किसी भी उपाय से करने में कोई आपत्तिजनक बात नहीं मानी गई है । नैयायिकों ने जब जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग स्वीकार कर लिया तो फिर वाद में भी उन्हीं के आधार पर जय-पराजय की व्यवस्था बन गई । वाद, जल्प और वितण्डा ये तीनों शास्त्रार्थ में जीतने के इच्छुक लोगों के लिए बतलाये गये

हैं । न्यायदर्शन में वाद, जल्प और वितण्डा का जो स्वरूप बतलाया गया है वह इस प्रकार है ।

वाद का स्वरूप :

प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ।

प्रमाण और तर्क से जहाँ साधन और दूषण बतलाया जाता है, जो सिद्धान्त से अविरोधी है और जो अनुमान के पाँच अवयवों से सहित होता है ऐसे पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वीकार करना वाद कहलता है ।

जल्प का स्वरूप :

यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभो जल्पः ।

जल्प का लक्षण वाद के समान ही है । यहाँ इतनी विशेषता है कि जल्प में प्रमाण और तर्क के अतिरिक्त छल, जाति और निग्रहस्थान के द्वारा भी पक्ष की सिद्धि की जाती है और प्रतिपक्ष में दूषण दिया जाता है ।

वितण्डा का स्वरूप :

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ।

वितण्डा में प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं की जाती है । अर्थात् इसमें केवल पक्ष ही होता है, प्रतिपक्ष नहीं । शेष सब बातें जल्प के समान होती हैं । वितण्डा में प्रतिपक्ष नहीं होने का तात्पर्य यह है कि वादी ने जो अपना पक्ष प्रस्तुत किया है, प्रतिवादी केवल उसी का खण्डन करता है । वह वादी के पक्ष के विरुद्ध प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं करता है ।

न्यायदर्शन में छल, जाति और निग्रहस्थान का स्वरूप तथा उनके भेद उदाहरण पूर्वक बतलाये गये हैं जो इस प्रकार हैं ।

छल का लक्षण :

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ।

अर्थ में विकल्प उत्पन्न करके किसी के वचन का व्याघात करना छल कहलाता है । छल के तीन भेद हैं—वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल । सामान्य रूप से किसी अर्थ के कहने पर वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करना वाक्छल है । जैसे किसी ने कहा कि

'नवकम्बलोऽयम्' । ऐसा कहने वाले का तात्पर्य यह है कि इस व्यक्ति के पास नूतन कम्बल है । किन्तु सुनने वाला दूसरा व्यक्ति छल द्वारा कहता है कि इसके पास नौ कम्बल कैसे हो सकते हैं । यह वाक्छल है । संभव अर्थ में अतिसामान्य धर्म के सम्बन्ध से असंभव अर्थ की कल्पना करना सामान्य छल है । जैसे किसी ने कहा कि 'यह ब्राह्मण विद्याचरण से सम्पन्न है'। ऐसा कहने वाले का तात्पर्य केवल इतना है कि इस ब्राह्मण में विद्याचरण का होना संभव है । किन्तु दूसरा व्यक्ति छल से कहता है कि यदि इस ब्राह्मण में विद्याचरण का होना संभव है तो व्रात्य में भी विद्याचरण संभव है । क्योंकि व्रात्य भी ब्राह्मण है । उपनयन आदि संस्कारों से रहित ब्राह्मण को व्रात्य कहते हैं । यहाँ ब्राह्मणत्व अतिसामान्य धर्म है । क्योंकि वह विद्याचरण सम्पन्न ब्राह्मण में तथा व्रात्य में भी पाया है । अत: यह सामान्य छल है । धर्म के विकल्प द्वारा निर्देश करने पर अर्थ के सद्भाव का निषेध करना उपचार छल है । जैसे किसी ने कहा कि 'मञ्च शब्द कर रहा है' । ऐसा कहने पर दूसरा व्यक्ति कहता है कि मञ्च शब्द नहीं कर सकता है, किन्तु मञ्च पर स्थित पुरुष शब्द करता है । यहाँ 'मञ्च शब्द कर रहा है', यह वाक्य लक्षणा धर्म के विकल्प से कहा गया है । किन्तु दूसरा व्यक्ति शक्ति धर्म के विकल्प से उसका निषेध करता है । अत: यह उपचार छल है ।

जाति का स्वरूप :

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थापनं जातिः ।

साधर्म्य दिखलाकर किसी वस्तु की सिद्धि करने पर उसी साधर्म्य द्वारा उसका निषेध करना अथवा वैधर्म्य द्वारा किसी वस्तु की सिद्धि करने पर उसी वैधर्म्य द्वारा उसका निषेध करना जाति कहलाती है । जाति के साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा इत्यादि २४ भेद हैं ।

साधर्म्यसमा का उदाहरण—

कोई कहता है कि आत्मा क्रियावान् है, क्योंकि उसमें क्रिया का कारणभूत गुण प्रयत्न पाया जाता है । जैसे पत्थर में क्रिया का कारणभूत गुण होने से वह क्रियावान् है । ऐसा कहने पर दूसरा व्यक्ति कहता है कि आत्मा निष्क्रिय है, क्योंकि विभु द्रव्य निष्क्रिय होता है, जैसे आकाश । यहाँ पत्थर के साधर्म्य से आत्मा में क्रियावत्त्व सिद्ध करने पर पुन: आकाश के साधर्म्य से उसमें निष्क्रियत्व सिद्ध करना साधर्म्यसमा जाति है ।

निग्रहस्थान का लक्षण :

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।

पराजयप्राप्ति का नाम निग्रहस्थान है । यह दो प्रकार से होता है— कहीं विप्रतिपत्ति से और कहीं प्रतिपत्ति के न होने से । विप्रतिपत्ति का अर्थ है विपरीत ज्ञान और अप्रतिपत्ति का अर्थ है अज्ञान । निग्रहस्थान के प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर आदि २२ भेद हैं । प्रतिज्ञाहानि का उदाहरण इस प्रकार है । किसी व्यक्ति ने कहा कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय है, जैसे घट । ऐसा कहने पर दूसरा व्यक्ति उसका निग्रह करने के लिए कहता है कि गोत्वादि सामान्य भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, परन्तु वह अनित्य न होकर नित्य है । अत: इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय होने से शब्द भी नित्य सिद्ध होता है । तब वादी दृष्टान्तभूत घट की नित्यता स्वीकार कर लेता है । इस प्रकार घट की नित्यता स्वीकार करने पर वादी के पक्ष की हानि होने से उसके लिए यह विप्रतिपत्ति के कारण निग्रहस्थान होता है । तथा यह प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान है । अप्रतिपत्ति के कारण निग्रहस्थान तब होता है जब वादी द्वारा किसी विषय के अनेक बार कहने पर भी यदि प्रतिवादी उस विषय को नहीं समझ सकने के कारण चुप रह जाता है तो यह प्रतिवादी के लिए अप्रतिपत्ति के कारण निग्रहस्थान होता है । इस प्रकार यहाँ न्यायदर्शन के अनुसार वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति और निग्रहस्थान का स्वरूप बतलाया गया है ।

जैनदर्शन के अनुसार वाद के चार अंग होते हैं—वादी, प्रतिवादी, प्राश्निक और सभापति । किन्तु यौग वाद के चार अंग नहीं मानते हैं । उनके मत में वाद को विजिगीषु कथा के रूप में न मानकर वीतराग कथा के रूप में माना गया है । इसलिए वहाँ वाद के चार अंग भी नहीं माने गये हैं । नैयायिक-वैशेषिक जल्प और वितण्डा को तत्त्वसंरक्षण के लिए मानते हैं और कहते कि तत्त्वसंरक्षण यदि असत् उपायों से भी होता है तो उसे करना चाहिए । किन्तु वे वाद को तत्त्वसंरक्षण के लिए नहीं मानते हैं ।

यौगों का उक्त कथन समीचीन नहीं है । जल्प और वितण्डा की तरह वाद भी जीतने की इच्छा रखने वाले लोगों में होता है तथा वाद से

तत्त्वसंरक्षण भी होता है । तत्त्वसंरक्षण का मतलब यह है कि न्याय के बल से सम्पूर्ण दोषों का निराकरण करके तत्त्व की रक्षा करना । इसका ऐसा मतलब नहीं है कि दोषों के उद्भावन करने वाले का किसी भी प्रकार मुख बन्द कर देना । यदि प्रतिपक्षी के मुख को बन्द कर देने से ही इष्ट तत्त्व की सिद्धि होती है तो लाठी, चपेटा आदि उपायों के द्वारा भी प्रतिपक्षी का मुख बन्द करके तत्त्वसंरक्षण करना चाहिए । इस कथन का तात्पर्य यह है कि छल, जाति और निग्रहस्थान ये सब असत् उपाय होने के कारण स्वपक्ष की सिद्धि करने में तथा परपक्ष के निराकरण करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं । यही कारण है कि इनके द्वारा जय और पराजय की व्यवस्था नहीं बन सकती है । यहाँ मुख्य बात यह है कि निर्दोष साधनों द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि होने पर ही वादी की जय होती है और प्रतिवादी की पराजय होती है ।

बौद्धदार्शनिक धर्मकीर्ति ने वादन्याय में छल, जाति और निग्रहस्थान के आधार से होने वाली जय-पराजय की व्यवस्था का खण्डन करते हुए वादी के लिए असाधनांगवचन और प्रतिवादी के लिए अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रहस्थान बतलाये हैं । जैसा कि वादन्याय में कहा गया है—

असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥

उक्त दो निग्रहस्थानों के अतिरिक्त अन्य कोई भी निग्रहस्थान युक्तिसंगत न होने के कारण बौद्धों के लिए इष्ट नहीं है । जो साधन का अंग नहीं है उसको कहना अथवा जो साधन का अंग है उसे नहीं कहना असाधनांग-वचन है । इसी प्रकार साधन में जो दोष है उसका उद्भावन न करना अथवा साधन में जो दोष नहीं है उसका उद्भावन करना अदोषोद्भावन है । वादी का कर्तव्य है कि वह निर्दोष साधन बोले और प्रतिवादी का कर्तव्य है कि वह साधन में यथार्थ दोषों का उद्भावन करे ।

जैनदर्शन नैयायिकों के तथा बौद्धों के द्वारा प्रतिपादित निग्रहस्थान को स्वीकार नहीं करता है तथा छल, जाति और निग्रहस्थान द्वारा जय-पराजय व्यवस्था भी नहीं मानता है । इस विषय में आचार्य अकलंकदेव ने अष्टशती में कहा है—

स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः ।
नासाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ॥

वादी और प्रतिवादी में से किसी एक की स्वपक्ष सिद्धि ही दूसरे का निग्रह कहलाता है । अर्थात् यदि वादी के स्वपक्ष की सिद्धि हो जाती है तो इससे प्रतिवादी का निग्रह हो जाता है । और यदि प्रतिवादी के स्वपक्ष की सिद्धि हो जाती है तो इससे वादी का निग्रह हो जाता है । असाधनांगवचन से वादी का निग्रह और अदोषोद्भावन से प्रतिवादी का निग्रह मानना ठीक नहीं है । इस कथन का निष्कर्ष यह है कि वादी को अविनाभावी साधन से स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का निराकरण करना चाहिए । इसी प्रकार प्रतिवादी को वादी के साधन में यथार्थ दूषण बतलाना चाहिए तथा अपने पक्ष की सिद्धि करना चाहिए । एक की जय तथा दूसरे की पराजय के लिए इतना ही पर्याप्त है । इससे अधिक और किसी बात की आवश्यकता नहीं है । यहाँ एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि आवश्यकता से कुछ अधिक बोलने से या कुछ कम बोलने से भी किसी की जय या पराजय नहीं होती है । कहा भी है—

स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावात् ।

अर्थात् यदि अपने साध्य को सिद्ध करके कोई व्यक्ति नाचने भी लगे तो इससे उसके पक्ष में कोई दोष नहीं दिया जा सकता है । इस प्रकार यहाँ वाद में संक्षेपरूप से जय-पराजय व्यवस्था का विचार किया गया है ।

अभी तक प्रमाण और प्रमाणाभास का विस्तार से विवेचन हो चुका है । अब आचार्य इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों पर विचार करने के लिए सूत्र कहते हैं

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ॥ ७४ ॥

वस्तुतत्त्व की प्रतिपत्ति के लिए नय, नयाभास, सप्तभंगी और पत्र आदि अन्य जो भी उपाय संभव हैं उनका भी यहाँ विचार कर लेना चाहिए । तदनुसार इस सूत्र की व्याख्या में नय, नयाभास, सप्तभंगी और पत्र के स्वरूप का विचार किया गया है ।

नयविचार

नय और नयाभास का स्वरूप इस प्रकार है—

अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः ।
निराकृतप्रतिपक्षस्तु नयाभासः ।

जिसने प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं किया है और जो वस्तु के एक अंश (धर्म) को ग्रहण करता है, ऐसे ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं । वस्तु अनन्तधर्मात्मक है । ज्ञाता वस्तु के उन अनन्तधर्मों में से नय के द्वारा मुख्यरूप से एक धर्म का विचार करता है, किन्तु शेष धर्मों का निराकरण नहीं करके उनका भी अस्तित्व स्वीकार करता है । यही नय है । नयाभास इसके विपरीत होता है । नयाभास में किसी एक धर्म का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है और शेष धर्मों का निरकारण कर दिया जाता है । वहाँ शेष धर्मों की कोई अपेक्षा नहीं रहती है ।

मूल नय दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय । द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार । पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ।

नैगम नय—'तत्रानिष्पन्नार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः' । निगम शब्द से नैगम बना है । संकल्प को निगम कहते हैं । नैगम नय अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करता है । कोई पुरुष कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी काटने के लिए जंगल को जा रहा है । किसी ने उससे पूछा—कहाँ जा रहे हो ? तब वह कहता है—प्रस्थ लेने जा रहा हूँ । अनाज मापने के पात्र को प्रस्थ कहते हैं । यहाँ अभी प्रस्थरूप पर्याय निष्पन्न नहीं हुई है । वह तो भविष्य में निष्पन्न होगी । किन्तु लाई जाने वाली लकड़ी में वह प्रस्थ बनाने का संकल्प करके उसमें अभी से प्रस्थ का व्यवहार कर रहा है । यही नैगम नय है । यह नय एक ही धर्म को ग्रहण नहीं करता है, किन्तु विधि और प्रतिषेध रूप अनेक धर्मों को मुख्यता और गौणता से ग्रहण करता है । अतः 'नैकं गमः नैगमः' इस प्रकार की इसकी व्युत्पत्ति सार्थक है । नैगम नय न केवल धर्म को विषय करता है, और न केवल धर्मी को विषय करता है किन्तु विवक्षा के अनुसार दोनों को विषय करता है । इसी प्रकार यह नय अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि में एक की प्रधानता से विवक्षा होने पर दूसरे को गौणरूप से ग्रहण करता है । यह विवक्षानुसार गुण-गुणी आदि में भेद और अभेद दोनों को ही विषय करता है । इसके विपरीत गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है ।

संग्रहनय—अविरोधपूर्वक अपनी जाति के समस्त पदार्थों को सत्‌रूप से अथवा द्रव्यादि रूप से ग्रहण करने वाले नय को संग्रहनय कहते हैं ।

इसके दो भेद हैं—परसंग्रह और अपरसंग्रह । सत्ता या सत्त्व की अपेक्षा से संसार के समस्त पदार्थों को सत् रूप में ग्रहण करना परसंग्रह है । 'सर्वं सत्' ऐसा कहने से समस्त पदार्थों का संग्रह हो जाता है । इसी प्रकार द्रव्यरूप से समस्त द्रव्यों का, गुण रूप से समस्त गुणों का और पर्याय रूप से समस्त पर्यायों का ग्रहण करना अपरसंग्रह है । केवल ब्रह्मरूप ही तत्त्व है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । इस प्रकार सम्पूर्ण विशेषों का निराकरण करके केवल सत्तासामान्य को ही तत्त्व मानना संग्रहाभास है । नैगमनय विधि और निषेध दोनों को विषय करता है, किन्तु संग्रह नय केवल विधि को ही विषय करता है ।

व्यवहारनय—संग्रह नय से गृहीत पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं । जैसे जो सत् है वह द्रव्य और पर्याय रूप है । जो द्रव्य है वह चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार का है । इस प्रकार जहाँ तक भेद संभव है वहाँ तक यह नय भेद करता जाता है । यही व्यवहार नय है । द्रव्य-पर्याय आदि के भेदव्यवहार को काल्पनिक मानना व्यवहारनयाभास है ।

ऋजुसूत्रनय—ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । ऋजु-सूत्रनय केवल वर्तमानक्षणवर्ती एक पर्याय को ग्रहण करता है । अतीत और अनागत कालवर्ती पर्यायों को वह विषय नहीं करता है । इस नय की यही विशेषता है । बौद्धों के द्वारा माना गया सर्वथा क्षणभंगवाद ऋजुसूत्र-नयाभास है ।

शब्दनय—काल, कारक, लिंग आदि के भेद से अर्थभेद का कथन करना शब्द नय है । यह नय एक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों का लिंगादि के भेद से भिन्न भिन्न अर्थ स्वीकार करता है । जैसे पुष्य, नक्षत्र और तारा ये तीनों शब्द नक्षत्र के पर्यायवाची होते हुए भी लिंग के भेद से भिन्न भिन्न अर्थ के वाचक होते हैं । इसी प्रकार कारक और काल के भेद से भी यह नय भिन्न भिन्न अर्थ को विषय करता है । लिंगादि का भेद होने पर भी उन शब्दों में अर्थभेद नहीं मानना शब्दनयाभास है ।

समभिरूढनय—पर्याय के भेद से एक ही पदार्थ में जो नानात्व को बतलाता है वह समभिरूढ नय है । यह नय एक कालवाचक, एक संख्यावाले और

एकलिंगवाले अनेक पर्यायवाची शब्दों में भी पर्याय के भेद से अर्थभेद मानता है । जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीनों शब्द पुल्लिंग हैं । परन्तु इस नय की दृष्टि से इन तीनों शब्दों का अर्थ भिन्न भिन्न है । देवों का राजा शासन करने से शक्र, इन्दन (ऐश्वर्यभोग) करने से इन्द्र और पुरों का दारण (विनाश) करने से पुरन्दर कहलाता है । शब्दों में पर्याय भेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना समभिरूढनयाभास है । जैसे शक्र, इन्द्र और पुरन्दर इन तीनों शब्दों का वाच्य एक ही अर्थ मानना ।

एवंभूतनय—जो नय क्रिया के आश्रय से अर्थ में भेद का निरूपण करता है वह एवंभूतनय है । समभिरूढ नय की दृष्टि से देवों के राजा के लिए एक ही समय में इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन तीनों शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है । किन्तु एवंभूत नय कहता है कि जिस समय अर्थ में जो क्रिया हो रही है उसी के आधार से उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् देवराज जिस समय शासन कर रहा है उसी समय उसे शक्र कहेंगे, दूसरे समय नहीं । इसी प्रकार जब गौ चल रही हो तभी उसे गौ कहेंगे, बैठे या सोते समय नहीं । 'गच्छतीति गौः' गौ शब्द की ऐसी व्युत्पत्ति होती है और इस व्युत्पत्ति के अनुसार एवंभूतनय गमनरूप क्रिया के करते समय ही गौ को गौ कहता है । किसी क्रिया के काल में उस शब्द का प्रयोग न करना अथवा अन्य क्रिया के काल में उस शब्द का प्रयोग करना एवंभूतनयाभास है । जैसे किसी व्यक्ति को देवपूजन करते समय अध्यापक कहना अथवा अध्यापन करते समय उसे पुजारी कहना एवंभूतनयाभास है ।

ये सातों नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्प विषय वाले हैं । नैगमनय से व्यवहारनय सूक्ष्म है तथा उसका विषय भी अल्प है । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए । ये ही नय अन्त से पूर्व पूर्व में स्थूल और महाविषय वाले हैं । अर्थात् एवंभूतनय सब से सूक्ष्म है और उसका विषय भी अल्पतम है । एवंभूतनय की अपेक्षा से समभिरूढनय स्थूल और महाविषयवाला है । इसी प्रकार पूर्व पूर्व नयों में स्थूलता और महाविषयता जान लेना चाहिए । इन सात नयों में से प्रथम चार नय अर्थप्रधान होने से अर्थनय और शेष तीन नय शब्दप्रधान होने से शब्दनय कहलाते हैं । नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्य को विषय करने के कारण द्रव्यार्थिक नय और शेष चार नय पर्याय को विषय करने के कारण पर्यायार्थिक नय कहलाते हैं ।

अब नय के विषय में एक विशेष प्रश्न होता है कि नय प्रमाण है या अप्रमाण ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण, किन्तु वह प्रमाण का एक देश है । जैसे घट में भरे हुए समुद्र के जल को न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र, किन्तु वह समुद्र का एक देश है । उसी प्रकार नय भी प्रमाण का एक देश है । यहाँ नय और और दुर्नय में भेद समझ लेना भी आवश्यक है । प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है । नय उन अनन्त धर्मों में से किसी विवक्षित एक धर्म का ग्रहण करके अन्य धर्मों का निराकरण नहीं करता है । इसके विपरीत दुर्नय वह है जो वस्तु के अन्य धर्मों का निरकरण करके केवल एक ही धर्म का अस्तित्व स्वीकार करता है । दुर्नय को नयाभास भी कहते हैं । प्रमाण, नय और दुर्नय के भेद को बतलाने वाला निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य है—

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥

अर्थात् अनेक धर्मात्मक अर्थ का ज्ञान प्रमाण है । अन्य धर्मों की अपेक्षापूर्वक वस्तु के एक धर्म का ज्ञान नय है । और अन्य समस्त धर्मों का निराकरण करके केवल एक धर्म को ग्रहण करना दुर्नय है ।

सप्तभंगी विचार :

सप्तभंगी का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्त्वन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी ।

अर्थात् प्रश्न के वश से एक वस्तु में अविरोधपूर्वक विधि और प्रतिषेध की कल्पना करने को सप्तभंगी कहते हैं । वस्तु के अनन्त धर्मों में से प्रत्येक धर्म का प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा पूर्वक सात प्रकार से किया जाता है और इस सात प्रकार से प्रतिपादन करने की शैली का नाम सप्तभंगी है । वस्तु के अनन्त धर्मों में अस्तित्व एक धर्म है और नास्तित्व उसका प्रतिपक्षी धर्म है । अपने प्रतिपक्षी नास्तित्व धर्म सापेक्ष अस्तित्व धर्म की अपेक्षा से सप्तभंगी इस प्रकार बनती है—(१) स्यादस्ति घटः, (२) स्यान्नास्ति घटः, (३) स्यादस्तिनास्ति घटः, (४) स्यादवक्तव्यः घटः, (५) स्यादस्ति अवक्तव्यश्च घटः, (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्यश्च घटः और (७) स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्यश्च घटः ।

अर्थात् स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से घट है तथा परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से घट नहीं है । जब कोई वक्ता घट के अस्तित्व और नास्तित्व धर्मों को एक साथ कहना चाहे तो वह वैसा कहने में असमर्थ रहता है । इसीलिए घट को स्यात् अवक्तव्य कहा गया है । स्यात् का अर्थ होता है—कथंचित् । अत: घट कथंचित् है, कथंचित् नहीं है और कथंचित् अवक्तव्य है । इसी प्रकार शेष चार भंगों में भी यही प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए । उक्त सात भंगों में पहला, दूसरा और चौथा ये तीन मूल अंग हैं तथा शेष चार संयोगज भंग हैं । क्योंकि ये मूल भंगों के संयोग से बनते हैं । इस प्रकार सात भंगों के समाहार (समुदाय) को सप्तभंगी कहते हैं । कहा भी है—

सप्तानां भंगानां समाहार: सप्तभङ्गी ।

सप्तभंगी के प्रकरण में एक प्रश्न विचारणीय है । वह प्रश्न यह है कि भंग सात ही क्यों होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तत्त्व जिज्ञासु वस्तुतत्त्व के विषय में सात प्रकार के प्रश्न करता है । सात प्रकार के प्रश्न करने का कारण उसकी सात प्रकार की जिज्ञासायें हैं । सात प्रकार की जिज्ञासाओं का कारण उसके सात प्रकार के संशय हैं । और सात प्रकार के संशयों का कारण उनके विषयभूत वस्तुनिष्ठ सात प्रकार के धर्म हैं । इस प्रकार निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वस्तुनिष्ठ अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य आदि सात प्रकार के धर्मों के कारण ही भंग सात ही होते हैं । तथा सातों भंगों को मिलाकर सप्तभंगी बनती है । यहाँ एक प्रश्न और विचारणीय है कि सप्तभंगी कितनी होती हैं ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक वस्तु में अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व की तरह विरोधी प्रतीत होने वाले अनन्त धर्मयुगल रहते हैं । अत: जिस प्रकार अस्तित्व और नास्तित्व धर्मयुगल की अपेक्षा से एक सप्तभंगी बनती है उसी प्रकार नित्यत्व-अनित्यत्व आदि अनन्त धर्मयुगलों की अपेक्षा से वस्तु में अनन्त सप्तभंगियाँ भी बनती हैं या बन सकती हैं ।

प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी :

सप्तभंगी दो प्रकार की होती है—प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी ।

सप्तभंगी के सात भंगों का प्रयोग सकलादेश और विकलादेश इन दो दृष्टियों से होता है । सकलादेश को प्रमाण और विकलादेश को नय कहते हैं । कहा भी है—

सकलादेश: प्रमाणाधीन: विकलादेश: नयाधीन: ।

सकलादेश एक धर्म के द्वारा समस्त वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करता है और विकलादेश एक धर्म को प्रधान तथा शेष धर्मों को गौण करके वस्तु का ग्रहण करता है । 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीव का अखण्डरूप से बोध कराता है । अत: यह सकलादेशात्मक प्रमाण वाक्य है । 'स्यादस्त्येव जीव:' इस वाक्य में जीव के अस्तित्व धर्म का मुख्य रूप से कथन होता है । अत: यह विकलादेशात्मक नय वाक्य है । सकलादेश में धर्मिवाचक जीव शब्द के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग होता है और विकलादेश में धर्मवाचक 'अस्ति' शब्द के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग होता है । उक्त सातों ही भंग जब सकलादेशी होते हैं तब प्रमाण और जब विकलादेशी होते हैं तब नय कहे जाते हैं । इस प्रकार सप्तभंगी प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी के रूप में दो प्रकार की होती है ।

पत्रविचार :

अब यहाँ नय आदि की तरह पत्र भी एक विचारणीय विषय है । पत्र का लक्षण 'पत्र परीक्षा' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार बतलाया गया है—

प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टार्थस्य प्रसाधकम् ।
साधुगूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम् ॥

पत्र ऐसे वाक्य को कहते हैं जिसमें अनुमान के प्रसिद्ध पाँचों अवयव पाये जावें, जो अपने अभीष्ट अर्थ का साधक हो, जो निर्दोष गूढ रहस्यों से प्राय: भरा हुआ हो और जो अनाकुल (अबाधित) हो ।

यहाँ पत्र के लक्षण को बतलाने का प्रयोजन यह है कि प्राचीन काल में शास्त्रार्थ मौखिक रूप में तथा कभी कभी लिखित रूप में भी हुआ करते थे । मौखिक रूप में जो शास्त्रार्थ होता है उसे वाद कहते हैं और लिखित रूप में जो शास्त्रार्थ होता है उसे पत्र कहते हैं । जब शास्त्रार्थ लिखित रूप में होता है तब वादी और प्रतिवादी अपने मन्तव्यों को पत्र में लिखकर परस्पर में उन पत्रों का आदान-प्रदान करते हैं । लिखित शास्त्रार्थ में प्रयोग

किये जाने वाले पत्रों का स्वरूप कैसा होना चाहिए इस बात को ऊपर के श्लोक में बतलाया गया है । वाद के चार अंग माने गये हैं—वादी, प्रतिवादी, सभासद या प्राश्निक तथा सभापति । इसी प्रकार पत्र के भी वही चार अंग होते हैं जो वाद के हैं । लिखित शास्त्रार्थ किसी विशेषज्ञ सभापति तथा सभासदों की उपस्थिति में वादी और प्रतिवादी के बीच होता है । अन्त में सभापति उस शास्त्रार्थ का निर्णय घोषित करते हैं । पत्र के विषय में विशेष जानकारी के लिए आचार्य विद्यानन्द द्वारा लिखित '**पत्र-परीक्षा**' नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य है ।

परीक्षामुख का अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद् व्यधाम् ॥

अल्पज्ञ पुरुषों को हेय और उपादेय तत्त्वों का ज्ञान कराने के लिए यह परीक्षामुख नामक ग्रन्थ आदर्श (दर्पण) है । तथा मेरे जैसे बालक ने परीक्षा में दक्ष पुरुष के समान इस ग्रन्थ की रचना की है । जो अल्पज्ञ पुरुष हेय और उपादेय तत्त्व की परीक्षा करना चाहते हैं उसमें उनके प्रवेश के लिए यह ग्रन्थ मुख (प्रवेशद्वार) है । परीक्षामुख में आदर्श (दर्पण) का धर्म पाया जाता है । जिस प्रकार दर्पण शरीर का अलंकार करने वाले पुरुषों को मुख का अलंकार यदि असुन्दर है तो उसे हेयरूप से और मुख का अलंकार यदि सुन्दर हुआ है तो उसे उपादेयरूप से बतला देता है, उसी प्रकार परीक्षामुख नामक यह ग्रन्थ भी हेय और उपादेय तत्त्वों को स्पष्टरूप से बतला देता है । इसीलिए इसको आदर्श कहा गया है । इस कथन का सारांश यह है कि परीक्षामुख के अध्ययन से हेय और उपादेय तत्त्वों का बोध सरलता से हो जाता है ।

इस श्लोक में परीक्षामुख के लेखक ने अपने लिए बाल शब्द का प्रयोग करके अपनी निरभिमानता तथा लघुता प्रकट की है । यद्यपि आचार्य माणिक्यनन्दि समस्त भारतीय दर्शनों के उच्चकोटि के विद्वान् थे तथापि उन्होंने अपने को बाल कहा है, यह महान् आश्चर्य की बात है । इससे यह भी ज्ञात होता है कि आचार्य मणिक्यनन्दि कितने विनम्र तथा सरलस्वभावी थे ।

• षष्ठ परिच्छेद समाप्त •

परिशिष्ट-१ : कुछ विचारणीय बिन्दु

१. केशोण्डुकज्ञान—

प्रमेयकमलमार्तण्ड के द्वितीय परिच्छेद के सूत्र संख्या ७ में केशोण्डुकज्ञान शब्द आया है, जिसका अर्थ कुछ विद्वानों ने केशों में उण्डुक (मच्छर) का ज्ञान किया है । इनमें स्व० पं० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है । उन्होंने प्रमेयरत्नमाला की हिन्दी टीका (पृष्ठ ७६) में लिखा है—

"किसी व्यक्ति के मस्तक पर मच्छरों का समूह उड़ रहा था । उसे देखकर किसी को भ्रम हो गया कि केशों का गुच्छा उड़ रहा है । अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि किसी के सिर के केश उड़ रहे थे, उन्हें देखकर किसी को मच्छरों के झुण्ड उड़ने का ज्ञान हो गया । इस प्रकार के ज्ञान में केशों के होते हुए केशों का ज्ञान तो नहीं हुआ, उल्टा मच्छरों का ज्ञान हुआ । अथवा मच्छरों के रहते हुए मच्छरों का ज्ञान तो नहीं हुआ, प्रत्युत केशों का ज्ञान हो गया ।"

स्व० पूज्या आर्यिका जिनमती माताजी ने प्रमेयकमलमार्तण्ड के भाषानुवादमें केशोण्डुक शब्द का अर्थ उड़ने वाला मच्छर विशेष किया है । उनका कथन इस प्रकार है—

"मोतियाबिन्द आदि नेत्र के रोगी को नेत्र के सामने कुछ मच्छर जैसा उड़ रहा है, ऐसा बार-बार भाव होता है, वह मच्छर भौंरा जैसा, झिंगुर जैसा, जिसपर कुछ रोम खड़े हों जैसा दिखाई देने लगता है । वास्तव में वह दिखना निराधार-बिना पदार्थ के ही होता है ।"

—प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग पृष्ठ ७

आदरणीय डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया ने मेरे पत्र के उत्तर में केशोण्डुकज्ञान का परम्परागत अर्थ इस प्रकार लिखा है—

केशोण्डुकज्ञान का परम्परा से यही अर्थ माना जाता है कि केशों में उण्डुक का ज्ञान होना केशोण्डुकज्ञान है । नाली में बहते हुए केशों को केश माना गया है और उनमें चमकीले कीड़ों का बोध होना केशोण्डुक-

ज्ञान है । यह तो परम्परागत अर्थ हुआ । किन्तु केशोण्डुक एक चीज होना चाहिए, दो नहीं । यह अन्वेषणीय है । मैं स्वयं इसके बारे में संदिग्ध रहा और हूँ । आपका प्रश्न उठाना ठीक है ।''

श्रीमान् कोठियाजी ने न्यायदीपिका की प्रस्तावना (पृष्ठ ३०) में भी इस विषय में एक विशेष बात लिखी है, जो इस प्रकार है—

''अर्थ के रहने पर भी विपरीत ज्ञान देखा जाता है और अर्थाभाव में भी केशोण्डकादिज्ञान हो जाता है ।''

अब यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिन विद्वानों ने 'केशोण्डुक' या 'उण्डुक' का अर्थ मच्छर किया है वह उन्होंने अपने मन से ही किया है, ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि इसका उन्होंने कोई आधार (सन्दर्भ) नहीं दिया है । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत के शब्दकोशों में 'केशोण्डुक' अथवा 'उण्डुक' शब्द नहीं मिलता है । इस बात की पुष्टि प्रमेयकमलमार्तण्ड के विद्वान् टिप्पणकार के टिप्पण से भी होती है । उन्होंने केशोण्डुक शब्द के नीचे टिप्पण में लिखा है—

'कोषेषूडकशब्द एव श्रूयते' ।

अर्थात् कोष ग्रन्थों में उडुक शब्द ही सुना जाता है । उनका तात्पर्य यह है कि उन्हें कोष ग्रन्थों में उण्डुक शब्द नहीं मिला । वर्तमान में भी कोष ग्रन्थों में न तो उण्डुक शब्द मिलता है और न उडुक शब्द । अतः यह कहना कठिन है कि उण्डुक शब्द का निश्चित अर्थ क्या है ? केवल इतना कहा जा सकता है कि उण्डुक कोई वस्तु या जन्तु है, जैसे कि केश एक वस्तु है । ऐसी स्थिति में यह प्रश्न बना ही रहता है कि उण्डुक शब्द का अर्थ मच्छर करने का आधार क्या है ?

संभवतः सूत्रकार आचार्य माणिक्यनन्दि को भी उण्डुक शब्द का अर्थ मच्छर अभीष्ट नहीं है । यदि उन्हें मच्छर शब्द अभीष्ट होता तो वे केशोण्डुक के स्थान में केशमशक लिख देते । क्योंकि संस्कृत में मच्छर के लिए मशक शब्द पाया जाता है । यहाँ यह भी स्मरणीय है कि आचार्य अकलंकदेव ने आत्ममीमांसा की कारिका ८३ की अष्टशती में 'केशमशकादिज्ञानवत्' शब्द का प्रयोग किया है । इसी प्रकार धर्मभूषणयति ने भी न्यायदीपिका में 'केशमशकादिज्ञानवत्' लिखा है ।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि केशोण्डुक एक पद है या केश और उण्डुक ये दो पृथक्-पृथक् पद हैं। आर्यिका जिनमती माताजी ने केशोण्डुक को एक ही पद माना है। प्रमेयकमलमार्तण्ड के देखने से भी यही प्रतीत होता है कि केशोण्डुक एक पद है। आचार्य प्रभाचन्द ने प्रमेयकमलमार्तण्ड के सूत्र (२/७) की व्याख्या में लिखा है—

कामलाद्युपहतचक्षुषो हि न केशोण्डुकज्ञानेऽर्थः कारणत्वेन व्याप्रियते। तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारः, नयनपक्ष्मादेर्वा, तत्केशानां वा, कामलादेर्वा गत्यन्तराभावात् ? न तावदाद्यविकल्पः, न खलु तज्ज्ञानं केशोण्डुकलक्षणेऽर्थे सत्येव भवति भ्रमाभावप्रसङ्गात्। नयन-पक्ष्मादेस्तत्कारणत्वे तस्यैव प्रतिभासप्रसङ्गात्, गगनतलावलम्बितया पुरःस्थतया केशोण्डुकाकारतया च प्रतिभासो न स्यात्।

अर्थात् कामला (पीलिया) आदि रोगों से दूषितचक्षु वाले पुरुष को होने वाले केशोण्डुकज्ञान में अर्थ कारणरूप से व्यापार नहीं करता है। क्योंकि उसमें केशोण्डुक का व्यापार होता है, अथवा नेत्र की पलकों का, अथवा उसके केशोंका, अथवा कामलादिक का ? इनके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। इनमें प्रथम विकल्प तो बनता नहीं है, क्योंकि निश्चय से केशोण्डुकज्ञान केशोण्डुकरूप अर्थ के होने पर नहीं होता है। यदि केशोण्डुकज्ञान केशोण्डुकरूप अर्थ के होने पर होता तो वह भ्रमज्ञान न होकर सत्यज्ञान हो जाता।

केशोण्डुक ज्ञान का आधार क्या है तथा उसका आकार क्या है ? इस विषय में प्रमेयकमलमार्तण्ड में दो शब्द मिलते हैं—

गगनतलावलम्बितया केशोण्डुकाकारतया च।

अर्थात् केशोण्डुकज्ञान का आधार है गगनतल और आकार है केशोण्डुकाकार। इसका मतलब यही है कि केशोण्डुक एक पद है और उसका वाच्य अर्थ कोई एक चीज है। केशोण्डुकज्ञान का आधार गगनतल होने से यह भी ज्ञात होता है कि इसका आधार न तो सिर है और न नाली है।

अब यहाँ इस बात पर विचार करना है कि केशोण्डुकज्ञान अर्थ के अभाव में होता है या नहीं। आचार्य प्रभाचन्द्र ने तो स्पष्ट लिखा है कि केशोण्डुकज्ञान अर्थ के अभाव में होता है। और आर्यिका जिनमती

माताजी ने भी इसी मत का समर्थन किया है । अब जो विद्वान् केशों में उण्डुक के ज्ञान को केशोण्डुकज्ञान मानते हैं उनके मत से तो केशरूप अर्थ के होने पर ही उण्डुक ज्ञान हुआ । तब यह कैसे कहा जा सकता है कि केशोण्डुकज्ञान अर्थ के अभाव में होता है । सूत्रकार को तो यही सिद्ध करना है कि अर्थ के अभाव में ज्ञान होता है, जैसे कि आलोक के अभावमें ज्ञान होता है । ऐसा बतला करके ही ज्ञान का अर्थ और आलोक के साथ व्यतिरेक का अभाव सिद्ध किया जा सकता है ।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि केशोण्डुक शब्द का प्रामाणिक अर्थ क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है । यहाँ एक संभावना यह भी है कि केश और उण्डुक दोनों शब्द पृथक्-पृथक् हैं और एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है । इसका मतलब यह है कि केश के अभाव में केश का ज्ञान हो जाता है और उण्डुक के अभाव में उण्डुक का ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार अन्य चीजों के विषय में भी कहा जा सकता है ।

अष्टशती तथा न्यायदीपिका में 'केशमशकादिज्ञानं' लिखा भी है । अर्थात् केश, मशक आदि के अतिरिक्त अन्य चीजों का ज्ञान भी अर्थ के अभाव में हो जाता है । इसकी पुष्टि भी प्रमेयकमलमार्तण्ड के निम्नलिखित वाक्य से होती है—

अथ कामलादय एव तज्ज्ञानस्य हेतवः । तेभ्यश्चोत्पन्नं तदसदेव केशादिकं प्रतिपद्यते ।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड, सूत्र २/७ की व्याख्या ।

यदि ऐसा माना जाय कि कामलादि रोग ही केशोण्डुकज्ञान के हेतु हैं और उनसे उत्पन्न ज्ञान असत् केश आदि को जानता है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि केशोण्डुकज्ञान असत् केश को, असत् उण्डुक को तथा आदि शब्द से अन्य असत् चीजों को जानता है । केश के साथ आदि शब्दके प्रयोगसे उण्डुक आदि अन्य अनेक असत् चीजों के ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं है । यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त संस्कृत वाक्य में असत् केशोण्डुक न लिखकर असत् केशादिकं लिखा है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि केश और उण्डुक अलग अलग हैं और इनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है ।

इतना विचार करने के बाद भी यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि

केशोण्डुक एक चीज है अथवा केश और उण्डुक दो चीजें हैं । यदि दो चीजें हैं तो इनका आपस में कोई सम्बन्ध है या दोनों पृथक्-पृथक् हैं । किन्तु इस जिज्ञासा का कोई युक्तिसंगत समाधान दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है । क्योंकि किसी भी संस्कृत टीकाकार ने केशोण्डुक शब्द का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं लिखा है । 'केशेषु उण्डुकज्ञानं केशोण्डुकज्ञानम्' ऐसा भी किसी ने नहीं लिखा है । यदि ऐसा लिख देते तो केश और उण्डुक का आपस में सम्बन्ध सिद्ध हो जाता । फिर भी उपरिलिखित विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि केशोण्डुकज्ञान केशोण्डुकरूप अर्थ के अभाव में ही होता है ।

न्यायदीपिका में भी यही लिखा है—

''अर्थोऽपि न ज्ञानकारणं तदभावेऽपि केशमशकादिज्ञानोत्पत्तेः ।''

अर्थात् अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि अर्थ के अभाव में भी केश, मशक आदि का ज्ञान हो जाता है ।

केशोण्डुकज्ञानविषयक प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखा है—

तत्कथमर्थकार्यता ज्ञानस्य अनेन व्यभिचारात् संशयज्ञानेन च ?

इसलिए ज्ञान में अर्थकार्यता कैसे हो सकती है ? अर्थात् ज्ञान अर्थ का कार्य नहीं हैं । क्योंकि इसमें केशोण्डुकज्ञान के द्वारा व्यभिचार आता है । केशोण्डुकज्ञान अर्थ के अभाव में भी उत्पन्न हो जाता है । यहाँ संशयज्ञान के द्वारा भी व्यभिचार आता है ।

२. संशयज्ञान—

आचार्य प्रभाचन्द्र ने संशयज्ञान के द्वारा ज्ञान में अर्थकार्यता का व्यभिचार इस प्रकार बतलाया है—

न हि तदर्थे सत्येव भवति, अभ्रान्तत्वानुषङ्गात्, तद्विषयभूतस्य स्थाणुपुरुषलक्षणार्थद्वयस्यैकत्र सद्भावासंभवाच्च । सद्भावे वारेका न स्यात् । ....ततः संशयादिज्ञानस्यार्थाभावेप्युपलंभात् कथं तदभावे ज्ञानाभावसिद्धिर्यतोऽर्थकार्यतास्य स्यात् ।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड सूत्र २/७ की व्याख्या पृ० २३४ ।

अर्थात् संशयज्ञान अर्थ के होने पर नहीं होता है । यदि ऐसा होता तो

वह अभ्रान्त हो जाता । संशयज्ञान के विषयभूत स्थाणु और पुरुषरूप दो अर्थों का एक स्थान में सद्भाव भी असंभव है । यदि दो अर्थों का एक स्थान में सद्भाव संभव होता तो फिर वहाँ संशय नहीं होता । यतः संशयादि ज्ञान अर्थ के अभाव में भी पाया जाता है अतः अर्थ के अभाव में ज्ञान के अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है, जिससे ज्ञान अर्थ का कार्य सिद्ध हो सके । इस प्रकार आचार्य प्रभाचन्द्र के अनुसार संशयज्ञान अर्थ के अभाव में भी उत्पन्न हो जाता है ।

किन्तु इस विषय में मेरा मत यह है कि संशयज्ञान अर्थ के अभाव में उत्पन्न नहीं होता है, अपितु अर्थ के होने पर ही उत्पन्न होता है । सामने दृश्यमान वस्तु स्थाणु है अथवा पुरुष है ? इस प्रकार का ज्ञान संशयज्ञान कहलाता है । संशयज्ञान के उत्पन्न होने के समय यद्यपि स्थाणुरूप या पुरुषरूप अर्थ का प्रतिभास नहीं होता है, तथापि वहाँ सामान्यरूप अर्थ अवश्य रहता है । किन्तु प्रकाश की मन्दता, अल्पदृष्टि, दूरी आदि कुछ विशेष कारणों से यह निश्चय नहीं हो पाता है कि वह स्थाणु है या पुरुष । यथार्थ में दूरी ही विशेषरूप से संशयज्ञान का कारण है । पास में जाने पर तो यह निश्चय हो ही जाता है कि यह स्थाणु है, पुरुष नहीं, अथवा यह पुरुष है, स्थाणु नहीं ।

अतः ऊर्ध्वतासामान्यरूप अर्थ के होने पर ही स्थाणु और पुरुष विषयक संशयज्ञान होता है । इससे यही सिद्ध होता है कि संशयज्ञान अर्थ के होने पर ही होता है, अर्थ के अभाव में नहीं । इसलिए संशयज्ञान के द्वारा अर्थकार्यता में व्यभिचार बतलाना ठीक नहीं मालूम पड़ता है । सूत्रकार ने भी केशोण्डुकज्ञान के द्वारा ही अर्थकार्यता में व्यभिचार बतलाया है, संशयज्ञान के द्वारा नहीं ।

३. भोग्य सामग्री की उत्पत्ति में अदृष्ट कारण नहीं

परिच्छेद ४ के सूत्र संख्या १० में आत्मद्रव्यवाद के प्रकरण में नैयायिक-वैशेषिक ने आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के लिए एक तर्क उपस्थित किया है । वह तर्क इस प्रकार है—प्रत्येक व्यक्ति को जो भोग्य सामग्री प्राप्त होती है उसकी उत्पत्ति में उस व्यक्ति का अदृष्ट (कर्म) कारण होता है । इसी बात को उदाहरण देकर इस प्रकार समझाया गया है

कि देवदत्त की अगना (स्त्री) के शरीर आदि कार्य की उत्पत्ति में देवदत्त का अदृष्ट निमित्त कारण होता है । देवदत्त का अदृष्ट भोग्य सामग्री की उत्पत्ति के स्थान में रहकर ही उसकी उत्पत्ति में कारण होता है और ऐसा तभी संभव है जब देवदत्त की आत्मा व्यापक हो । मान लीजिए देवदत्त वाराणसी में रहता है और उसकी अंगना की उत्पत्ति अमेरिका में होती है तो देवदत्त के अदृष्ट का अस्तित्व अमेरिका में भी है । नैयायिक-वैशेषिक अदृष्ट को आत्मा का गुण मानते हैं और जहाँ आत्मा के गुण हैं वहाँ आत्मा की सत्ता भी सिद्ध होती है । अदृष्ट को धर्माधर्म भी कहते हैं । इस प्रकार वैशेषिकों ने अदृष्ट को भोग्य सामग्री की उत्पत्ति में कारण मानकर आत्मा को व्यापक सिद्ध किया है ।

आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के सम्बन्ध में प्रदत्त उपरिलिखित तर्क के खण्डन में प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृष्ठ ५७२) में एक पंक्ति इस प्रकार है—

अथ धर्माधर्मौ, तदङ्गनादिकार्यं तन्निमित्तमस्माभिरपीष्यते एव । तदात्मगुणत्वं तु तयोरसिद्धम् ।

यदि आपके अनुसार देवदत्त की अंगना के शरीर आदि कार्य की उत्पत्ति में देवदत्त का धर्माधर्मरूप अदृष्ट निमित्त कारण होता है तो ऐसा हम (जैन) भी मानते ही हैं । किन्तु इससे धर्म और अधर्म (पुण्य और पाप) आत्मा के गुण हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता है । उक्त वाक्य में अपि और एव शब्द ध्यान देने योग्य हैं ।

यहाँ आचार्य प्रभाचन्द्र ने ऐसा मान लिया है कि प्रत्येक व्यक्ति का अदृष्ट उसको प्राप्त होने वाली भोग्य सामग्री की उत्पत्ति में कारण होता है । इस विषय में विचारणीय बात यह है कि क्या जैनदर्शन की ऐसी मान्यता है ? जहाँ तक मुझे ज्ञात है जैनदर्शन की ऐसी मान्यता नहीं है । देवदत्त को जो भी भोग्य सामग्री प्राप्त होती है क्या उसकी उत्पत्ति में देवदत्त का कर्म कारण होता है ? मेरी समझ से ऐसा नहीं होता है । इसीलिए आचार्य प्रभाचन्द्र का उक्त अभिमत मुझे विचित्र लग रहा है । इस पर कर्मशास्त्र के विद्वानों को प्रकाश डालना चाहिए । जैनदर्शन की ऐसी मान्यता अवश्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अनुकूल या प्रतिकूल जो भोग्य सामग्री प्राप्त होती है वह उसके कर्म के कारण प्राप्त होती है ।

४. क्या धारावाहिक ज्ञान अप्रमाण है ?

यहाँ यह विचारणीय है कि धारावाहिक ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण? किसी एक वस्तु के विषय में लगातार अनेक बार होने वाले ज्ञान को धारावाहिक ज्ञान कहते हैं । जैसे यह घट है, यह घट है, इत्यादि प्रकार से लगातार सैकड़ों बार होने वाला घटज्ञान धारावाहिक ज्ञान कहलाता है । नैयायिक-वैशेषिक धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं । श्वेताम्बर दार्शनिकों ने भी धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना है । किन्तु दिगम्बर आचार्यों ने धारावाहिक ज्ञान को प्राय: अप्रमाण बतलाया है । इसीलिए प्रमाण के लक्षण में अनधिगत अथवा अपूर्वार्थ विशेषण दिया गया है । प्रमाण का काम यह है कि वह पूर्वार्थ (पूर्व में जाने हुए अर्थ) को न जानकर अपूर्व (नूतन) अर्थ को जाने । पूर्वार्थग्राही ज्ञान को अप्रमाण मानने में तर्क यह दिया जाता है कि प्रथम ज्ञान के बाद होने वाले द्वितीय आदि ज्ञानों से कोई परिच्छित्तिविशेष नहीं होती है ।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि यदि कोई ज्ञान पूर्वार्थ को जानता है तो क्या इतने मात्र से वह अप्रमाण हो जायेगा । पूर्वार्थ को जानने से क्या ज्ञान में कोई दोष उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण उसे अप्रमाण मानना पड़े । क्या पूर्वार्थ को जानना अपराध है ? नहीं ऐसा नहीं है । इसीलिए आचार्य विद्यानन्द का अभिप्राय धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानने का है । उन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में लिखा है—

गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति ।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥

अर्थात् यदि ज्ञान गृहीत (पूर्वार्थ) अथवा अगृहीत (अपूर्वार्थ) अपने अर्थ का व्यवसाय (निश्चय) करता है तो वह न तो लोकव्यवहार में और न शास्त्रोंके परिप्रेक्ष्य में प्रमाणता का परित्याग कर देता है । तात्पर्य यह है कि पूर्वार्थ को जानने पर भी वह प्रमाण ही कहलाता है, अप्रमाण नहीं ।

इसी प्रकार अकलंकदेव ने अष्टशती में प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही मानकर भी तत्त्वार्थवार्तिक में गृहीतग्राही ज्ञान में भी प्रामाण्य का समर्थन किया है । उन्होंने अष्टशती में लिखा है—

प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।

अर्थात् अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, क्योंकि वह अनधिगत अर्थ को जानता है ।

इसके विपरीत अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या १२ की व्याख्या में लिखा है—

अपूर्वाधिगमलक्षणानुपपत्तिश्च सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः । प्रदीपवत् ज्ञानमपि उत्पत्यनन्तरं घटादीनामवभासकं भूत्वा प्रमाणत्वमनुभूय न तं व्यपदेशं त्यजति तदर्थत्वात् ।

अर्थात् प्रमाण में अपूर्व अर्थ को जाननेरूप लक्षण नहीं बन सकता है । क्योंकि सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं । जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति के बाद घटादि पदार्थों का अवभासक होकर अपने में प्रमाणत्व का अनुभव करता है, वही ज्ञान उत्तरकाल में भी प्रमाण ही रहता है, प्रमाण के व्यपदेश (नाम) को छोड़ नहीं देता है । जिस प्रकार दीपक प्रथम क्षण में घटादि पदार्थों का प्रकाशक होता है तो आगे द्वितीय आदि क्षणों में भी उनका प्रकाशक बना रहता है, उसी प्रकार ज्ञान के विषय में भी समझना चाहिए । जब ज्ञान प्रथम क्षण में प्रमाण होता है तो वह द्वितीय आदि क्षणों में भी प्रमाण ही रहेगा ।

इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि धारावाहिक ज्ञान प्रमाण है , अप्रमाण नहीं ।

५. क्या अदृष्ट ज्ञान का कारण है ?

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥ १० ॥

द्वितीय परिच्छेद के इस सूत्र में बतलाया गया है कि जो ज्ञान का कारण है उसे ज्ञान का विषय मानने में करण (इन्द्रिय) आदि के द्वारा व्यभिचार आता है । व्यभिचार यह है कि इन्द्रिय ज्ञान का कारण तो है, किन्तु वह ज्ञान का विषय नहीं होता है ।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि उक्त सूत्र में प्रयुक्त आदि शब्द से किसका ग्रहण किया गया है । प्रमेयकमलमार्तण्ड में उक्त सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

न हीन्द्रियमदृष्टादिकं वा विज्ञानकारणमप्यनेन परिच्छेद्यते ।

अर्थात् इन्द्रिय और अदृष्ट आदि विज्ञान के कारण तो हैं, किन्तु वे

ज्ञान के विषय नहीं होते हैं । इससे ज्ञात होता है कि उक्त सूत्र में आदि शब्द से अदृष्ट का ग्रहण किया गया है । यहाँ यह बतलाया गया है कि इन्द्रिय की तरह अदृष्ट भी ज्ञान का कारण होता है । किन्तु यह समझ में नहीं आ रहा है कि अदृष्ट ज्ञान का कारण कैसे होता है ? अदृष्ट का अर्थ तो कर्म है और कर्म ज्ञान का कारण कैसे हो सकता है ? कर्म तो ज्ञानादि गुणों का प्रतिबन्धक होता है ।

६. तर्क और ऊह—

तृतीय परिच्छेद के सूत्र संख्या २ में परोक्ष प्रमाण के ५ भेद बतलाये गये हैं । इनमें एक तर्क प्रमाण का नाम है, किन्तु स्मृति और प्रत्यभिज्ञान के बाद तर्क का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है ।

उपलंभानुलंभनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥ ११ ॥

इस सूत्र में तर्क का एक अप्रसिद्ध नाम ऊह लिख दिया । यहाँ विचारणीय यह है कि जब परोक्ष प्रमाण के भेदों में तर्क का नाम दिया है तब तर्क के स्वरूप को बतलाते समय भी तर्क का नाम ही देना चाहिए था । तर्क शब्द प्रसिद्ध है और ऊह शब्द अप्रसिद्ध है । कोई अल्पज्ञ व्यक्ति सोच सकता है कि परोक्ष के भेदों में परिगणित तर्क गायब क्यों हो गया और अप्रसिद्ध ऊह कहाँ से आ गया ? अतः तर्क के लक्षण में तर्क शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए था । इसी प्रकरण में न्यायदीपिका में कितना अच्छा लिखा है—

व्याप्तिज्ञानं तर्कः । ऊह इति तर्कस्यैव नामान्तरम् ।

अर्थात् व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं । ऊह तर्क का ही दूसरा नाम है ।

७. अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत—

तृतीय परिच्छेद के सूत्र संख्या ९९ में आगम-प्रमाण का लक्षण बतलाया गया है । इस सूत्र की व्याख्या में अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत—ये दो शब्द आये हैं और इनका अन्तर्भाव आगम-प्रमाण में किया गया है । प्रमेयकमलमार्तण्ड में केवल इतना ही लिखा है—

अनेनाक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतं च सङ्गृहीतं भवति ।

अक्षरश्रुत क्या है और अनक्षरश्रुत क्या है, इस विषय में

प्रमेयकमलमार्तण्ड में कुछ नहीं लिखा गया है । अतः अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत के विषय में यहाँ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत हो रहा है ।

श्रुत शब्द के दो अर्थ होते हैं—(१) श्रुतज्ञान और (२) शास्त्र या आगम । अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत श्रुतज्ञान रूप नहीं है किन्तु आगमरूप या शब्दरूप हैं । अक्षररूपमें लिखित अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के रूप में जितना भी आगम साहित्य उपलब्ध है वह सब अक्षरश्रुत के अन्तर्गत आता है । वर्तमान में षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, समयसार, गोम्मटसार आदि जो भी आगम ग्रन्थ हैं वे सब अक्षरश्रुत हैं ।

इस प्रकरण में यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि क्या गौतम गणधर ने आचारांग आदि द्वादशांगरूप अंगप्रविष्ट श्रुत की तथा सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि अंगबाह्य श्रुत की लिखितरूप में रचना की थी ? परन्तु ऐसा नहीं है । इस विषय में सिद्धान्ताचार्य श्री पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने 'अंगश्रुत के परिप्रेक्ष्य में पूर्वगत श्रुत' शीर्षक लेख में लिखा है—

''तीर्थंकर महावीर की धर्मदेशना का आप्यायन कर इन्द्रभूमि गौतम गणधर ने जिस अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत को निबद्ध किया वह सदा ही गुरुपरम्परा से वाचना द्वारा प्राप्त होकर ज्ञानगम्य ही रहा है, पुस्तकारूढ कभी नहीं हो सका ।''

पं० जी का यह लेख पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है । पं० जी के उक्त कथन से यही प्रतीत होता है कि अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य श्रुत लिखितरूप में कभी नहीं रहा । यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि तब 'गणधर गूँथे बारह सु अंग' इस कथन का मतलब क्या है ? इसका मतलब यही है कि गौतम गणधर ने जिस श्रुत को गूंथा उसे अपने ज्ञान में ही वैसा किया, अक्षरश्रुत के रूप में नहीं । इसका तात्पर्य यही है कि आचारांग आदि द्वादशांग रूप आगम लिखितरूप में कभी रहा ही नहीं है । यहाँ इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि भगवान् महावीर के बाद इस काल में सर्वप्रथम लिखित आगम षट्खण्डागम ही है जो दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का एक अंशमात्र है ।

ऊपर अक्षरश्रुत के विषय में संक्षिप्त विवेचन किया गया है । अक्षरश्रुत को समझना सरल है । किन्तु अनक्षरश्रुत क्या है यह स्पष्ट नहीं हो रहा है ।

मेरे पत्र के उत्तर में श्रीमान् पं० जवाहरलाल जी सिद्धान्तशास्त्री (भीण्डर) ने अनक्षरश्रुत के विषय में जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—

"दिगम्बर आगम में दो प्रकार से अनक्षरश्रुत का लक्षण बतलाया है । प्रथम लक्षण में पर्याय और पर्याय समास—इन दोनों को अनक्षरश्रुत कहा है । यह अनक्षरश्रुत परिणामात्मक तथा क्षयोपशम की अपेक्षा है ।"

"दूसरा अनक्षरश्रुत अशब्दलिंगज श्रुत ज्ञान को कहा है । यह अनक्षरश्रुत का अशब्दलिंगज (अर्थलिंगज) नाम हेतु की अपेक्षा से है । स्मरणीय है कि पर्याय एवं पर्याय समास नामक अनक्षरश्रुत तो अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण ही होता है तथा लब्ध्यपर्याप्तक निगोदों में पाया जाता है । शेष किन-किन जीवों में होता है यह आगमानुसार जानना चाहिए । अशब्दलिंगज अनक्षरश्रुत एकेन्द्रियों से पंचेन्द्रियों तक सब में पाया जाता है तथा पर्याय एवं पर्याय समास नामक अनक्षरश्रुत से विशिष्ट होता है । क्योंकि यह अनुमानज्ञानस्वरूप है । इसी के निम्न विशिष्ट उदाहरण हैं"—

"जेम्सवाट ने डेगची पर उबलते हुए पानी एवं हिलते हुए ढक्कन से अनुमान ज्ञान द्वारा भाप के इंजन का आविष्कार किया । प्रतिमा, ऋद्धिधारी मुनि आदि के दर्शन से निधत्तनिकाचित कर्म का क्षय होना, विभिन्न पदार्थों आदि के दर्शन से जाति स्मरण होना तथा विशिष्ट महापुरुषों के बिना बोले, मात्र दर्शन से विशिष्ट बोध (ज्ञान) की प्राप्ति हो जाना तथा प्रभामण्डल के दर्शन से संख्यात भवों का ज्ञान होना । ये सब अनक्षरश्रुत के उदाहरण हैं ।"

मुझे यहाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अनक्षरश्रुत के विषय में पं० जी ने ऊपर जो कुछ लिखा है वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के विषय में है । क्योंकि श्रुत की तरह श्रुतज्ञान भी दो प्रकार का होता है—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक । तब यह प्रश्न बना ही रहता है कि अनक्षरश्रुत क्या है । संभवत: दिव्यध्वनि को अनक्षरश्रुत कहा जा सकता है । यह तो स्पष्ट ही है कि श्रुतज्ञान और श्रुत (आगम) में अन्तर है । श्रुतज्ञान चेतन आत्मा का धर्म या गुण है और शब्दरूप या आगमरूप श्रुत अचेतन है ।

८. आगम का उदाहरण—

यथा मेर्वादय: सन्ति ॥ ३/१०१ ॥

जैसे मेरु आदि हैं । आप्तवचन के द्वारा मेरु आदि पदार्थों का ज्ञान होता है । अत: यह आगम प्रमाण का उदाहरण है । यहाँ आदि शब्द से जम्बूद्वीप, लवण समुद्र आदि का ग्रहण करना चाहिए ।

आगम में बताया गया है कि जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है । यह केवल जैनागम की ही बात नहीं है, बौद्ध आदि अन्य दर्शनों के शास्त्रों में भी मेरु पर्वत की ऐसी ही कल्पना की गई है । अब यहाँ विचारणीय बात यह है कि जैनागम में जैसा मेरु पर्वत बतलाया गया है वैसा मेरु पर्वत वर्तमान विश्व में कहीं भी उपलब्ध नहीं है । आज विश्व में सबसे ऊँचा पर्वत माउन्ट एवरेस्ट (हिमालय की एक चोटी) ही है । यह संभव है कि एक लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत विश्व के किसी कोने में छिपा हो । यह भी संभव है कि किसी अन्य पर्वत विशेष के लिए मेरु शब्द का प्रयोग किया गया हो । इस विषय में डॉ० गोकुलप्रसाद जी जैन दिल्ली ने 'श्रमण संस्कृति का विश्वव्यापी प्रसार' शीर्षक लेख में लिखा है—

"प्राचीन भूगोल और प्राच्यविद्याशास्त्रियों ने सुमेरु या मेरु पर्वत का विस्तार से वर्णन किया है । यह मेरु पर्वत ही आज का 'पामीर' पर्वत है । चीनी भाषा में 'पा' का अर्थ होता है पर्वत तथा मेरु से 'मीर' बन गया । इस प्रकार यह 'पामीर' शब्द बना । इससे पूर्व में तत्कालीन विदेह अर्थात् चीन है ।"

डॉ० गोकुलप्रसाद जी के अनुसार अनुसार 'अष्टापद' पर्वत के आठ पर्वतों में से पामीर (मेरु) प्रमुख पर्वत है । उनका यह लेख Ahimsa Voice के जनवरी-मार्च 1992 के अंक में प्रकाशित है ।

इस विषय में डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य का मन्तव्य भी उल्लेखनीय है । उन्होंने तत्त्वार्थवृत्ति की प्रस्तावना में लिखा है—

"जैन शास्त्रों में भूगोल और खगोल का जो वर्णन मिलता है उसकी परम्परा करीब तीन हजार वर्ष पुरानी है । आज से ढाई तीन हजार वर्ष पहिले सभी सम्प्रदायों में भूगोल और खगोल के विषय में यही परम्परा प्रचलित थी जो जैन परम्परा में निबद्ध है । बौद्ध, वैदिक और जैन—इन तीनों परम्परा के भूगोल और खगोल सम्बन्धी वर्णन करीब-करीब एक जैसे हैं । वही जम्बूद्वीप, विदेह, सुमेरु, देवकुरु, उत्तरकुरु, हिमवान् आदि

नाम और वैसी ही लाखों योजन की गिनती । इनका तुलनात्मक अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि उस समय भूगोल और खगोल की जो परम्परा श्रुतानुश्रुत परिपाटी से जैनाचार्यों को मिली उसे उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया ।''

इतना जान लेने के बाद यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि जैनशास्त्रों में वर्णित मेरु पर्वत कौन है और कहाँ है ?

९. आगमाभास का उदाहरण—

षष्ठ परिच्छेद के सूत्र संख्या ५२ में आगमाभास का लौकिक उदाहरण देने के बाद सूत्र संख्या ५३ में आगमाभास का शास्त्रीय उदाहरण दिया गया है । वह सूत्र इस प्रकार है—

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति च ॥ ६/५३ ॥

इसका अर्थ यह है कि यदि कोई कहता है कि अंगुली के अग्रभाग पर सैकड़ों हाथियों का समूह पाया जाता है तो यह शास्त्रीय आगमाभास का उदाहरण है । यहाँ विचारणीय बात यह है कि उक्त प्रकार की बात कौन कहता है । प्रमेयकमलमार्तण्ड में केवल इतना लिखा है—

'मोहाक्रान्तस्तु सांख्यादिः ।' अर्थात् उक्त कथन मोहग्रस्त सांख्य आदि का है । किन्तु प्रमेयरत्नमाला में इससे कुछ अधिक लिखा है जो इस प्रकार है—

अत्रापि सांख्यः स्वदुरागमजनितवासनाहितचेता दृष्टेष्टविरुद्धं सर्वं सर्वत्र विद्यते इति मन्यमानस्तथोपदिशति ।

अर्थात् सांख्य अपने मिथ्या आगम जनित वासना से आक्रान्त होकर प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध कथन करता है कि सभी वस्तुएँ सर्वत्र विद्यमान रहती हैं ।

यहाँ द्रष्टव्य यह है कि क्या सांख्य ऐसा मानता है ? मेरी जानकारी के अनुसार सांख्यदर्शन ने तथा अन्य किसी भी दर्शन ने ऐसा नहीं माना है कि 'सर्वं सर्वत्र विद्यते' । अतः उक्त सूत्र का अर्थ सामान्यरूप से ऐसा करना चाहिए कि यदि कोई ऐसा कहता है कि अङ्गुली के अग्रभाग पर सैकड़ों हाथियों का समूह पाया जाता है तो उसका उक्त कथन आगमाभास है । यहाँ सांख्य का नाम जोड़ना संगत नहीं लगता है । क्योंकि सांख्य की ऐसी मान्यता मुझे अभी तक उनके किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिली है ।

१०. सूत्र संख्या में उलटफेर—

वर्तमान में परीक्षामुख के सूत्रों का जो पाठ प्रचलित है उसमें सूत्रों की कुल संख्या २१२ है । प्रथम परिच्छेद में १३, द्वितीय में १२, तृतीय में १०, चतुर्थ में ९, पंचम में ३ और षष्ठ परिच्छेद में ७४ सूत्र हैं । किन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड में सूत्र संख्या २१३ है । परीक्षामुख में दूसरे परिच्छेद में जो १२ सूत्र हैं उनमें बारहवाँ सूत्र इस प्रकार है—

सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड में यह सूत्र गायब है, फिर भी सूत्रों की संख्या १२ ही बनी रही । इसका कारण यह है कि—

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥ ८ ॥

इस आठवें सूत्र को तोड़कर इसके दो सूत्र बना दिये हैं । 'अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकम्' यह आठवां सूत्र है और 'प्रदीपवत्' यह नौवां सूत्र है । परीक्षामुख में चतुर्थ परिच्छेद में कुल ९ सूत्र हैं । किन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड में इनकी संख्या १० बना दी गई है । यहाँ भी—

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ३ ॥

इस तीसरे सूत्र को तोड़कर इसके स्थान में दो सूत्र बना दिये गये हैं । 'सामान्यं द्वेधा' यह तीसरा सूत्र है और 'तिर्यगूर्ध्वताभेदात्' यह चौथा सूत्र है । परीक्षामुख में पंचम परिच्छेद में ३ सूत्र हैं । प्रमेयकमलमार्तण्ड में इनको चतुर्थ परिच्छेद में मिला दिया है । इस प्रकार चतुर्थ परिच्छेद के सूत्रों की संख्या ९ के स्थान में १३ हो गई है । परीक्षामुख में छठवें परिच्छेद में ७४ सूत्र हैं । इनमें से प्रमेयकमलमार्तण्ड में ७३ सूत्रों का पंचम परिच्छेद बनाया गया है और केवल १ सूत्र का छठवां परिच्छेद बनाया गया है । इस परिवर्तन का कारण समझ में नहीं आया । यदि परीक्षामुख के अनुसार ही प्रमेयकमलमार्तण्ड में परिच्छेदों की सूत्र संख्या रहती तो क्या हानि होती ?

यहाँ एक बात और विचारणीय है । तृतीय परिच्छेद में सूत्रों की संख्या १०१ है । यहाँ सूत्रकार ने प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप और उसके भेद एक ही सूत्र संख्या ५ में बतलाये हैं । किन्तु परीक्षामुख के प्रचलित पाठ में प्रत्यभिज्ञान के ५ भेदों के ५ उदाहरण ५ सूत्रों में मिलते हैं । मेरे विचार से प्रत्यभिज्ञान के ५ भेदों के ५ उदाहरण भी एक ही सूत्र संख्या ६ में होना

चाहिए थे । इस प्रकार ४ सूत्रों की संख्या कम होकर तृतीय परिच्छेद की सूत्र संख्या ९७ रह जाती है । इस बात की पुष्टि आज से २०० वर्ष पूर्व श्री पं० जयचन्द जी छावड़ा द्वारा लिखित प्रमेयरत्नमाला की हिन्दी भाषा वाचनिका से भी होती है । हिन्दी वचनिका में प्रत्यभिज्ञान के सब उदारहण एक ही सूत्र संख्या ६ में दिये गये हैं । इस प्रकार तृतीय परिच्छेद के १०१ सूत्रों की संख्या ९७ होने में कोई आपत्तिजनक बात नहीं है । संभवत पहले ऐसा ही रहा है ।

११. परिच्छेदों में उलटफेर—

परीक्षामुख तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड में परिच्छेदों की संख्या ६ है । फिर भी प्रमेयकमलमार्तण्ड में परिच्छेदों के विषय विभाजन में उलटफेर किया गया है । परीक्षामुख में प्रथम परिच्छेद प्रमाण परिच्छेद है, द्वितीय परिच्छेद प्रत्यक्ष परिच्छेद है, तृतीय परिच्छेद परोक्ष परिच्छेद है, चतुर्थ परिच्छेद विषय परिच्छेद है, पंचम परिच्छेद फल परिच्छेद है और षष्ठ परिच्छेद तदाभास (प्रमाणाभास आदि) परिच्छेद है । प्रमेयकमलमार्तण्ड में तृतीय परिच्छेद तक तो परीक्षामुख के समान ही परिच्छेदों का विषय विभाजन है । किन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड में चतुर्थ और पंचम परिच्छेदों को एक में मिलाकर चतुर्थ परिच्छेद बनाया गया है । तथा परीक्षामुख के छठवें परिच्छेद को तोड़कर पंचम और षष्ठ ये दो परिच्छेद बनाये गये हैं । पाँचवें परिच्छेद में परीक्षामुख के षष्ठ परिच्छेद के ७३ सूत्रों को सम्मिलित कर तदाभास परिच्छेद नामक पंचम परिच्छेद बनाया है । और परीक्षामुख के षष्ठ परिच्छेद के केवल अन्तिम सूत्र—

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ।

का एक छठवाँ परिच्छेद बनाया है तथा इस परिच्छेद का कोई नाम भी नहीं दिया है । यहाँ यह समझ में नहीं आ रहा है कि केवल एक सूत्र का एक परिच्छेद क्यों बनाया गया है । यदि प्रमेयकमलमार्तण्ड में परीक्षामुख के समान ही परिच्छेदों के विषय का विभाजन रहता तो क्या हानि होती ? यह परिवर्तन किसने किया और क्यों किया यह सब विचारणीय है । प्रमेयरत्नमाला में भी परीक्षामुख के समान ही परिच्छेदों के विषयों का विभाजन है । और मैंने भी यहाँ वैसा ही विषय विभाजन किया है ।

●

परिशिष्ट-२ : ग्रन्थगत पारिभाषिक शब्द

(क) परीक्षामुखसूत्रगत विशिष्ट शब्दों की परिभाषा

१. **प्रमाण**—अपने और अपूर्व अर्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं ।

२. **प्रमाणाभास**—जो ज्ञान प्रमाण के लक्षण से रहित है वह प्रमाणाभास कहलाता है । जैसे अस्वसंवेदी, गृहीतग्राही, अनिश्चयात्मक, संशय, विपर्यय और अनध्वसाय ये सब ज्ञान प्रमाणाभास हैं ।

३. **प्रमाणसंख्या**—प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण की संख्या दो है ।

४. **संख्याभास**—प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है । अथवा प्रत्यक्ष और अनुमान—ये दो प्रमाण हैं, इत्यादि प्रकार से कथन करना संख्याभास है ।

५. **प्रमाणविषय**—सामान्यविशेषात्मक अर्थ प्रमाण का विषय होता है ।

६. **विषयाभास**—केवल सामान्य को या केवल विशेष को अथवा स्वतन्त्र रूप से दोनों को प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है ।

७. **प्रमाणफल**—अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा—ये प्रमाण के फल हैं ।

८. **फलाभास**—प्रमाण के फलको प्रमाण से सर्वथा अभिन्न मानना अथवा सर्वथा भिन्न मानना फलाभास है । क्योंकि प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न होता है ।

९. **समारोप**—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को समारोप कहते हैं ।

१०. **अपूर्वार्थ**—जिस पदार्थ का पहले किसी ज्ञान से निश्चय नहीं हुआ है उसे अपूर्वार्थ कहते हैं । किसी ज्ञान से ज्ञात पदार्थ भी उसमें समारोप हो जाने के कारण अपूर्वार्थ हो जाता है ।

११. **प्रत्यक्ष**—विशद अर्थात् निर्मल और स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं ।

१२. **सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष**—इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले एकदेश विशद ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं ।

१३. **मुख्य प्रत्यक्ष**—सम्यग्दर्शनादि अन्तरंग और देशकालादि बहिरंग

सामग्री की विशेषता (समग्रता) से दूर हो गये हैं समस्त आवरण जिसके ऐसे अतीन्द्रिय और पूर्णरूप से विशद ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं ।

१४. **प्रत्यक्षाभास**—अविशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है । जैसे बौद्धाभिमत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास है ।

१५. **वैशद्य**—अन्य ज्ञान के व्यवधान से रहित प्रतिभास को अथवा वर्ण, संस्थान (आकार) आदि की विशेषता को लिए हुए प्रतिभास को वैशद्य कहते हैं ।

१६. **योग्यता**—अपने आवरण (ज्ञानावरण) के क्षयोपशम को योग्यता कहते हैं । इसी योग्यता के द्वारा ज्ञान प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था करता है । अर्थात् घटादि पदार्थों को जानता है ।

१७. **केशोण्डुक**—केशोण्डुकरूप अर्थ के अभाव में होने वाले केशोण्डुकरूप अर्थ के ज्ञान को केशोण्डुकज्ञान कहते हैं ।

१८. **परोक्ष**—अविशद ज्ञान को परोक्ष कहते हैं । यह ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न अर्थात् अविशद होता है ।

१९. **परोक्षाभास**—विशद ज्ञान को परोक्ष मानना परोक्षाभास है । मीमांसक करणज्ञान (प्रमिति का साधकतम ज्ञान) को परोक्ष मानते हैं । उनका वैसा मानना परोक्षाभास है । क्योंकि करणज्ञान विशद होता है ।

२०. **स्मृति**—धारणारूप संस्कार के उद्बोध (प्रकट होना) से होने वाले तथा तत् (वह) इस प्रकार के आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं । जैसे वह देवदत्त ।

२१. **स्मरणाभास**—जिसका कभी अनुभव (प्रत्यक्ष) नहीं हुआ है उसमें 'वह' इस प्रकार के ज्ञान के होने को स्मरणाभास कहते हैं । जैसे जिनदत्त में वह देवदत्त ऐसा स्मरण करना स्मरणाभास है ।

२२. **प्रत्यभिज्ञान**—वर्तमान पर्याय का प्रत्यक्ष और पूर्व पर्याय का स्मरण होने से दोनों पर्यायों (अवस्थाओं) का संकलन रूप (एकत्व, सादृश्य आदि के ग्रहणरूप) जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । जैसे यह वही देवदत्त है जिसे एक वर्ष पहले देखा था ।

२३. **प्रत्यभिज्ञानाभास**—सदृश पदार्थ में 'यह वही है' ऐसा कहना तथा उसी पदार्थ में 'यह उसके सदृश है' ऐसा कहना प्रत्यभिज्ञानाभास है ।

२४. ऊह—उपलम्भ (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) के निमित्त से जो व्याप्ति का ज्ञान होता है उसे ऊह (तर्क) कहते हैं । जैसे अग्नि के होने पर धूम होता है और अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है, इस प्रकार के ज्ञान का नाम ऊह है ।

२५. तर्क—ऊपर नं० २४ में ऊह की जो परिभाषा बतलायी गई है वही तर्क की परिभाषा है । तर्क और ऊह दोनों पर्यायवाची शब्द हैं । धूम और अग्नि में अविनाभाव सम्बन्ध है और तर्क के द्वारा इसी अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान किया जाता है ।

२६. तर्काभास—अविनाभाव सम्बन्ध से रहित पदार्थों में अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान करना तर्काभास है ।

२७. अनुमान—साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं । जैसे धूम से जो अग्नि का ज्ञान होता है वह अनुमान कहलाता है ।

२८. स्वार्थानुमान—दूसरे के उपदेश के बिना स्वत: ही साधन से साध्य का जो ज्ञान होता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं । स्वार्थानुमान अपने लिए होता है ।

२९. परार्थानुमान—स्वार्थानुमान के विषयभूत अर्थ का परामर्श करने वाले वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं । परार्थानुमान पर के लिए होता है ।

३०. अनुमानाभास—व्याप्ति के ग्रहण, स्मरण आदि के बिना अकस्मात् धूम के दर्शन से होनेवाला अग्नि का ज्ञान अनुमानाभास है ।

३१. आगम—आप्त के वचनों से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं ।

३२. आगमाभास—राग, द्वेष और मोह से आक्रान्त (परिव्याप्त) पुरुषों के वचनों से होने वाले अर्थज्ञान को आगमाभास कहते हैं ।

३३. हेतु—साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित होता है उसे हेतु कहते हैं ।

३४. हेत्वाभास—जो हेतु के लक्षण से रहित है किन्तु हेतु जैसा मालूम पड़ता है उसे हेत्वाभास कहते हैं ।

३५. असिद्ध हेत्वाभास—जिस हेतु की सत्ता न हो अथवा जिसका निश्चय न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं ।

३६. विरुद्ध हेत्वाभास—जिस हेतु का साध्य के विरुद्ध के साथ अविनाभाव निश्चित होता है उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं । जैसे यह कहना कि शब्द नित्य है, कृतक होने से । यहाँ कृतकत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है ।

३७. अनैकान्तिक हेत्वाभास—जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष—इन तीनों में रहता है उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं । जैसे यह कहना कि शब्द अनित्य है, प्रमेय होने से । यहाँ प्रमेयत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

३८. अकिञ्चित्कर हेत्वाभास—साध्य के सिद्ध होने पर और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर भी उस साध्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हेतु अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है ।

३९. प्रतिज्ञा—किसी वस्तु का अनुमान करते समय पहले प्रतिज्ञा की जाती है । जैसे यह पर्वत अग्निमान् है, ऐसा कहना प्रतिज्ञा है ।

४०. धर्मी—जो किसी प्रमाण से प्रसिद्ध होता है उसे धर्मी कहते हैं । धर्मी का दूसरा नाम पक्ष भी है । पर्वत में अग्नि को सिद्ध करते समय पर्वत धर्मी होता है । वह साध्यधर्मविशिष्ट होने के कारण धर्मी कहलाता है ।

४१. पक्ष—जहाँ साध्य की सिद्धि की जाती है उसे पक्ष कहते हैं । पर्वत में अग्नि को सिद्ध करते समय पर्वत पक्ष होता है । दूसरे शब्दों में धर्म और धर्मी के समुदाय का नाम पक्ष है ।

४२. सपक्ष—जो पक्ष के समान होता है अर्थात् जहाँ साध्य (अग्नि) और साधन (धूम) दोनों पाये जाते हैं उसे सपक्ष कहते हैं । जैसे महानस सपक्ष है ।

४३. विपक्ष—जहाँ साध्य और साधन दोनों का अभाव पाया जाता है उसे विपक्ष कहते हैं । जैसे नदी विपक्ष है ।

४४. पक्षाभास—अनिष्ट, प्रत्यक्षादिप्रमाणों से बाधित और सिद्ध को पक्ष अर्थात् साध्य बतलाना पक्षाभास कहलाता है ।

४५. उदाहरण—जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है । जैसे महानस । इस प्रकार के कथन को उदाहरण कहते हैं । यहाँ महानस दृष्टान्त है और उसका वचन उदाहरण कहलाता है ।

४६. उपनय—पक्ष में हेतु के उपसंहार करने को उपनय कहते हैं । जैसे यह पर्वत धूमवान् है, ऐसा कहना उपनय कहलाता है ।

४७. निगमन—प्रतिज्ञा के उपसंहार को निगमन कहते हैं । जैसे धूमवान् होने से पर्वत अग्निमान् है ऐसा कहना निगमन कहलाता है ।

४८. अन्वय दृष्टान्त—जहाँ साध्य के साथ साधन की व्याप्ति बतलायी जाती है उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं । जैसे अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति बतलाने में महानस अन्वयदृष्टान्त कहलाता है ।

४९. अन्वयदृष्टान्ताभास—अन्वयदृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं—असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन और असिद्धोभय । इनको साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल भी कहते हैं । शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त है । जैसे इन्द्रियसुख, परमाणु और घट । ये तीनों दृष्टान्त क्रमशः साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल अन्वयदृष्टान्ताभास हैं ।

५०. व्यतिरेक दृष्टान्त—जहाँ साध्य के अभाव में साधन का अभाव बतलाया जाता है उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं । जैसे जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ धूम भी नहीं होता है । जैसे—जलाशय । यहाँ जलाशय व्यतिरेक दृष्टान्त है ।

५१. व्यतिरकेदृष्टान्ताभास—व्यतिरेकदृष्टान्ताभास के भी तीन भेद हैं—असिद्धसाध्यव्यतिरेक, असिद्धसाधनव्यतिरेक और असिद्धोभयव्यतिरेक । शब्द अपौरुषेय है, अमूर्त होने से । जैसे—परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश । ये तीनों दृष्टान्त क्रमशः असिद्धसाध्यव्यतिरेक, असिद्ध-साधनव्यतिरेक और असिद्धोभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास हैं ।

५२. साध्य—इष्ट, अबाधित और असिद्ध पदार्थ को साध्य कहते हैं ।

५३. अविनाभाव—सहभावनियम और क्रमभावनियम को अविनाभाव कहते हैं । अविनाभाव का ही दूसरा नाम व्याप्ति है ।

५४. सहभावनियम—सहचारी और व्याप्य-व्यापक पदार्थों में सहभावनियम होता है । जैसे रूप और रस में तथा शिंशपा और वृक्ष में सहभावनियम पाया जाता है ।

५५. क्रमभावनियम—पूर्वचर और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में क्रमभावनियम होता है । जैसे कृत्तिकोदय और शकटोदय में तथा धूम और अग्नि में क्रमभावनियम है ।

५६. तिर्यक्सामान्य—सदृश (सामान्य) परिणाम को तिर्यक्सामान्य कहते हैं । जैसे खण्डी, मुण्डी आदि गायों में रहने वाला गोत्व तिर्यक् सामान्य है ।

५७. ऊर्ध्वतासामान्य—पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे स्थास, कोश, कुशूल आदि घट की पर्यायों में रहनेवाली मिट्टी ऊर्ध्वतासामान्य कहलाता है ।

५८. पर्यायविशेष—एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्यायविशेष कहते हैं । जैसे आत्मा में क्रम से होने वाले हर्ष, विषाद आदि परिणाम पर्यायविशेष कहलाते हैं ।

५९. व्यतिरेकविशेष—एक पदार्थ से विजातीय अन्य पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेकविशेष कहते हैं । जैसे गाय से भैंस में व्यतिरेकविशेष पाया जाता है ।

६०. बालप्रयोगाभास—अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—इन पाँच अवयवों का प्रयोग न करके कुछ कम अवयवों का प्रयोग करना बालप्रयोगाभास है । क्योंकि बालकों को समझाने के लिए पाँचों अवयवों का प्रयोग आवश्यक है ।

६१. करणज्ञान—प्रमिति की उत्पत्ति में जो साधकतम (विशिष्ट) कारण होता है उसे करण कहते हैं । घटादि की प्रमिति ज्ञान के द्वारा होती है । अतः ज्ञान करण कहलाता है । यह करणज्ञान विशद (प्रत्यक्ष) होता है । किन्तु मीमांसक इसे अविशद मानते हैं ।

६२. उपलब्धिलक्षणप्राप्त—जिस वस्तु में चक्षु इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध होने की योग्यता होती है उसे उपलब्धिलक्षणप्राप्त (दृश्य) कहते हैं । जैसे घट उपलब्धिलक्षणप्राप्त है और पिशाच अनुपलब्धिलक्षणप्राप्त है ।

६३. लौकायतिक—चार्वाक का दूसरा नाम लौकायतिक है । जो चारु (सुन्दर) वचन बोलते हैं अथवा आत्मा, परलोक आदि का चर्वण (भक्षण) करते हैं उन्हें चार्वाक कहते हैं । ये साधारण लोगों की तरह आचरण करते हैं । इसलिए इनको लौकायतिक भी कहते हैं । इनके जीवन का लक्ष्य है—खाओ, पिओ और मस्त रहो । वर्तमान में भौतिकवादियों को चार्वाक कहा जा सकता है ।

६४. **जैमिनीय**—महर्षि जैमिनी मीमांसादर्शन के सूत्रकार तथा प्रवर्तक हैं । इसलिए जैमिनी के अनुयायियों को जैमिनीय (मीमांसक) कहते हैं ।

६५. **यौग**—नैयायिक और वैशेषिकों का सम्मिलित नाम यौग है । अनेक बातों में न्याय और वैशेषिक दर्शनों में समानता पाई जाती है । इसलिए इन दोनों के योग (जोड़ी) को यौग नाम दे दिया गया है ।

६६. **सौगात**—महात्मा बुद्ध का एक नाम सुगत भी है। अत: सुगत के अनुयायियों को सौगत कहते हैं। बौद्ध और सौगत दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

(ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलनगत विशिष्ट शब्दों की परिभाषा

१. **कारकसाकल्य**—आत्मा, मन, अर्थ, आलोक, इन्द्रिय आदि जिन-जिन कारणों से अर्थ की उपलब्धि होती है उनकी समग्रता का नाम कारकसाकल्य है । प्राचीन नैयायिक कारकसाकल्य को प्रमाण मानते हैं ।

२. **सन्निकर्ष**—चक्षु आदि इन्द्रियों का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे सन्निकर्ष कहते हैं । चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होने से घट का ज्ञान होता है । नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं ।

३. **इन्द्रियवृत्ति**—इन्द्रियवृत्ति का अर्थ है इन्द्रियों का व्यापार । चक्षु आदि इन्द्रियाँ जब घटादि अर्थ के प्रति व्यापार करती हैं तभी घटादि अर्थों का ज्ञान होता है । सांख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानते हैं ।

४. **ज्ञातृव्यापार**—पदार्थ को जानने के लिए ज्ञाता का जो व्यापार होता है उसका नाम ज्ञातृव्यापार है । प्रभाकर तथा उसके अनुयायी प्राभाकर ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानते हैं ।

५. **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष**—बौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक अर्थात् कल्पना रहित मानते हैं । कल्पना का अर्थ है प्रत्यक्ष का शब्द के साथ संसर्ग । उनके अनुसार प्रत्यक्ष शब्दसंसर्गरहित अर्थात् निर्विकल्पक होता है ।

६. **अख्यातिवाद**—चार्वाक विपर्ययज्ञान को निरालम्बन मानते हैं । अर्थात् मरीचिका में जो जल ज्ञान होता है उसका विषय न तो जल है और न मरीचिका । यही अख्यातिवाद है ।

७. **असत्ख्यातिवाद**—सौत्रान्तिक विपर्ययज्ञान को असत्ख्यातिरूप मानते हैं । शुक्तिका में जो रजत का प्रतिभास होता है वह असत् पदार्थ का प्रतिभास है । इसी का नाम असत्ख्यातिवाद है ।

८. प्रसिद्धार्थख्यातिवाद—सांख्य का मत है कि विपर्ययज्ञान प्रसिद्ध अर्थ की ख्यातिरूप होता है । अर्थात् मरीचिका में प्रतिभासित जलरूप अर्थ घट की तरह सत्यभूत है । यही प्रसिद्धार्थख्यातिवाद है ।

९. आत्मख्यातिवाद—विज्ञानाद्वैतवादी का मत है कि विपर्ययज्ञान आत्मख्यातिरूप होता है । अर्थात् विपर्ययज्ञान में जिस अर्थका प्रतिभास होता है वह ज्ञान का ही आकार है, बाह्यार्थ का तो कोई अस्तित्व ही नहीं है । यही आत्मख्यातिवाद है ।

१०. अनिर्वचनीयार्थख्यातिवाद—ब्रह्माद्वैतवादी विपर्ययज्ञानको अनिर्वचनीय अर्थ की ख्यातिरूप मानते हैं । उनके अनुसार विपर्ययज्ञान में प्रतिभासित अर्थ न सत्रूप है और न असत्रूप है, किन्तु वह अनिर्वचनीय है । यही अनिर्वचनीयार्थख्यातिवाद है ।

११. स्मृतिप्रमोषवाद—मीमांसक मतानुयायी प्राभाकरों का मत है कि विपर्ययज्ञान स्मृतिप्रमोषरूप होता है । अर्थात् शुक्तिकामें जो रजत का ज्ञान होता है उस ज्ञान में पूर्व दृष्ट रजत की स्मृति न होकर स्मृति का प्रमोष होता है । वहाँ स्मृति चुरा ली जाती है । यही स्मृतिप्रमोषवाद है ।

१२. विपरीतार्थख्यातिवाद—नैयायिक, वैशिषिक तथा जैन मानते हैं कि विपर्ययज्ञान विपरीत अर्थ की ख्यातिरूप होता है । शुक्तिका में जो रजत का ज्ञान होता है वह विपरीत अर्थ की ख्यातिरूप है । यही विपरीतार्थख्यातिवाद है ।

१३. शब्दाद्वैतवाद—प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि आदि शब्दाद्वैतवादी मानते हैं कि इस संसार में शब्दरूप ब्रह्म की ही सत्ता है । यह सब वाच्य-वाचक तत्त्व शब्दब्रह्म का ही विवर्त (पर्याय) है । यही शब्दाद्वैतवाद है ।

१४. ब्रह्माद्वैतवाद—वेदान्तदर्शन के अनुयायी वेदान्ती मानते हैं कि इस संसार में एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है । जो कुछ प्रतिभासित होता है वह सब ब्रह्मरूप (अभेदरूप) है, किन्तु माया (अविद्या) के कारण भेद का प्रतिभास होता है । यही ब्रह्माद्वैतवाद है ।

१५. विज्ञानाद्वैतवाद—योगाचारमतानुयायी विज्ञानाद्वैतवादियों का मत है कि विज्ञानमात्र ही वास्तविक तत्त्व है । विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य अर्थ की सत्ता नहीं है । यही विज्ञानाद्वैतवाद है ।

१६. **चित्राद्वैतवाद**—विज्ञानाद्वैतवाद के अन्तर्गत एक मत चित्राद्वैतवादियों का है । ये लोग ज्ञान के नील, पीत आदि अनेक आकार मानकर भी ज्ञान को एक ही मानते हैं, अनेक नहीं । यही चित्राद्वैतवाद है ।

१७. **शून्याद्वैतवाद**—बौद्धदार्शनिकों में एक मत माध्यमिकों का है । वे मानते हैं कि इस संसार में एकमात्र शून्य ही तत्त्व है । यहाँ न तो बाह्यार्थ घटादि की सत्ता है और न अन्तरंग अर्थ ज्ञान की सत्ता है । यही शून्याद्वैतवाद है ।

१८. **अचेतनज्ञानवाद**—सांख्य ज्ञानको अचेतन मानते हैं । ज्ञान की उत्पत्ति अचेतन प्रकृति से होने के कारण ज्ञान भी अचेतन है । ज्ञान पुरुष का धर्म न होकर प्रकृति का धर्म है । यही अचेतनज्ञानवाद है ।

१९. **साकारज्ञानवाद**—बौद्ध ज्ञान को साकार मानते हैं । अर्थात् ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है वह उस अर्थ के आकार होता है । घट का ज्ञान घटाकार होता है । यही साकारज्ञानवाद है ।

२०. **भूतचैतन्यवाद**—चार्वाक मानते हैं कि शरीर से पृथक् कोई आत्मा नहीं है । पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—इन चार भूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है और चैतन्य आत्मा का धर्म न होकर शरीर का ही धर्म है । यही भूतचैतन्यवाद है ।

२१. **स्वसंवेदनज्ञानवाद**—जैनदर्शन की मान्यता है कि जिस प्रकार ज्ञान घटादि प्रमेय का संवेदन (प्रत्यक्ष) करता है उसी प्रकार वह अपना भी संवेदन करता है । यही स्वसंवेदनज्ञानवाद है ।

२२. **ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद**—नैयायिक-वैशेषिकों का मत है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष स्वतः न होकर अन्य ज्ञान से होता है । यही ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद है ।

२३. **उपमान प्रमाण**—'गोसदृशो गवयः', गवय (नीलगाय) गाय के सदृश होता है, इस वाक्य को सुनकर जंगल में गया हुआ व्यक्ति गाय के सदृश प्राणी को देखकर यह जान लेता है कि यह गवय है । इसी का नाम उपमान प्रमाण है । यौग और मीमांसक उपमान को एक पृथक् प्रमाण मानते हैं । किन्तु यथार्थ में जैनदर्शन द्वारा माने गये सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को ही इन लोगों ने उपमान प्रमाण माना है ।

२४. अर्थापत्ति प्रमाण—किसी ज्ञात अर्थ के द्वारा अज्ञात अर्थ का ज्ञान करना अर्थापत्ति है । जैसे 'पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुंक्ते', मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है, इस वाक्य को सुनने वाला व्यक्ति यह जान लेता है कि देवदत्त रात्रि में खाता है । इसी का नाम अर्थापत्ति है ।

२५. अभाव प्रमाण—किसी वस्तु की असत्ता (अभाव) का ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है । अर्थात् भूतल में घटाभाव अभाव प्रमाण से जाना जाता है । यही अभाव प्रमाण है । मीमांसक अभाव को पृथक् प्रमाण मानते हैं ।

२६. द्रव्येन्द्रिय—चक्षु आदि इन्द्रियाकार पुद्गल परमाणुओं की और आत्मप्रदेशों की जो रचना होती है वह द्रव्येन्द्रिय कहलाती है ।

२७. भावेन्द्रिय—जब चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने विषय में देखने आदि रूप प्रवृत्ति करती हैं तब उनको भावेन्द्रिय कहते हैं ।

२८. मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से घटादि पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है ।

२९. श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ में या अन्य पदार्थ में मतिज्ञान पूर्वक जो विशेष ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है ।

३०. अवधिज्ञान—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मामात्र से जो रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है ।

३१. मनःपर्ययज्ञान—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मामात्र से जो दूसरे के मन की अवस्थाओं का ज्ञान होता है वह मनःपर्ययज्ञान है ।

३२. केवलज्ञान—जो ज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को और उनकी समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है वह केवलज्ञान कहलाता है । यह ज्ञान केवलज्ञानावरण कर्म के पूर्ण क्षय हो जाने पर प्रकट होता है ।

३३. धारावाहिक ज्ञान—किसी एक ही अर्थ में लगातार अनेक बार होने वाले ज्ञान को धारावाहिक ज्ञान कहते हैं । नैयायिक, मीमांसक आदि दार्शनिक धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं ।

३४. क्षायिक ज्ञान—केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है । क्योंकि वह केवलज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर उत्पन्न होता है ।

३५. क्षायोपशमिक ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं । क्योंकि ये चारों ज्ञान क्रमशः मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मन:पर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं ।

३६. औदारिक शरीर—मनुष्यों और तिर्यञ्चों के शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं । यह शरीर अन्य सब शरीरों में स्थूल होता है ।

३७. परमौदारिक शरीर—तीर्थंकरों के तथा तद्भवमोक्षगामी पुरुषों के परमौदारिक शरीर होता है । यह शरीर अन्य सब औदारिक शरीरों में परम (उत्कृष्ट) होता है । इसलिए इसे परमौदारिक शरीर कहते हैं ।

३८. केवली—ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने पर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न परमात्मा को केवली कहते हैं । केवली को अर्हन्त तथा सर्वज्ञ भी कहते हैं ।

३९. सयोगकेवली—तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली को सयोगकेवली कहते हैं । क्योंकि इनके काय योग का सद्भाव पाया जाता है ।

४०. अयोगकेवली—चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली को अयोगकेवली कहते हैं । क्योंकि यहाँ काययोग का भी निरोध हो जाता है ।

४१. शुक्लध्यान—चार ध्यानों में शुक्लध्यान अत्यन्त निर्मल और वीतरागतापूर्ण उत्कृष्ट ध्यान है । तथा यह ध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण होता है । शुक्लध्यान चौदह पूर्वों के ज्ञाता पूर्वधरों के तथा सयोगकेवली और अयोगकेवली के होता है ।

४२. विग्रहगति—आयु की समाप्ति होने पर नवीन शरीर को धारण करने के लिए जीव की जो विग्रहवाली (मोड़ेवाली) गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । विग्रहगति को वक्रगति भी कहते हैं । यह गति अधिक से अधिक तीन समय तक होती है और चौथे समय में जीव शरीर धारण कर लेता है । इस गति में जीव एक, दो अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है ।

४३. आर्यिका—उपचार से पञ्च महाव्रतों का पालन करने वाली पञ्चम गुणस्थानवर्ती माताओं को आर्यिका कहते हैं । आर्यिकाएँ बैठकर दिन में

एक बार करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं तथा अपने हाथों से केशलुञ्चन करती हैं । वे एक बार में मात्र एक वस्त्र (साड़ी) धारण करती हैं । अत: उनका संयम सचेल संयम कहलाता है ।

४४. नोकर्माहार—औदारिक आदि तीन शरीर और आहार, इन्द्रिय आदि छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण करने का नाम नोकर्माहार है ।

४५. कर्माहार—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की पुद्गलरूप कार्मण वर्गणाओं के ग्रहण करने को कर्माहार कहते हैं ।

४६. कवलाहार—कवल ग्रास को कहते हैं । कवलाहार का अर्थ है—ग्रासरूप आहार । मूलाचारवृत्ति में बतलाया गया है कि एक हजार चावल प्रमाण एक कवल होता है । यह तो हुई कवलाहार की सामान्य परिभाषा । किन्तु खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय—ये सभी आहार कवलाहार के अन्तर्गत माने गये हैं ।

४७. लेपाहार—शरीर में तेल आदि की मालिश करना, उबटन लगाना, भभूत लगाना, दवा या मलहम लगाना, इत्यादि सब प्रकार का लेप लेपाहार है ।

४८. ओजाहार—धूप में बैठकर सूर्य की किरणों को ग्रहण करना, अग्नि के सामने बैठकर तापना, हीटर द्वारा ऊष्मा को ग्रहण करना इत्यादि ओजाहार कहलाता है । इसको ऊष्माहार भी कहते हैं । पक्षी अण्डों को सेते हैं । इससे अण्डों को ऊष्मा मिलती है । यह भी एक प्रकार का ओजाहार है ।

४९. मानसिक आहार—देवगति में उत्पन्न देवों के आहार का नाम मानसिक आहार है । देवों को आहार की इच्छा होते ही मानसिक तृप्ति हो जाती है । अत: देवों का आहार मानसिक आहार कहलाता है ।

५०. सचेल संयम—चेल वस्त्र को कहते हैं । अत: वस्त्रधारियों के जो संयम होता है वह सचेल संयम कहलाता है । केवल लगोटी धारी का संयम भी सचेल संयम ही है ।

५१. अचेल संयम—सम्पूर्ण वस्त्रादि का त्याग करने वाले दिगम्बर (नग्न) साधु का संयम अचेल संयम कहलाता है ।

५२. आप्त—जो पुरुष सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी होता है उसे आप्त कहते हैं ।

५३. अक्षरश्रुत—जो श्रुत (आगम) अक्षररूप होता है उसे अक्षरश्रुत कहते हैं । षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, समयसार आदि अक्षरश्रुत हैं ।

५४. अनक्षरश्रुत—अक्षरश्रुत से भिन्न अर्थात् अक्षररहित श्रुत को अनक्षरश्रुत कहते हैं । दिव्यध्वनि को अनक्षरश्रुत कहा जा सकता है ।

५५. प्रमत्तगुणस्थान—यह गुणस्थान छठवें गुणस्थानवर्ती साधु के होता है । इसमें प्रमाद का सद्भाव रहने के कारण इसे प्रमत्तगुणस्थान कहते हैं ।

५६. अप्रमत्त साधु—सातवें गुणस्थानवर्ती साधु को अप्रमत्त साधु कहते हैं । यहाँ प्रमाद का अभाव हो जाने के कारण सातवें गुणस्थान का नाम अप्रमत्त गुणस्थान है ।

५७. मोक्ष—संवर और निर्जरा के द्वारा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने का नाम मोक्ष है । मुक्त जीव लोक के अग्रभाग में पहुँचकर सिद्धशिला पर अवस्थित हो जाता है और फिर कभी वहाँ से लौटकर संसार में नहीं आता है ।

५८. घातिया कर्म—आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म घातिया कर्म कहलाते हैं ।

५९. अघातिया कर्म—जो कर्म आत्मा के गुणों का घात नहीं करते हैं उन्हें अघातिया कर्म कहते हैं । वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—ये चार अघातिया कर्म हैं ।

६०. समुद्घात—मूल शरीर को बिना छोड़े आत्मप्रदेशों के बाहर निकल जाने को समुद्घात कहते हैं—समुद्घात सात होते हैं । समुद्घात का यह लक्षण वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रियिक, आहारक और तैजस—इन छह समुद्घातों में पाया जाता है, केवली समुद्घात में नहीं । क्योंकि वहाँ लोकपूरण समुद्घात के समय केवली के आत्मप्रदेश मूल शरीर को छोड़कर पूरे लोकाकाश में फैल जाते हैं ।

६१. केवली समुद्घात—जब आयु कर्म की स्थिति कम हो और वेदनीय, नाम और गोत्र—इन तीन कर्मों की स्थिति आयु कर्म से अधिक हो तब इन

तीन कर्मों की स्थिति को आयु कर्म के बराबर करने के लिए केवली दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण के भेद से चार प्रकार का समुद्घात करते हैं । इसी का नाम केवली समुद्घात है ।

समुद्घात के विषय में विशेष जानकारी के लिए गोमट्टसार जीवकाण्ड का आहारमार्गणाधिकार द्रष्टव्य है ।

६२. उद्गमादि दोष—दिगम्बर साधु उद्गम, उत्पादन, एषणा और संयोजना आदि ४६ दोषों से रहित आहार को ग्रहण करते हैं । इनमें उद्गम दोष के औद्देशिक आदि १६ भेद हैं । ये दोष दानदाता के अभिप्राय आदि के कारण होते हैं । उत्पादन दोष के भी १६ भेद हैं । एषणा दोष के १० भेद हैं । इनके अतिरिक्ति संयोजना आदि ४ दोष और होते हैं । इस प्रकार आहार के कुल ४६ दोष होते हैं । उद्गम दोष का एक भेद औद्देशिक है । श्रमणों के निमित्त से बनाये गये भोजनादि को औद्देशिक कहते हैं । इन दोषों की विशेष जानकारी के लिए मूलचार देखना चाहिए ।

६३. आहारक—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक—इन तीन शरीरों के तथा आहार, शरीर, इन्द्रिय, प्राणापान, भाषा और मन—इन छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल-परमाणुओं के ग्रहण करने का नाम आहार है । इस प्रकार के आहार को ग्रहण करने वाला जीव आहारक कहलाता है ।

६४. अनाहारक—जो जीव उक्त प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करता है वह अनाहारक कहलाता है ।

६५. प्रतिक्रमण—किये गये अपराध के प्रति मेरा दोष मिथ्या हो, गुरु से ऐसा निवेदन करके पुनः वैसे दोषों से बचते रहना प्रतिक्रमण कहलाता है । यह प्रायश्चित नामक आभ्यन्तर तप का एक भेद है ।

६६. ईश्वरवाद—नैयायिक-वैशेषिक मानते हैं कि ईश्वर इस जगत् का कर्ता है । वह सब कार्यों की उत्पत्ति में निमित्त कारण होता है । तनु, करण, भुवन आदि सब पदार्थ उसी के द्वारा उत्पन्न होते हैं । ईश्वर अनादिमुक्त, सर्वज्ञ, एक और व्यापक है । इसी का नाम ईश्वरवाद है ।

६७. प्रकृतिकर्तृत्ववाद—सांख्य मानते हैं कि प्रकृति कर्त्री है और पुरुष भोक्ता है । प्रकृति पुरुष के लिए ही सब काम करती है । प्रकृति से ज्ञान, अहंकार, ११ इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ तथा आकाशादि पाँच भूत—इस प्रकार कुल २३ पदार्थ उत्पन्न होते हैं । यही प्रकृतिकर्तृत्ववाद है ।

६८. सेश्वरसांख्य—सामान्यरूप से सांख्य ईश्वर को नहीं मानते हैं । किन्तु कुछ सांख्यमतानुयायी ईश्वर की सत्ता को मानते हैं । इसी मत को सेश्वरसांख्य कहते हैं । इसी का नाम योगदर्शन भी है ।

६९. वेदापौरुषेयवाद—मीमांसक मानते हैं कि वेदों का कोई रचयिता नहीं है । वेद अनादिकाल से इसी रूप में चले आये हैं । लौकिक शब्द और वैदिक शब्द भिन्न-भिन्न हैं । यही वेदापौरुषेयवाद है ।

७०. स्फोटवाद—भर्तृहरि आदि वैयाकरण स्फोटवादी हैं । वे मानते हैं कि शब्द अर्थ का वाचक नहीं होता है । किन्तु शब्दों के द्वारा स्फोट नामक एक तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है । स्फोट एक, नित्य तथा व्यापक है । ऐसा स्फोट पदार्थ का वाचक होता है । यही स्फोटवाद है ।

७१. पद स्फोट—जो स्फोट पद के अर्थ का बोध कराता है वह पद स्फोट कहलाता है ।

७२. वाक्य स्फोट—जो स्फोट वाक्य के अर्थ का बोध कराता है वह वाक्य स्फोट कहलाता है ।

७३. पद—परस्पर में सापेक्ष किन्तु अन्य वर्णों की अपेक्षा से रहित ऐसा वर्णों का जो समुदाय है उसको पद कहते हैं । जैसे घट एक पद है । पद और शब्द दोनों पर्यायवाची हैं ।

७४. वाक्य—परस्पर सापेक्ष पदों के निरपेक्ष समुदाय को वाक्य कहते हैं । जैसे महावीर अन्तिम तीर्थंकर हैं । यह एक वाक्य है ।

७५. अपोहवाद—अपोहवाद बौद्धदर्शन का एक सिद्धान्त है । बौद्धों की मान्यता है कि शब्द अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं । वे तो अन्य पदार्थों का अपोह (निषेध) करते हैं । गौ शब्द गाय को न कहकर गाय में अगौ (गौ से भिन्न सब वस्तुओं) का निषेध करता है । यही अपोहवाद या अन्यापोहवाद है ।

७६. क्षणभंगवाद—यह बौद्धदर्शन का विशिष्ट सिद्धान्त है । इसके अनुसार कोई भी वस्तु एक क्षण ही ठहरती है और दूसरे क्षण में उसका भंग (नाश) हो जाता है । प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक क्षण में स्वाभाविक नाश होता रहता है । यही क्षणभंगवाद है ।

७७. समवाय—समवाय एक सम्बन्ध है । अयुतसिद्ध (अपृथक्भूत)

पदार्थों में जो सम्बन्ध होता है उसका नाम समवाय है । जैसे गुण और गुणी अथवा ज्ञान और आत्मा के सम्बन्ध का नाम समवाय कहलाता है । वैशेषिकों ने समवाय को एक पदार्थ माना है ।

७८. **समवायी कारण**—समवाय सम्बन्ध से जिसमें कार्य की उत्पत्ति होती है वह समवायी कारण कहलाता है । जैसे तन्तु वस्त्र का समवायी कारण है, मिट्टी घट का समवायी कारण है । समवायी कारण को उपादान कारण कह सकते हैं ।

७९. **असमवायी कारण**—कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए जो कारण होता है वह असमवायी कारण कहलाता है । जैसे तन्तुसंयोग वस्त्र का असमवायी कारण है और तन्तुरूप पटरूप का असमवायी कारण है ।

८०. **निमित्त कारण**—समवायी और असमवायी कारण से भिन्न कारण को निमित्त कारण कहते हैं । जैसे घट की उत्पत्ति में कुंभकार, दण्ड, चक्र आदि निमित्त कारण होते हैं ।

८१. **प्रागभाव**—कार्य की उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य के अभाव को प्रागभाव कहते हैं । जैसे घट की उत्पत्ति के पहले मिट्टी में घट का जो अभाव रहता है वही प्रागभाव है । प्रागभाव अनादि और सान्त होता है ।

८२. **प्रध्वंसाभाव**—किसी वस्तु का नाश हो जाने पर उसके अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं । घट के फूट जाने पर घट का प्रध्वंसाभाव हो जाता है । प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त है ।

८३. **अन्योन्याभाव**—सजातीय पदार्थों में जो पारस्परिक भेद पाया जाता है उसका नाम अन्योन्याभाव है । जैसे घट और पट में अन्योन्याभाव रहता है । घट पटरूप नहीं है और पट घटरूप नहीं है । यही उन दोनों में अन्योन्याभाव है ।

८४. **अत्यन्ताभाव**—जिन पदार्थों का स्वरूप सदा ही पृथक्-पृथक् रहता है उनमें अत्यन्ताभाव होता है । जैसे चेतन और अचेतन पदार्थों में अत्यन्ताभाव पाया जाता है । चेतन कभी अचेतनरूप नहीं होता और अचेतन कभी चेतनरूप नहीं होता । यही अत्यन्ताभाव है ।

८५. **संशय**—यह 'स्थाणु है या पुरुष है' ऐसा जो चलितप्रतिपत्तिरूप ज्ञान

होता है वह संशय कहलाता है । यहाँ संशय का कारण है—स्थाणु और पुरुष में समान धर्म की उपलब्धि और असमान धर्म की अनुपलब्धि ।

८६. **विपर्यय**—शुक्तिका में जो रजत का ज्ञान होता है वह विपर्यय ज्ञान कहलाता है । यहाँ शुक्तिका और रजत मे सादृश्य के कारण विपर्यय ज्ञान हो जाता है ।

८७. **अनध्यवसाय**—अध्यवमाय निश्चय को कहते हैं और अनिश्चय का नाम अनध्यवसाय है । मार्ग में जाते हुए पुरुष को तृण का स्पर्श होने पर 'यह क्या है' ऐसा जो अनिश्चयात्मक ज्ञान होता है वह अनध्यवसाय कहलाता है ।

८८. **अनेकान्त**—अनेकान्त शब्द 'अनेक' और 'अन्त' इन दो शब्दों के मेल से बना है । एक से अधिक को अनेक कहते हैं और 'अन्त' का अर्थ है धर्म । प्रत्येक वस्तु में नित्यत्व-अनित्यत्व, सत्त्व-असत्त्व आदि अनेक धर्मयुगल पाये जाते हैं । इसी का नाम अनेकान्त है ।

८९. **स्याद्वाद**—अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादन करने की शैली का नाम स्याद्वाद है । स्याद्वाद के बिना अनेक धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन संभव नहीं है । अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है । 'स्यात्' का अर्थ है कथंचित् और 'वाद' का अर्थ है कथन ।

९०. **वीतरागकथा**—राग-द्वेषरहित गुरु-शिष्यों में अथवा विशिष्ट विद्वानों में तत्त्वनिर्णय के लिए जो चर्चा होती है वह वीतराग कथा कहलाती है ।

९१. **विजिगीषुकथा**—वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष की सिद्धि के लिए जय-पराजय पर्यन्त जो वचन-व्यापार होता है वह विजिगीषुकथा कहलाती है । इसे वाद भी कहते हैं ।

९२. **चतुरंगवाद**—वाद के चार अंग होते हैं—वादी, प्रतिवादी, प्राश्निक और सभापति । इसलिए इसे चतुरंगवाद कहते हैं ।

९३. **वाद**—प्रमाण और तर्क से जहाँ स्वपक्ष का साधन और परपक्ष में दूषण दिया जाता है, जो सिद्धान्त से अविरोधी होता है और जो पाँच अवयवों सहित होता है, ऐसे पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वीकार करना वाद कहलाता है ।

९४. **जल्प**—जल्प का लक्षण वाद के लक्षण के समान ही है । जल्प में

इतनी विशेषता है कि यहाँ प्रमाण और तर्क के अतिरिक्त छल, जाति और निग्रहस्थान के द्वारा भी पक्ष की सिद्धि की जाती है और प्रतिपक्ष में दूषण दिया जाता है ।

९५. **वितण्डा**—वितण्डा में प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं की जाती है, अपितु वादी ने जो अपना पक्ष प्रस्तुत किया है, प्रतिवादी केवल उसी का खण्डन करता है । वह वादी के पक्ष के विरुद्ध प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं करता है ।

९६. **छल**—अर्थ में विकल्प उत्पन्न करके किसी के वचनों का व्याघात करना छल कहलाता है । जैसे किसी ने कहा—'नवकम्बलोऽयम्' । ऐसा कहने वाले का तात्पर्य यह है कि इसके पास नूतन कम्बल है । लेकिन सुनने वाला दूसरा व्यक्ति छल द्वारा कहता है कि इसके पास नौ कम्बल कैसे हो सकते हैं । यही छल है ।

९७. **जाति**—साधर्म्य दिखलाकर किसी वस्तु की सिद्धि करने पर उसी साधर्म्य द्वारा उसका निषेध करना अथवा वैधर्म्य द्वारा किसी वस्तु की सिद्धि करने पर उसी वैधर्म्य द्वारा उसका निषेध करना जाति कहलाती है । यथार्थ में असत् उत्तर का नाम जाति है ।

९८. **निग्रहस्थान**—जिसके द्वारा किसी की पराजय हो उसे निग्रहस्थान कहते हैं । यह दो प्रकार से होता है—किसी विषय में विप्रतिपत्ति (विवाद) होने से और किसी विषय की अप्रतिपत्ति (ज्ञान का अभाव) होने से ।

९९. **नय**—जिसने प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं किया है और जो वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है ऐसे ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं ।

१००. **नयाभास**—जो किसी एक धर्म का ही अस्तित्व स्वीकार करता है और शेष समस्त धर्मों का निराकरण करता है वह नयाभास है ।

१०१. **अर्थनय**—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—ये चार नय अर्थप्रधान होने के कारण अर्थनय कहलाते हैं ।

१०२. **शब्दनय**—शब्द, समभिरूढ और एवंभूत—ये तीन नय शब्दप्रधान होने के कारण शब्दनय कहलाते हैं ।

१०३. **द्रव्यार्थिक नय**—नैगम, संग्रह और व्यवहार—ये तीन नय द्रव्य को विषय करने के कारण द्रव्यार्थिक नय कहलाते हैं ।

१०४. पर्यायार्थिक नय—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत—ये चार नय पर्याय को विषय करने के कारण पर्यायार्थिक नय कहलाते हैं ।

१०५. नैगमनय—जो नय अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करता है वह नैगमनय है । कोई पुरुष कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी काटने के लिए जंगल को जा रहा है । किसी ने उससे पूछा कि कहाँ जा रहे हो ? तब वह कहता है कि प्रस्थ लेने जा रहा हूँ । ऐसा कथन नैगमनय की दृष्टि से ठीक है । यह नय विवक्षानुसार गुण-गुणी आदि में भेद और अभेद—इन दोनों को ही विषय करता है ।

१०६. नैगमनयाभास—गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है ।

१०७. संग्रहनय—अपनी जाति के समस्त पदार्थों को सत्रूप से अथवा द्रव्यादिरूप से ग्रहण करने वाले नय को संग्रहनय कहते हैं ।

१०८. संग्रहनयाभास—केवल ब्रह्मरूप ही तत्त्व है । इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । इस प्रकार सम्पूर्ण विशेषों का निराकरण करके केवल सत्तासामान्य को ही सत्य मानना संग्रहनयाभास है ।

१०९. व्यवहारनय—संग्रहनय द्वारा गृहीत पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करने वाले नय को व्यवहारनय कहते हैं । जैसे जो सत् है वह द्रव्य और पर्यायरूप है, इत्यादि प्रकार से भेद करना व्यवहारनय है ।

११०. व्यवहारनयाभास—द्रव्य-पर्याय आदि के भेदव्यवहार को काल्पनिक मानना व्यवहारनयाभास है ।

१११. ऋजुसूत्रनय—जो नय केवल वर्तमान क्षणवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्रनय है ।

११२. ऋजुसूत्रनयाभास—बौद्धों के द्वारा माना गया सर्वथा क्षणभंगवाद ऋजुसूत्रनयाभास है ।

११३. शब्दनय—काल, कारक, लिंग आदि के भेद से अर्थभेद का कथन करना शब्दनय है । यह नय एक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों का लिंगादि के भेद से भिन्न भिन्न अर्थ करता है ।

११४. शब्दनयाभास—लिंगादि का भेद होने पर भी उन शब्दों में अर्थभेद नहीं मानना शब्दनयाभास है ।

११५. समभिरूढनय—जो नय पर्याय के भेद से एक ही पदार्थ में नानात्व को बतलाता है वह समभिरूढनय है । यह नय इन्द्र, शक्र और पुरन्दर—इन तीनों शब्दों का अर्थ पर्याय के भेद से भिन्न-भिन्न मानता है ।

११६. समभिरूढनयाभास—शब्दों में पर्यायभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना समभिरूढनयाभास है ।

११७. एवंभूतनय—जो नय क्रिया के आश्रय से अर्थ में भेद का निरूपण करता है वह एवंभूतनय है । इस नय की दृष्टि से राम को अध्यापन करते समय अध्यापक और पूजा करते समय पुजारी कहना चाहिए ।

११८. एवंभूतनयाभास—किसी क्रिया के काल में उस शब्द का प्रयोग न करना अथवा अन्य क्रिया के काल में उस शब्द का प्रयोग करना एवंभूतनयाभास है । जैसे किसी व्यक्ति को पूजन करते समय पुजारी न कहकर अध्यापक कहना अथवा अध्यापन करते समय उसे पुजारी कहना एवंभूतनयाभास है ।

११९. सप्तभंगी—प्रश्न के वश से एक वस्तु में अविरोधपूर्वक विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। सप्तभंगी में सात भंग होते हैं और उनका प्रयोग सकलादेश और विकलादेश इन दो दृष्टियों से किया जाता है।

१२०. प्रमाणसप्तभंगी—सकलादेश एक धर्म के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करता है । सकलादेश को प्रमाण कहते हैं । 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीवका अखण्डरूप से बोध कराता है । अत: यह प्रमाणसप्तभंगी है ।

१२१. नयसप्तभंगी—विकलादेश एक धर्म को प्रधान तथा शेष धर्मों को गौण करके वस्तु का ग्रहण करता है । विकलादेश को नय कहते हैं । 'स्यादस्त्येव जीव: ' इस वाक्य में जीव के अस्तित्व धर्म का मुख्यरूप से कथन किया गया है । अत: यह नयसप्तभंगी है ।

१२२. पत्र—पत्र ऐसे वाक्य को कहते हैं जिसमें अनुमान के पाँचों अवयव पाये जावें, जो अपने इष्ट अर्थ का साधक हो, जो निर्दोष गूढ रहस्यों से भरा हो तथा अबाधित हो । ऐसे पत्र का प्रयोग लिखित शास्त्रार्थ में किया जाता है ।

●

परीक्षामुखसूत्रपाठ

प्रथम परिच्छेद

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥ २ ॥ तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ॥ ३ ॥ अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥ ४ ॥ दृष्टोऽपि समारोपात् तादृक् ॥ ५ ॥ स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥ ६ ॥ अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥ ७ ॥ घटमहमात्मना वेद्मि ॥ ८ ॥ कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥ शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥ १० ॥ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥ ११ ॥ प्रदीपवत् ॥ १२ ॥ तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥ १३ ॥

द्वितीय परिच्छेद

तद्द्वेधा ॥ १ ॥ प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥ २ ॥ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥ ४ ॥ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥ ५ ॥ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत् ॥ ६ ॥ तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवत् नक्तंचरज्ञानवच्च ॥ ७ ॥ अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥ ८ ॥ स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥ ९ ॥ कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥ १० ॥ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥ ११ ॥ सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ॥ १२ ॥

तृतीय परिच्छेद

परोक्षमितरत् ॥ १ ॥ प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥ २ ॥ संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥ ३ ॥ यथा स देवदत्त इति ॥ ४ ॥ दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥ ५ ॥ यथा स एवायं देवदत्तः ॥ ६ ॥

गोसदृशो गवयः ॥ ७ ॥ गोविलक्षणो महिषः ॥ ८ ॥ इदमस्माद् दूरम् ॥ ९ ॥ वृक्षोऽयमित्यादि ॥ १० ॥ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥ ११ ॥ इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवत्येवेति ॥ १२ ॥ यथाग्रावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥ १३ ॥ साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥ १४ ॥ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥ १५ ॥ सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥ १६ ॥ सहचारिणोः व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥ १७ ॥ पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥ १८ ॥ तर्कात् तन्निर्णयः ॥ १९ ॥ इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥ २० ॥ सन्दिग्धविपर्य-स्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥ २१ ॥ अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं माभूदितीष्टाबाधितवचनम् ॥ २२ ॥ न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥ २३ ॥ प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥ २४ ॥ साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥ २५ ॥ पक्ष इति यावत् ॥ २६ ॥ प्रसिद्धो धर्मी ॥ २७ ॥ विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ॥ २८ ॥ अस्ति सर्वज्ञः नास्ति खरविषाणमिति ॥ २९ ॥ प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशि-ष्टता ॥ ३० ॥ अग्रिमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ॥ ३१ ॥ व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥ ३२ ॥ अन्यथा तदघटनात् ॥ ३३ ॥ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥ ३४ ॥ साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ॥ ३५ ॥ को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो वा न पक्षयति ॥ ३६ ॥ एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहर-णम् ॥ ३७ ॥ न हि तत् साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ॥ ३८ ॥ तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ॥ ३९ ॥ व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिः तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥ ४० ॥ नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव व्याप्तिस्मृतेः ॥ ४१ ॥ तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ॥ ४२ ॥ कुतोऽन्यथोपनय-निगमने ॥ ४३ ॥ न च ते तदङ्गे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ॥ ४४ ॥ समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु साध्ये तदुपयोगात् ॥ ४५ ॥ बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥ ४६ ॥ दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥ ४७ ॥ साध्यव्याप्तं साधन यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय-दृष्टान्तः ॥ ४८ ॥ साध्याभावे साधनव्यतिरेको यत्र कथ्यते स व्यतिरेक-दृष्टान्तः ॥ ४९ ॥ हेतोरुपसंहार

उपनय: ॥ ५० ॥ प्रतिज्ञायास्तु निगम-नम् ॥ ५१ ॥ तदनुमानं द्वेधा ॥ ५२ ॥ स्वार्थपरार्थभेदात् ॥ ५३ ॥ स्वार्थ-मुक्तलक्षणम् ॥ ५४ ॥ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ॥ ५५ ॥ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥ ५६ ॥ स हेतुर्द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥ ५७ ॥ उपलब्धि-र्विधिप्रतिषेध-योरनुपलब्धिश्च ॥ ५८ ॥ अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकार-णपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥ ५९ ॥ रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमान-मिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित् कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरा-वैकल्ये ॥ ६० ॥ न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धे: ॥ ६१ ॥ भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ॥ ६२ ॥ तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ॥ ६३ ॥ सह-चारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात् सहोत्पादाच्च ॥ ६४ ॥ परिणामी शब्द: कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्ट: यथा घट:, कृतकश्चायं तस्मात् परिणामी । यस्तु न परिणामी स न कृतक: यथा वन्ध्यास्तनन्धय:, कृतकश्चायं, तस्मात् परिणामीति ॥ ६५ ॥ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादे: ॥ ६६ ॥ अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥ ६७ ॥ उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥ ६८ ॥ उदगाद् भरणि: प्राक् तत एव ॥ ६९ ॥ अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ॥ ७० ॥ विरुद्धतदुपलब्धि: प्रतिषेधे तथेति ॥ ७१ ॥ नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥ ७२ ॥ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥ ७३ ॥ नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ॥ ७४ ॥ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ॥ ७५ ॥ नोदगाद् भरणिर्मुहूर्तात् पूर्वं पुष्योदयात् ॥ ७६ ॥ नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ॥ ७७ ॥ अविरुद्धानुपलब्धि: प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तर-सहचरानुपलम्भभेदादिति ॥ ७८ ॥ नास्त्यत्र भूतले घट उपलब्धिलक्षण-प्राप्तस्यानुपलब्धे: ॥ ७९ ॥ नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धे: ॥ ८० ॥ नास्त्यत्रा-प्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धे: ॥ ८१ ॥ नास्त्यत्र धूमोऽनग्ने: ॥ ८२ ॥ न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धे: ॥ ८३ ॥ नोदगाद्-भरणिर्मुहूर्तात् प्राक् तत एव ॥ ८४ ॥ नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुप-लब्धे: ॥ ८५ ॥ विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुप-लब्धिभेदात् ॥ ८६ ॥ अस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामय-चेष्टानुपलब्धे: ॥ ८७ ॥ अस्त्यत्र देहिनि दु:खमिष्टसंयोगाभावात् ॥ ८८ ॥ अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तानुपलब्धे: ॥ ८९ ॥ परम्परया संभवत्साधन-

मत्रैवान्तर्भावनीयम् ॥ ९० ॥ अभूदत्र चक्रे शिवक: स्थासात् ॥ ९१ ॥ कार्य-कार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥ ९२ ॥ नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिसं-शब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा ॥ ९३ ॥ व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्यैव वा ॥ ९४ ॥ अग्निमानयं देशस्तथा धूमवत्त्वोप-पत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ॥ ९५ ॥ हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते इति ॥ ९६ ॥ तावता च साध्य-सिद्धि: ॥ ९७ ॥ तेन पक्षस्तदाधारसूचनाय उक्त: ॥ ९८ ॥ आप्तवचनादि-निबन्धमर्थज्ञानमागम: ॥ ९९ ॥ सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादय: वस्तु-प्रतिपत्तिहेतव: ॥ १०० ॥ यथा मेर्वादय: सन्ति ॥ १०१ ॥

चतुर्थ परिच्छेद

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय: ॥ १ ॥ अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोच-रत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥ २ ॥ सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ३ ॥ सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥ ४ ॥ परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥ ५ ॥ विशेषश्च ॥ ६ ॥ पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥ ७ ॥ एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन: परिणामा: पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥ ८ ॥ अर्थान्तरगतो विस-दृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥ ९ ॥

पञ्चम परिच्छेद

अज्ञाननिवृत्ति: हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥ १ ॥ प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥ २ ॥ य: प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीते: ॥ ३ ॥

षष्ठ परिच्छेद

ततोऽन्यत्तदाभासम् ॥ १ ॥ अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादय: प्रमाणाभासा: ॥ २ ॥ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ॥ ३ ॥ पुरुषान्तर-पूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ॥ ४ ॥ चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्त-समवायवच्च ॥ ५ ॥ अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद् धूम-दर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ॥ ६ ॥ वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥ ७ ॥ अतस्मिंस्तदितिज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो

यथा ॥ ८ ॥ सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्य-भिज्ञानाभासम् ॥ ९ ॥ असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासं यावाँस्तत्पुत्रः स श्यामो यथा ॥ १० ॥ इदमनुमानाभासम् ॥ ११ ॥ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ॥ १२ ॥ अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः ॥ १३ ॥ सिद्धः श्रावणः शब्द इति ॥ १४ ॥ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥ १५ ॥ तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥ १६ ॥ अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद्घट-वत् ॥ १७ ॥ प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ॥ १८ ॥ शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत् ॥ १९ ॥ माता मे वन्ध्या पुरुष-संयोगऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत् ॥ २० ॥ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धा-नैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥ २१ ॥ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥ २२ ॥ अवि-द्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥ २३ ॥ स्वरूपेणासिद्ध-त्वात् ॥ २४ ॥ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ॥ २५ ॥ तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ॥ २६ ॥ सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २७ ॥ तेनाज्ञातत्वात् ॥ २८ ॥ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २९ ॥ विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैका-न्तिकः ॥ ३० ॥ निश्चितविपक्षवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ॥ ३१ ॥ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ॥ ३२ ॥ शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ॥ ३३ ॥ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ॥ ३४ ॥ सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥ ३५ ॥ सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ॥ ३६ ॥ किञ्चिदकरणात् ॥ ३७ ॥ यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुम-शक्यत्वात् ॥ ३८ ॥ लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ॥ ३९ ॥ दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ॥ ४० ॥ अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ॥ ४१ ॥ विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ॥ ४२ ॥ विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ॥ ४३ ॥ व्यति-रेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ॥ ४४ ॥ विपरीत-व्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम् ॥ ४५ ॥ बालप्रयोगाभासाः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ॥ ४६ ॥ अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ॥ ४७ ॥ धूमवांश्चायमिति वा ॥ ४८ ॥ तस्मादग्निमान् धूम-वांश्चायमिति ॥ ४९ ॥ स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ॥ ५० ॥ रागद्वेषमोहा-क्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ॥ ५१ ॥ यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः

सन्ति धावध्वं माणवकाः ॥५२॥ अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति च ॥५३॥ विसंवादात् ॥५४॥ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ॥५५॥ लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ॥५६॥ सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् ॥५७॥ अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ॥५८॥ तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ॥५९॥ प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ॥६०॥ विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥६१॥ तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ॥६२॥ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥६३॥ परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदघटनात् ॥६४॥ स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात् पूर्ववत् ॥६५॥ फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ॥६६॥ अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ॥६७॥ व्यावृत्त्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसंगात् ॥६८॥ प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ॥६९॥ तस्माद् वास्तवो भेदः ॥७०॥ भेदे त्वात्मान्तरवत् तदनुपपत्तेः ॥७१॥ समवायेऽतिप्रसङ्गः ॥७२॥ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ॥७३॥ सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ॥७४॥

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद् व्यधाम् ॥